

महाकवि मतिराम

और

मध्यकालीन हिन्दी कविता

में

अलंकरण-वृत्ति

• ★

डा. विभूषण सिंह

एम० ए० ए-एच० डी०

★



हिन्दी प्रचारक मुस्तक़लिय

प्रकाशक

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

मानमन्दिर

बाराबंसी १



मूल्य १०००

प्रथम संस्करण, दीपावली सं० २०१०



मुद्रक

वासुदेव शास्त्री

व्योमिष प्रकाश ट्रेड

काशीबाग मार्ग, बाराबंसी १

समर्पण

पूज्य पिता

श्री द्य • राजाराम सिंह जी

के

परमों में सादर

—विशुवन सिंह

प्रस्तुत समीक्षाग्रन्थ 'महाकवि सतिराम और मध्यकापीन हिन्दी कविता में अङ्ककाल कृति' प्रकाशित करत हुए मुझे प्रसन्नता और गौरव का अनुभव हो रहा है। डॉ० प्रियुवन सिंह हिन्दी साहित्य के अल्प प्रतिष्ठ पण प्रकाशित समासाचक हैं जिसकी सहाय समीक्षापैकी से हिन्दी जगत पूर्ण परिचित हो चुका है। 'हिन्दी उपन्यास और पद्यार्थवाद', 'आधुनिक हिन्दी कविता की रचनात्मकता और दूरवारी संस्कृति और हिन्दी मुद्रक' डॉ० सिंह की समीक्षा पर किसी ऐसी पुरतकें हैं जो पाठकों के बीच आपत्त कोकमिय रही हैं। डॉ० प्रियुवन सिंह की यह कृति शोध के आधार पर किसी ऐसी रचना है जो समीक्षा का नवीन मार्ग इंगित करती है। महाकवि सतिराम के जीवन और काव्य के स्वापक बिबेचन की बड़ी आवश्यकता थी जिस प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा सम्पन्न कर डेलक ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।

छेनक की अन्य कृतियों की जो समाप्ति सङ्ग्रह पाठकों में दिया है, उत्तर प्रदेशीय सरकार ने उन्हें जिस प्रकार पुरस्कृत कर गौरवान्वित किया है तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों ने उच्च कक्षाओं में जो सहायक ग्रन्थ के रूप में उन्हें स्वीकार कर छेनक की नवीन समीक्षामक पैकी के प्रति अपनी भावना व्यक्त की है, उससे हमें पूर्ण आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का भी हमारे पाठक सहायोग्य स्वागत करेंगे। छेनक और अपनी ओर से हम सबके प्रति आभार व्यक्तित करत हैं।

—प्रकाशक

लेखक की कृतियाँ

१. रोदन (काव्य)
 २. मये स्वर (काव्य)
 ३. हिन्दी उपन्यास और समालोचना (समीक्षा)
 ४. व्यावहारिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा (समीक्षा)
 ५. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुद्रक (समीक्षा)
 ६. ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की भाषाकथा (समीक्षा)
 ७. महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकार कृति (समीक्षा)
-

ज्यों-ज्यों निहारिष नेरे रे भैरवि
स्यो-स्यो सरी निछरे-सी निछरै ।

—मतिराम

दो शब्द

बहुत दिन हुए किसी पुस्तक में एक विषयात् विदेशी शब्द का एक वाक्य पढ़ा था, 'इन ब्रेक्लेस पर-स्वापर ईष, नो छिटरेनर केन सरपास संख्य छिटरेनर।' वाक्य की समझावही ठीक यही थी, यह भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता, परन्तु जिस वाक्यांश के कारण यह बात स्मृति में रहने लगी थी वही थी और जिसका टीका-टीका समर्थ है वह है 'ब्रेक्लेस पर-स्वापर ईष'। यह वाक्य संस्कृत साहित्य की प्रशंसा में भी लिखा जा सकता है, परन्तु मैंने इसे जिस अर्थ में समझा था वह प्रशंसा की अपेक्षा भोग विद्रूप ही अधिक था। इस भोग का एक प्रति वर्गईव के नाप-खोख में है। उत्तराखण्डन संस्कृत धर्म में अष्टाक्षर और चमत्कार की जो वाद-ही आ गई थी, विदेशी व्याख्यान ने उसी पर वह भोग किया था। परन्तु यह भोग जादे जिसना कट्ट हो, उसमें उत्पन्न का अर्थ विस्तृत नहीं है, ऐसी बात नहीं। कामन्दक के समय से संस्कृत धर्म में अष्टाक्षर और चमत्कार की जो एक वाद-ही आई, वह नैमिषकार के महाकाव्य में अपने चरम पर पहुँच गई थी और आगे बढ़कर यद्यपि मल्लि आन्दोलन के कारण उत्पन्न वेग कुछ कम अवश्य हुआ परन्तु मन्दन विस्व और चमत्कार की प्रशंसा हिन्दी साहित्य के रीतिवाक्य तक पूर्वता बनी रही। रीति वाक्य में जो चमत्कार प्रदर्शन की एक होड़-ही खो दिसाई बढ़ती है जिसमें पारसी साहित्य की वक्रता ने कुछ अपनी रंगत भी डाल दी है।

अष्टाक्षर और चमत्कार की इस होड़ारी में हमारी दृष्टि अचानक एक ऐसे कवि पर गिरा ठहर जाती है जिसकी आकृति और चमत्कार ने स्वामयिकता का पड़ा घावर ही नहीं छोड़ा है। उदाहरण के लिये—

दुनय पयिक दुँह माह-निति लुने पछति उहि गाम ।

बिनु कूने बिनु ही कई बिपति बिपारी नाम ॥

अपना—

चिरक कृप रतरी अपक तिम सुपरम दग दैत ।

बाटी दैत सिगार की मीचत मनमथ ऐठ ॥

आदि रचनाओं के बीच उक्त कवि की गरम ठहरि—

कोऊ नहीं बरै मतिगाम रही तिठही बितही मन मापा;

काहे को लेई हारार करो, तुम तो कहई अनपम न दाये ।

1 'In cleverness per-square inch, no literature can surpass sanskrita literature' यह वर्गईव के चमत्कार में दूसरा कोई भी साहित्य संस्कृत साहित्य से आगे नहीं बढ़ सकता ।

सोचन दीवै न बीवै हमैं जुल यो ही कहा रसना बढ़ायो;
मान खोई नहीं मनमोहन, माननी होय सो मानै मनायो ।
केसि के राते अघाने नहीं दिनही में कम पुनि पात ख्याई;
प्यास खी कोठ पानी दे जाइयो, भीतर बैठि के बात सुनाई ।
छेटी पठाई गईं जुसही, हंसि बैरि हरै मतिराम दुखारै;
कान्ह के बोल पै फान न ईन्हि, सुगोह की येहरी पै परि भारै ॥

ऐसी जान पड़ती है जैसे छाँक और तमस मरी कोठरी छोड़ हम किसी सुन्दर स्थान कुछ में आ गये हैं। मतिराम रीतिकाळ के ऐसे ही विविध महाकवि थे, जिनकी कविता में प्रभावकास्मिन वायु फैली जागरी है और जो अनजाने ही मन में आनन्द की हिलारें उठा देती हैं। प्रचुरी प्रभाव की बकता से विमुक्त इनकी रचना में जो अभिजात सौन्दर्य और सहज सरलता है, वह किस सहृदय को मुग्ध न कर लेगी।

परन्तु इस महाकवि की और हमारे स्वनामधन्य आधुनिकों की दृष्टि बहुत ही कम गई। मिश्रबन्धु इस कवि की निसर्ग-सिद्ध रचना से आकृष्ट अवश्य हुए परन्तु इतने कि महाकवि देव ने उन्हें इतना विमुग्ध और अभिमुग्ध कर दिया था कि मतिराम का बाबू उन पर अधिक नहीं बढ़ सका, फिर मतिराम के माई भूपन की बीर रस की रचनाओं से भी वे कम अभिभूत नहीं थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मतिराम को वे नवरत्नों में ऊँचा स्थान न दे सके। 'हिन्दी नवरत्न' के द्वितीय संस्करण में जब कबीर (जिन्हें प्रथम संस्करण में नवरत्नों में स्थान नहीं मिला था) को भी नवरत्नों में स्थान देना अनिवार्य-सा जान पड़ा तब प्रथम संस्करण के नवरत्नों में फिरे पड़च्युत किया जाय, यह एक समझा बन गई। सम्भवतः मिश्रबन्धुओं ने मतिराम को ही इस गौरवपूर्ण स्थान से हटाने की बात सोची थी कि अचानक उन्हें एक अनासक्त बात पता गई—क्यों न मिश्रबन्धुओं की मौखिक भूपन और मतिराम को भी जिपाटो-बन्धु के रूप में एक कर दिया जाय—और उन्होंने भूपन और मतिराम को एक कर भी दिया। इस प्रकार मतिराम नवरत्नों के बीच अपनी पगड़ी सज्जमत रख सकने में समर्थ हो गए परन्तु उनका व्यक्तित्व और भी छिप गया।

मतिराम के व्यक्तित्व की ओर ध्यान करने में देव और बिहारी का विवाद भी कुछ कम सहायक नहीं हुआ। मिश्रबन्धुओं ने आ देव की धार और तुलसी से भी ऊँचा स्थान दे दिया, हिन्दी साहित्य में उसकी भौषण प्रतिबिम्बिता हुई। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी को शूद्रार का सर्वश्रेष्ठ कवि प्रस्तावित किया और छासा मगवानगीन ने कश्मीर को हिन्दी के श्रेष्ठ कवि के रूप में आग दिया। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में मिश्रबन्धुओं का प्रतिवाद करने के लिए ही बिहारी की अतिरिक्त प्रशंसा कर देव का नाम मिरान का प्रस्ताव किया। देव और बिहारी के इस हागड़ में मतिराम पर हमलों की दृष्टि ही नहीं गई। एक बात और भी है। ब्रह्मना और ब्रह्मसिंह की पञ्चार्थाप के अन्वय पारंगी मतिराम के सरस और सहज काव्य का सौन्दर्य परगने में अन्वय रहे। वह हिन्दी का कुछ कम दुर्भाग्य नहीं था कि बहुत दिनों तक उसका बहुत से छात्र, शुद्धी में ही लिखे रहे।

मतिराम की ओर सबसे पहले दृष्टि पड़ी स्वर्गीय प० कृष्णबिहारी मिश्र की। मिश्र की देव के प्रशंसक थे और 'देव और बिहारी' ग्रन्थ छिगकर उन्होंने बिहारी के ऊपर देव की भेदवा प्रभावित की थी। परन्तु इस सगुने में पड़कर भी उन्होंने मतिराम की उपेक्षा नहीं की और 'मतिराम ग्रन्थावली' का सम्पादन कर कवि की भूरि भूरि प्रशंसा की। परन्तु मतिराम की ओर फिर भी पाठकों और आलोचकों की रुचि नहीं पड़ी, कारण था युग का प्रभाव। साहित्य को समाज के अन्तर्गत निकट ज्ञान का आधार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, ऐतिहासिक कवियों के प्रति उपेक्षा भी, उसी माथा में बढ़ती गई, क्योंकि रोचकताहीन कविता में समाज का विश्वास था ही नहीं और यदि किसी समाज का प्रतिबिम्ब उसमें था भा था उस समाज के प्रति लोगों की रुचि ही नहीं रह गई थी। परन्तु जब स विराटिगायकों में द्वितीय शोषणार्थ की प्रगति हुई, अल्पताओं की दृष्टि एक बार फिर ऐतिहासिक और उसके उपरान्त कवियों पर पड़ी। देव, कछह, बनारस, दास, बिहारी और मतिराम पर साध प्रकाश डाले जाने लगे। प्रस्तुत प्रकाश भी उसी शृंगार की एक कड़ी है, जिसमें छैतरु डा० विभुवन सिंह ने मध्यमकीन समाज और संस्कृत के परिप्रेक्ष्य में मतिराम के काव्य का परागन का प्रकाश किया है। रखाकर बिपाटी के इस दृष्टिपूर्ण पुस्तक का काग्य अनुस्यू रखो से भरा है, उसके उद्घाटन करने का यह प्रकाश पाठकों का हृदयक ही होगा ऐसा मरा विराज है।

दुर्गाकुंड, बाराबंसी
अठप नवमी, सं० १०१७। }

श्रीकृष्ण दास

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्यकाळीन हिन्दी अर्द्धकृत कविता को दृष्टि में रखते हुए महाकवि मतिराम के जीवन और काव्य का विस्तृत एवं शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। मध्यकाळीन हिन्दी कविता को आधार मानकर हिन्दी में कुछ शोध ग्रन्थ और ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जैसे 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास', 'रीति काव्य की भूमिका', 'हिन्दी अर्द्धकार साहित्य', 'रीतिकाळीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन', आचार्य केसरदास, 'मध्यमाया साहित्य का नायिका भेद', 'रीतिसाहित्य तथा 'बिहारी आदि; जिनमें अधिकांश वेबल शास्त्रीय अध्ययन को आधार मानकर ही लिखे गए हैं। सम्पूर्ण मध्यकाळीन हिन्दी काव्य-परम्परा पर विचार बहुत कम ही हुआ है और इस दृष्टि से जो ग्रन्थ लिखे भी गए हैं, उनमें कवि विद्या को ही सामने रखकर विवेचना प्रस्तुत की गई है। मैंने सम्पूर्ण मध्यकाळीन अर्द्धकृत हिन्दी कविता को दृष्टि में रखते हुए मतिराम का विशेष रूप से इस ग्रन्थ में अध्ययन किया है। मध्यकाळीन हिन्दी के अर्द्धकृत काव्य परम्परा के अन्तर्गत मध्यम-कवियों, गीत और मुक्तकों में अर्द्धकव्य की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने तथा ठाकाळीन दूरवारी सम्प्रदाय के पहले बाठ प्रभावों को दिखाने के लिये आवश्यक समझ कर मध्यकाळीन संस्कृत साहित्य के महाकाव्य, मुक्तक, नाटक तथा आख्यायिका आदि साहित्य-रूपों के माध्यम से प्रकट होनेवाली अर्द्धकव्य की प्रवृत्ति का भी सम्यक् विवेचन इस ग्रन्थ में कर दिया गया है। इस प्रकार आरम्भ के दो अध्यायों से स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार संस्कृत की अर्द्धकृत कविताओं तथा काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव मध्यकाळीन हिन्दी कविता पर पड़ा है।

ग्रन्थ के शेष अध्यायों में मतिराम के जीवन तथा उनकी कविताओं के सम्बन्ध में विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उत्तर मध्यकाळीन हिन्दी कवियों में मतिराम का महत्वपूर्ण स्थान रहा है और उनकी तैसी समय एवं स्वाभाविक अर्द्धकृत कविता लिखने बाकों में वेब पछाकर पैस एक हो कवियों का ही नाम लिखा जा सकता है। स्वाभाविक काव्य प्रतिभा के साथ-साथ उन्हें आचार्यत्व का भी बरदान मिला था, किन्तु इतना सब होने हुए भी हिन्दी के संताकों की दृष्टि उनकी ओर बहुत कम गई है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक ग्यारी व तामी, जितसिंह सेंगर, जार्ज प्रियमर्न से लेकर रामचन्द्र गुड्ड तक ने मतिराम और उनकी कविताओं का उल्लेख अपने इतिहास में किया है, पर उन्हें छोड़कर हिन्दी में एक भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिस मतिराम के सम्बन्ध में उचित महत्वपूर्ण उल्लेख मारी जा सके। उनकी कविताओं में विविधताओं की ओर काग जाहू धरम्य रहे हैं जिससे समय-समय पर इनके 'मसिह ग्रंथ रमराज' और 'अविच्छिन्नकाम' पर टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें मद्रास साहि हूय 'रमराज जिकर', कवि हरिदत्त की हूय रमराज की

टीका 'मनोहर प्रकाश' तथा शुक्ल कृत 'छवितुलसी' की कविता की मुद्रा टीकाएँ प्रमुक्त हैं। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण और प्रथम सामीक्षात्मक कार्य १० कृष्णविहारी मिश्र ने ही किया, इसे स्वीकार करना होगा। 'मतिराम ग्रन्थावली' का सम्पादन करके जो उन्होंने एक विस्तृत सूचिका लिखी उससे मतिराम के जीवन-परिचय तथा सम्पूर्ण काव्य-सम्बन्धी विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश पड़ जाता है, जिसका अपना एक महत्व है। मतिराम के संबंध में जितनी ऐतिहासिक तथा काव्यगत सूचनाएँ १० कृष्णविहारी की मिश्र ने दी हैं, मुझे उससे अधिक कोई विचार सामग्री तो यहीं मिल सकती है, किन्तु उन्हें मैंने नए दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे उसमें यथोक्तता आ गई है।

जितनी भी पुस्तकें मतिराम के सम्बन्ध में मिलती हैं, उन्हें हेराने से लगता है कि कभी भी मतिराम का सम्पूर्ण अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से नहीं हो सका था। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के तरबावधान में जो प्राचीन हिन्दी पुस्तकों के शोध का कार्य होता है, उसके द्वारा बहुत सी ऐसी नवीन सामग्री उपलब्ध हो गई है जिसके प्रकाश में मतिराम के विस्तृत अध्ययन की निताम्न आवश्यकता थी। मैंने प्राचीन और नवीन सभी सामग्रियों को समुपलब्ध करते हुए तर्जमेगठ ब्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। मतिराम के जीवन तथा रचनाका काल के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिपूर्ण हिन्दी संसार में उत्पन्न हो गई थीं जिससे उनकी कविताओं का वास्तविक मूल्यांकन असम्भव कर दिया गया था। मैंने प्रबन्ध के मूल्य और चतुर्थ अध्याय में तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों का सामने लाकर उन भ्रान्तियों का केवल निराकरण ही नहीं किया है, बल्कि उनके जीवन तथा रचनाका काल के सम्बन्ध में तत्कालीन स्थिति देने का भी प्रयत्न किया है। ऐसा करने में अनुमान का सहाय अधिक अवश्य होता पड़ा है किन्तु मेरा अनुमान तथ्यों के आधार पर ही बना हुआ है।

इस ग्रन्थ में यदि मैं कुछ नवीनता का सफा हूँ तो उसका सर्वाधिक श्रेय अर्द्धशतक गुजर जा० श्रीकृष्ण काल को ही है। काव्यर साहब ने अपने अमूल्य निर्देशन द्वारा मेरे इस कार्य को आगे बढ़ाया ही, साथही उन्होंने इस ग्रन्थ को आधुनिक पद्धति पर परिष्कृत भी किया है जिसके बिना आमार प्रयत्न करना उनके महारथ को पटना ही है। महाकवि मतिराम पर कार्य करने की प्रेरणा मुझे गुजरर जा० हजारीप्रसाद जी त्रिवेदी से मिली थी और उन्होंने ही मुझे प्रस्तुत विषय सुझाया था। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये मुझे हज़ारे लोगों से उपहृत होना पड़ा है कि जिनका अवशिष्ट भाग एक स्वयं रचनम्ब विषय है। उन सभी लोगों के प्रति हृदय है जिन्होंने मुझे सहायता पहुँचाई है। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय के व्यवस्थापक थाई श्रीकृष्णचन्द्र जी बेरी के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिनकी तरफ़रदा के कारण ही प्रकाशित रूप में यह पुस्तक पाठकों के पास आ रही है। सर्व्व मेरे प्रति बेरीजी चम्पुबन् देम रसत १८ ई।

उन सभी शिक्षकों के प्रति आमार प्रकट करना मैं करना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी रचनाओं से प्राप्त-अप्राप्त रूप में मुझे सहायता मिली है।

पुस्तक का प्रकाशन करने कम समय में हुआ है कि जिससे कहीं-कहीं छापेगाने की अनुविधियाँ रह ही गयी हैं। मूल बनना भी एक कष्ट है, इसका अनुभव मुझे उस समय हुआ जब मरी ही असावधानी के कारण पुस्तक में कुछ ऐसी गलतियाँ छूट गयीं जिन्हें नहीं छुटना चाहिये था।

सहाय्य पाठकों से निवेदन है कि ये ऐसी त्रुटियों को सुधार लें। विद्वानों द्वारा प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में जो भी सुझाव मुझे मिलेंगे उसका कृतज्ञतापूर्वक उपयोग तो अगले संस्करण में मैं करूँगा ही साथ ही साथ सुझाव के रूप में की गयी उन्नती मंजूर होना के लिये धन्यवादी भी रहूँगा।

गानगढ़ापुर (आजमगढ़) }
दीपावली
सं० २०१७

त्रिभुवन सिंह
दि० १९-१०-६० ई०

अनुक्रम

विषय

पृष्ठ

प्रथम अध्याय : अष्टकृत काव्य के मूलतत्त्व और परिवेश

६-४८

चित्रकला में अष्टकरण की प्रवृत्ति ८, मूर्तिरूपा में अष्टकरण की प्रवृत्ति ९, संगीतकला में अष्टकरण की प्रवृत्ति १०, काव्यकला में अष्टकरण की प्रवृत्ति १०, अष्टकृत काव्य की विविध परम्परा ११, संस्कृत महाकाव्यों में अष्टकृत काव्य का विकास ११, संस्कृत मारकों में अष्टकरण की प्रवृत्ति १०, कथा भाष्यायिका में अष्टकार १४, मुक्तक काव्यों का उदय और अष्टकरम की प्रवृत्ति २८, काव्य शास्त्र में अष्टकर का स्थान ३४, रत्न सम्प्रदाय ३५, रीति सम्प्रदाय ३८, फलोक्ति सम्प्रदाय ३९, ध्वनि सम्प्रदाय ४१, औचित्य सम्प्रदाय ४१, अष्टकर सम्प्रदाय ४२, अष्टकार और इसका ऐतिहासिक जन विकास ४४, अष्टकर ४४, अष्टकारों का क्रम विकास ४७।

द्वितीय अध्याय : सम्प्रकाशान हिन्दी कविता में अष्टकरणप्रवृत्ति

४९-९९

मध्यकाव्य ४९, अष्टकृत काव्य की परम्परा ५०, हिन्दी मध्य काव्यों में अष्टकार ५३, गीत और मुक्तकों में अष्टकार ५३, प्रबंध मुक्तक ५३, रत्नमय मुक्तक ५७, दरबारी साहित्य का विकास और मुक्तक के सहारे अष्टकार योजना ७०, दरबारी साहित्य ७०, दरबारी शैली पर विद्वानों का मतान ७२, समय तथा ऐश्वर्य की प्रधानता ७३, विरासत तथा इन्द्रिय छन्दता ७३, कलाप्रियता ७४, अष्टकृत मुक्तक काव्य की परम्परा ७७, रीतिबद्ध मुक्तक काव्यों में अष्टकार ७७, वेदकाव्य ७८, चित्तमयि ७९, भूय ८०, देव ८१, दुर्गात मित्र, मुलदेव मित्र, भीमसि, मितालीदास तथा मेनी मनीन ८१, पद्माकर ८१, प्रतापसाहि ८४, रीति सिद्ध मुक्तक काव्यों में अष्टकार ८४, रहस्य कवि ८५, रत्न कवि ८६, मुबारक काली ८७, मनार्थ ८७, विहारी ८८, रत्नमय मेला गुमानवी विमलासो, रत्नमयि ८९ विजय शतसई ८९, राम लवली ८९, रीति मुक्त मुक्तक काव्यों में अष्टकरम की प्रवृत्ति ८९, गंगाधरक रीतिमुक्त काव्य ९०, आत्ममयी ९०, मेवाड ९०, पद्मानि ९१, बया ९६, टापुर ९२, और रत्न प्रकाश रीतिमुक्त काव्य ९३, पृथ्वीराज सिंह ९३, दुराता की ९२, श्रीराम ९३, मर्ममस ९३, मन्त्रकालीन हिन्दी साहित्य में काव्य शास्त्र ९३, काव्य ९४, मन्त्रकालीन मित्र ९४, मन्त्रकाल ९५, ब्रह्मद मित्र ९५, अमरुतमि पान्थाना ९५, ब्रह्मम ९५ ब्रह्मम ९५, विपटी बंधु (चित्तमयि, भूय)

नन्दलाल) १२, सदानन्द सिंह १५, लोचनसिंह १६, कुम्भपति मिश्र १६, मुख-
 नन्द १६, कविचन्द्र १६, देव १६, मुरारि मिश्र १६, भीषणि १६, मिसाटी-
 भा १६, लक्ष्मण १६, लुनाब १६, वृद्ध १६, बेनीप्रवीण १६, पद्माकर १६,
 पारमार्थिक १७, धेनु १७, लिरिबरा दास १७, कर्म शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्था-
 १ १७, १७, विष्णु कन्द दास का स्वल्प १७, नायक नायिका मेघ १८,
 अन्तराष्ट्र १८

द्वितीय अध्याय कर्म परीक्षा

१०८-१२३

विष्णु दास कस्तूर १०, परिषद १०४, कर्म तथा कविता
 का १०४ कस्तूर मठिगम के सम्बन्ध १११, मठिगम का माइनों से
 अन्तर १११, महाकवि मठिगम के आभयदाता १११।

१२४-१५८

१२४-१५८

कर्म १२४, कस्तूर १२४, कविचन्द्र १२५, मठिगम
 का १२५ अन्तराष्ट्र १२५, अन्तराष्ट्र १२५, साहित्य का
 १२५, अन्तराष्ट्र १२५, कर्म कौमुदी १२५।

तृतीय अध्याय अन्तराष्ट्र और नायिका मेघ

१५९-१६८

मठिगम

अन्तराष्ट्र १५९, कस्तूर १५९, परि-
 न १६८, नायक १८१, मेघ १८२, लक्ष्मण
 भाषा १८३, मृगा
 भाषा १८४, म
 परमर्षी भाषा
 १, साहित्य-
 १८ १८८
 भाषा

भाषा १६७, ना

१८१, -

मृगा

भाषा

राम

दास

१८८, १

रसदीन

कर भी

सप्तम अध्याय सतसई-परम्परा और मतिराम

२२६-२५७

मुखक काव्य २२६, सतसई का प्रिय छन्द दाहा २२८, सतसई परम्परा २२९, १५वर्षी साहिब का हिन्दी सतसईयों पर प्रभाव २३७, भाषा सतसई और बिहारी सतसई २३८, आर्या सतसई और बिहारी सतसई २४०, अमरघटक और बिहारी सतसई २४१, सिद्ध हेमचन्द्र और बिहारी सतसई २४१, पेशवदास और बिहारी सतसई २४१, गोवर्धनाचार्य और मतिराम २४२, तुलसीदास और मतिराम २४२, आचार्य पेशव और मतिराम २४३, रहीम, बिहारी और मतिराम २४३, बिहारी सतसई और रसनिधि २४३, मतिराम और रसनिधि २४४, बिहारी और राम सतसई २४४, मतिराम और राम सतसई २४५, रसनिधि और राम सतसई २४५, बिहारी और विक्रम सतसई २४५, मतिराम और विक्रम सतसई २४५, रसनिधि और विक्रम सतसई २४६, राम और विक्रम सतसई २४६, महाकवि मतिराम के समकालीन कवि रहीम और बिहारी २४७, रहीम और मतिराम २४८, मतिराम और बिहारी २४९, मतिराम सतसई की व्यापकता २५६ ।

अष्टम अध्याय सम्यकालीन हिन्दी साहित्य में मतिराम का स्थान २५८-२८४

सम्यकालीन हिन्दी कविता २५८, महाकवि मतिराम की काव्य प्रतिभा और उनका प्रेरणा स्रोत २६०, मतिराम की काव्य प्रतिभा २६१, स्वामाविषय २६३, शृंगार वर्णन २६५, प्रेम वर्णन में बिदेसी मेल २६७, प्रकृति वर्णन २६८, भाषा प्रयोग एवं काव्य की शक्त २६८, मतिराम की मौलिकता २७३ ।

उपसंहार	२८३
परिशिष्ट	२८५
सामानुक्रमिका	३३०
प्रस्तावना	३३४
सहायक ग्रन्थ-सूची	३३९
संस्कृत ग्रन्थ	३३९
हिन्दी ग्रन्थ	३४०
अंग्रेजी ग्रन्थ	३४२
चित्रिकाएँ	३४२

मतिराम) १५, वसवन्त सिंह १५, घोबनिधि १६, कुक्षपति मिश्र १६, सुल-
देव मिश्र १६, कालिदास १६, देव १६, सुरति मिश्र १६, श्रीपति १६, मिश्रा
दास १६, सोमनाथ १६, खुनाथ १६, बूछह १६, बेनीप्रवीन १६, पद्माकर १६,
प्रताप साहि १७, सेवक १७, गिरिधर दास १७, काम्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ
श्री सूरी १७, हिन्दी काव्य शास्त्र का स्वरूप १७, नायक नायिका-भेद १८,
अष्टाक्षर शास्त्र १८ ।

द्वितीय अध्याय धंश परिचय

१०६-१२३

विद्वानों द्वारा उल्लेख १०, परिचय १०४, कर्म तथा कर्मिता
कर्म १०७, महाकवि मतिराम के सहोदर १११, मतिराम सब माहमों से
अवस्था में बढ़े थे ११८, महाकवि मतिराम के आभयदाता १२१ ।

तृतीय अध्याय मतिराम के ग्रन्थ और उनके रचनाकाल

१२४-१५८

पूतमेवरी १२४, इतराव १२७, कर्मिष्ठकर्म १३५, मतिराम
सतसई १४४, अष्टाक्षर पंचाशिका १४५, छंदसार पिंगल १५३, साहित्य सार
१५५, कर्मण शृंगार १५५, वृष कौस्तुभ १५६ ।

चौथम अध्याय मतिराम और नायिका-भेद

१५९-१९८

मतिराम और उनके नायिका-भेद ग्रन्थ १६५, रसदास १६६, परि-
माषा १६७, नायिका-भेद वर्णन १६८, नायक १८१, दर्शन भेद १८२, उद्दीपन
१८३, अनुमाव १८३, सांख्यिक माव १८३, शृंगार १८३, हाव १८३, विवेक
शृंगार १८४, भेद वर्णन १८४, नव-दशा १८४, महाकवि मतिराम और हिन्दी
नायक-नायिका-भेद के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्य १८५, कृपायम और मति-
राम १८५, सुरदास और मतिराम १८६, साहित्य-कहरी और रसदास १८७, नंद
दास और मतिराम १८७, रहीम और मतिराम १८८, आचार्य केशव और मतिराम
१८८, चित्तामणि और मतिराम १९०, आचार्य कवि देव और मतिराम १९०,
रसबीन और मतिराम १९१, आचार्य मिश्रादास और मतिराम १९४, पद्मा-
कर और मतिराम १९५, मतिराम और नायिका-भेद के अन्य आचार्य १९६ ।

पंचम अध्याय : मतिराम और अष्टाक्षर वर्णन

१९९-२२५

अष्टाक्षर वर्णन की पूर्ण परम्परा १९९, मतिराम और उनके अष्टाक्षर
ग्रन्थ २०२, कर्मिष्ठकर्म २०२, अष्टाक्षर वर्णन २०५, अष्टाक्षरों के लक्षण २१५,
अष्टाक्षरों के सहायक २१८, अन्य प्रमुख आचार्य और मतिराम २१९, आचार्य
केशव और मतिराम २१९, वसवन्त सिंह और मतिराम २२१, चित्तामणि और
मतिराम २२३, भूपण और मतिराम २२३, कुक्षपति मिश्र और मतिराम २२३,
देव और मतिराम २२३, बूछह और मतिराम २२४, आचार्य मिश्रादास
और मतिराम २२५,

मुक्त काव्य २२६, सतसई का प्रिय छन्द दोहा २२८, सतसई परम्परा २२९, ए.बर्ली साहित्य का हिन्दी सतसईयों पर प्रभाव २३७, गायी सतसई और बिहारी सतसई २३८, व्यास सतसई और बिहारी सतसई २४०, अमरदास और बिहारी सतसई २४१, सिद्ध हेमचन्द्र और बिहारी सतसई २४१, पेशवादास और बिहारी सतसई २४१, गोवर्द्धनाचार्य और मतिराम २४१, हुज्जतीदास और मतिराम २४२, आचार्य केशव और मतिराम २४३, रहीम, बिहारी और मतिराम २४३, बिहारी सतसई और रत्ननिधि २४३, मतिराम और रत्ननिधि २४४, बिहारी और राम सतसई २४४, मतिराम और राम सतसई २४५, रत्ननिधि और राम सतसई २४५, बिहारी और विक्रम सतसई २४५, मतिराम और विक्रम सतसई २४५, रत्ननिधि और विक्रम सतसई २४५, राम और विक्रम सतसई २४६, महाकवि मतिराम के समकालीन कवि रहीम और बिहारी २४७, रहीम और मतिराम २४८, मतिराम और बिहारी २५२, मतिराम सतसई की व्यापकता २५६ ।

अष्टम अध्याय मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में मतिराम का स्थान २५८-२८५

मध्यकालीन हिन्दी कविता २५८, महाकवि मतिराम की काव्य प्रतिभा और उनके मेरना छोट २६०, मतिराम की काव्य प्रतिभा २६२, स्वामाविष्ठा २६३, मृगार वर्णन २६५, मेघ वर्णन में बिदेही मेघ २६७, प्रकृति वर्ण २६८, भाषा प्रयोग एवं काव्य कोशक २६८, मतिराम की मौलिकता २७३ ।

उपसंहार	२८२
परिशिष्ट	२८५
नामानुक्रमविका	३२७
ग्रन्थानुक्रमविका	३३४
सहायक ग्रन्थ-सूची	३३९
संस्कृत ग्रन्थ	३३९
हिन्दी ग्रन्थ	३४०
अंग्रेजी ग्रन्थ	३४२
पत्रिकाएँ	३४३

महाकवि मतिराम

और

मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरणवृत्ति

अलंकृत काव्य के मूल तत्त्व और परिवेष्ट

काव्य शब्द अत्यन्त व्यापक है जिसके भीतर साहित्य के सभी प्रकार समिट कर आ जाते हैं। वहाँ काव्य से तात्पर्य मुख्यतः कविता से है, जो किसी भी साहित्य का प्रमुख अंग हुआ करती है। आधुनिक युग में मानव जीवन की समस्याएँ इतनी विपन्न हो गई हैं, उनमें इतनी विविधता आ गई है कि उनकी अभिव्यक्ति के कारण साहित्य के आब विविध रूप दिखलाई पड़ने लगा गये हैं। किसी भी देश के साहित्य का आरम्भ प्रायः कविता से ही मिश्रता है और आज भी अनेक साहित्य-रूपां के होते हुए भी साहित्य नाम से हम सहजा कविता का ही अर्थ लगा देते हैं। किसी भी देश का साहित्य वहाँ का जीवन इतिहास होता है। मानव विचारों एवं अनुभूतियों की निधि साहित्य के माध्यम से ही उचित रह पाती है। साहित्य और समाज एक दूसरे का सहारा छोड़कर अधिक समय तक नहीं चल सकते। कविता साहित्य का प्रमुख अंग है और सामाजिक मनोवृत्तियों तथा प्रभावों की सघन अभिव्यक्ति करने की उसमें सम्यता भी है। साथ ही उसकी कुछ स्वाभाविक दुर्बलताएँ भी हैं, जिसके कारण उद्योत्तर बढ़ती हुई मानव समस्याओं को आब कविता व्यक्त करने में अवलम्ब प्रमादित हो रही है। आधुनिक युग में समर्थ गद्य-साहित्य के होते हुए भी वो कविता का महत्त्व अनुप्राप्त है, उसके मूल में उत्तम आकर्षक स्वरूप तथा उसके समाने और समस्त जीवन को अभिव्यक्त कर देने की शक्ति है।

भारतीय काव्य का उद्भव उस युग में हुआ जिस समय त्याग और तपस्या का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। आधुनिक युग में जिसकी कल्पना भी फटित है। "आधुनिक सभ्यता-क्षत्री जिस कमल पर बिरास रही है, वह ईंट और बकरी से बना है, वह है नगर और शहर। सभ्यता का सूर्य जैसे-जैसे मध्य आकाश में आ रहा है वैसे-वैसे शहररूपी कमल के एक सिद्ध-सिद्धकर कमल" चारों तरफ व्याप्त हुए जा रहे हैं। बेकारी बसुंधरा इस बढ़ते हुए सुर्मा-बूने के गारे को रोकने में असमर्थ हो रही है।" किन्तु वह प्राचीन सभ्यता इन आधुनिक उपकरणों से निर्वात मुक्त प्रकृति की गाँव में विराज रही थी। ऐसी स्थिति में औचित्य जीवन के आकर्षक तत्वों की अभिव्यक्ति साहित्यीय साहित्य के द्वारा अर्हता भी थी। स्वयं और तपस्यामय जीवन पर चल देनेवाले भारतीय के सिद्ध आशय ही थे जिनका भारतीय समाज पर धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक सभी दृष्टियों से एक ठोस प्रभाव था, वे अपनी रीति और संस्कार के अनुसार उत्तम संवादन करते थे।

स्वाम-वपस्या-प्रधान अथवा ब्राह्मण-संस्कृति के अनन्य भक्त सत्रिय किन्हीं देश के शासक होने का सीमाव्य प्राप्त था, अपनी सम्पूर्ण भद्रा एवं भक्ति के साथ ब्राह्मण-संस्कृति द्वारा प्रतिपादित नियमों का स्वयं पालन करते हुए राज्य की समस्त प्रजा का पालन करते थे। इन शासकों की स्थिति पूर्वतः नियमित थी, वास्तविक शासन राजा का नहीं बल्कि तत्कालीन संस्कृति के कर्णधारों का था। "भारतवर्ष में अब ब्राह्मणों की प्रभुता थी, हमारे काव्यकार वात्सीकि और व्यास हमारे शास्त्रकार और दार्शनिक गौतम, कपिल, कणादि, वैद्याकरण पाणिनि और अरुणकर शास्त्र के रचयिता भारत सभी श्रष्टि थे। स्वयं राजा समस्त भी एक श्रष्टि थे।" कोई भी व्यक्ति वास्तव से ब्राह्मण न होकर कर्म अथवा स्वभाव से ब्राह्मण हो सकता है। विष्णुमित्र ऐसे ही ब्राह्मण थे। स्वाम, वपस्या के संमुख लौकिक तत्वों को अर्थात् दुष्क माना जाता था और लोगों को तत्काल्य अथवा साहित्य के माध्यम से उनसे छुटकारा पाने का उपदेश दिया जाता था। उस समय का समाज अस्तु की अपेक्षा सत् तथा आसक्ति की अपेक्षा विरक्ति की ओर अधिक झुकता था। इसका तात्पर्य यह करता है नहीं कि मानव के प्राकृतिक गुण-धर्म समाप्त हो गये थे अथवा उनके विकास के विषये अवसर ही नहीं मिलता था। किन्तु इतना अवश्य था कि बाह्य वास्तविक आकर्षणों का अत्यन्त दुष्क दृष्टि से देखा जाता था।

इस निष्पत्ति मूलक संस्कृति में पहले समाज की व्यक्ति किंस साहित्य में हुई, उतमें स्वाम-वपस्या तथा धर्म को महात्मापूर्ण स्थान मिलना आवश्यक था। ब्राह्मण-संस्कृति को यदि वपानन की संस्कृति कहें तो अनुचित न होगा क्योंकि इस काळ में प्रकृति के अत्यन्त निकट साकर जीवन का देखने पर बल दिया जा रहा था। "इस तरह वनवासियों की साधना से भारतवर्ष ने सम्प्रदायी की जो 'मैत्रि' (पनबी) सचासन शक्ति प्राप्त की थी, शायद वह बाहर के सचात से नहीं हुई, जाना प्रयोशनो के होड़ से नहीं जगि। इसलिये वह शक्ति प्रधानतः बहिसुल्लो नहीं हुई। उसने ध्यान के द्वारा बिद्व की गम्भीरता में प्रवेश किया है। निलिख के साथ आत्मा का संबंध स्थापित किया है। यही कारण है कि भारतवर्ष ने मुख्यतः ऐश्वर्य के उपकरणों के द्वारा ही अपनी सम्प्रदायी का परिचय नहीं दिया। इस सम्प्रदायी के जो कर्णधार थे वे निर्जनबासी थे, और कम से कम आवश्यकतायें रखने वाले तपस्वी थे।" और इन तपोवन वाली तपस्वियों का अपना आदर्श पुरुष मानकर राजाओं और महाराजों ने भी गौरव अनुभव किया है। भारतवर्ष के पुराण कथाओं में का कुछ महत्, आरुष्यकारी और पवित्र है, जो कुछ भेद एवं पूज्य है, वह सबका सब इसी तपोवन अथवा ब्राह्मण संस्कृति की देन है। इसमें निष्पत्ति मार्गों माननाथों की प्रधानता ता रही किन्तु प्रकृतिमानों माननाथों की निदान्ध अपेक्षा नहीं थी बल्कि सत् ज्ञान का प्राप्त करने के रहस्य का प्रकृति में ही हूँदने का प्रयत्न किया जाता था। पर बौद्ध धर्म का पूर्वतः निष्पत्तिमूलक था यद्यपि सत्तप्य जन्म ब्राह्मण संस्कृति की प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ था। जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण

१. डा० श्री कृष्णकाक, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ. सं०, पृ० ७०।

२. रबीन्द्रनाथ टैगोर, 'रबीन्द्र साहित्य' सातवीं भाग, अनु० धन्यकुमार त्रैल, पृ० ११३।

संस्कृति के द्वितीय उत्थान में प्रवृत्तिमूलक मापनाओं को भी स्थान पहले की अपेक्षा अधिक मिलने लगा और राक्षस संस्कृति अथवा क्षत्रिय संस्कृति प्रस्तुत हो गई जो पूर्ववत् प्रवृत्ति-मूलक थी।

ब्राह्मण संस्कृति की निवृत्तिमूलक मापनायें क्षत्रिय संस्कृति में उतनी ही गीम हो गईं जितनी कि उसमें प्रवृत्तिमूलक मापनायें थीं। ब्राह्मणकाव्यीन संस्कृति में छिपे गये आदि कल्प रामायण तथा महाभारत में किन प्रवृत्तिमूलक वृत्तियों का खूब भर ही मिलता है उनका क्षत्रिय संस्कृति में पूर्ण विकास हुआ। अपनी ही कतिपय दुर्बलताओं के कारण ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव भारतीय समाज पर से क्षीय होने लगा और उसका स्थान पूर्ववत् क्षत्रिय संस्कृति ने ले लिया।

क्षत्रिय संस्कृति के उदय से मानव के दैनिक जीवन में मीथिक सुखों की महत्वपूर्ण स्थान मिलना आरम्भ हुआ। भोग-विषय तथा आनन्द के बढ़ते हुये महत्व ने स्वभावतः राजाओं और सामन्तों के सुलभ जीवन का साधारण समाज के छिपे ईर्ष्या की वस्तु बना दिया। ये राजे और सामन्त जो सुखवतः क्षत्रिय होते ये अब आधम्यों में रहने वाले क्षत्रियों के घासन से बहुत कुछ स्वतंत्र हो चुके थे और अपने वैभवपूर्ण जीवन का प्रदर्शन कुटियों पर डाककर व्याप्यात्मिक तत्त्वों की साज में क्षीन निवृत्तिमार्गी साधु-सन्तों को भी आकर्षित करने लगा गये थे। इस समय का नागरिक इतना बड़का गया था कि उसके साथ ही साथ ही जीवन भोग-विषय की वस्तुओं को कुतरे में तथा उसके उपयोग में ही बीतने लगा। भोजन करने के पूर्व से छेकर सने के बाद तक राजाओं तथा सामन्तों के सभी कार्यक्रम निरन्तर रहते थे जिसके अनुसार वे विखरी जीवन का सुख सृष्टे थे। "नागरिक सोकर बैठने के बाद गोष्ठी बिहार के छिये प्रसाधन करता था। अंगराग, उपसेपम, मास्यगंध, उत्तरीय संमाल कर वह गोष्ठियों में जाता था। गोष्ठियों से झौटने के बाद वह सांध्य कृत्यों से निवृत्त होता था और मार्गकाल से गीतानुष्ठानों का आयोजन करता था या अन्यत्र आयोजित संगीत का रस लेने जाता था। इन संगीतकों में नाच, गान, अमिलय आदि हुआ करते थे।" इन समाजों से छीटकर भी नागरिक कुछ न कुछ मने-विनोदों में लगा रहता था। इस प्रकार प्रत्यक्ष से संप्या एक एक कल्पपूर्व विस्मयिता का बसावरण उपरिगत रहता था जिसमें तत्कालीन समाज अपने "धन का मुख्य धर्म भोगता था और अपनी प्रचुर धनराशि के उपयोग में अपने साथ एक बड़े भारी धन-समुदाय की जीविका भी भी व्यवस्था करता था। वह काव्य, नाटक, आख्यान, व्याख्यायिका आदि की रचनाओं को प्रत्यक्ष रूप से उत्साहित करता था और नृत्य, गीत, चित्र और नाटिका का भी वह आनंदपाठा ही था। वह रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि सभी इन्द्रियाओं के भोगने में सुख का परिचय देता था और विस्मयिता में आकंठ मग्न रहकर भी धर्म और व्याप्यात्म से एकदम दूरासीम नहीं रहता था।" किन्तु व्याप्यात्म तथा धर्म की अपेक्षा भोग-विषय को वह जीवन में महत्वपूर्ण

1. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, "प्राचीन भारत का कला-विकास", प्र० सं०, पृ० १४।

२. वही, पृ० १४।

समझता था। शास्त्रायन का कर्मसूत्र इसका प्रमाण है कि सामाजिक मर्जाओं ने इस विषयी चीपन को अपने में पूर्णता अन्तर्भूत कर लिया था क्योंकि आनन्द तथा विद्वत् क्रिया की शारीरिक विधि का संवाचन कर्मसूत्र में उद्धृत नियमों के अनुसार ही होता था।

नगर और राजदरबार धीरे-धीरे किया और कर्म के केन्द्र बन गये वहीं विद्वानों और कलाकारों का जमघट-ठा गया था। आगे चलकर "भार्ये साम्राज्य की स्थापना होने पर क्षत्रियों की प्रभुता बढ़ने लगी और साथ ही साथ भोग विद्यास और विमर्श-अभिमान की भी छिप्ता बढ़ चली और इसकी पूर्ति के लिए अनेक कलाओं और विद्वानों का आधिर्भाव और विकास हुआ। सम्राट के वैभव और अभिमान निर्वहन की कुटिया में कैसे समा सकते थे ? उनके लिये प्रासादों का निर्माण हुआ। कर्म-कारों ने सम्राट के लिए आभूषण बनाये, कवियों ने उनके वैभव का गान गाया, गवैयों और नर्तकों ने उनका मन बहलाया। काव्य-कला में एक महान् परिवर्तन हुआ। श्रुतियों के स्थान पर राज-समाजद्वयों ने कवि और दार्शनिक का उच्च आसन ग्रहण किया। वास्तविक और व्यास का स्थान काश्चित्सा और बाण, चंद और नरपतिनाम्ह, बिहारी और पद्माकर ने लिया। काव्य की नैसर्गिक अनुप्रास धारा के स्थान पर कर्मपूर्ण महाकाव्य, संवत्साव्य नाटक इत्यादि की रचनाएँ होने लगीं। जिसमें भार्ये सभ्यता के स्थान पर भार्ये सम्राटों के वैभव गाये गये।"^१ महाकवि फलिदास की रचनाओं के पूर्व ही संस्कृत काव्यों पर क्षत्रिय-संस्कृति से ओतप्रोत किताबी एवं वैभवपूर्ण राजदरबारी समाज का प्रभाव उल्लिखित होने का वादा है किन्तु फलिदास और उनके बाद की रचनाओं में तो वे अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास के साथ ही साथ साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ इसमें संदेह नहीं। "संस्कृत काव्य का प्रथम अवतार सात्विक भाषना से निरानन्द अनुप्राणित आत्मसंकेतों के वातावरण में होता है, परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के बरद पुत्रों की आश्रय देकर कवि-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महिषालों के साथ संबंध स्थापित था। विक्रमादित्य के विना न काश्चित्सा का उदय सम्भव था, न हर्ष-वर्धन के विना वाजमह का।"^२ राजाओं की कर्मप्रियता के कारण कवियों का दरबारों में अपूर्व संमान था और राजागण उनकी अभ्यर्थना करन में कुछ भी उठा नहीं रखते थे। सम्य-नित कविगण अधिक से अधिक आदर एवं पाने प्राप्ति की कामना से भी राजाकर राजाओं एवं उनके द्वारा अर्चित विभूत सम्पत्तियों की यत्नपूर्वक प्रशंसा करते थे। राजाभ्य में ही कवि-जनों की अस्मृत वाणी का फूटन का अवसर मिल सकता था, क्योंकि उनकी रचनाओं में ही कविद्वयों की नाट्य-कला एवं वाणी विनम्रता अपना उमंगीय प्रदर्शन कर सकती थी। राजाओं का दरबार कला, काव्य, संस्कृति तथा सम्मता का प्रधान केन्द्र था जहाँ कवियों की नैसर्गिक प्रतिभा को पनपने का पूर्ण अवसर दरबारों में पाये जाने वाले कर्म का समस्त उपकारों के

१ डा० श्रीकृष्णकाक, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ० १०, पृ० १०-८।

२ बल्लभ उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' अनुसंधान, पृ० ११५।

माध्यम से शुद्ध है। कभी एवं सरसती का जो अव्युत्पन्न सम्मिश्रण क्षणिक संस्कृति के माध्यम से हुआ उसने कवियों में प्रवृत्तिमूलक भावना का उदया कर अत्यन्त मनोरम अर्द्धकृत कवियों की परंपरा की नींव देकर उसे आगे बढ़ाया। जिसके नायक भी प्राक्क महीपाठ आदि ही होते थे। इस प्रकार रावली वातावरण में अमृदय तथा प्रचार पाने से संस्कृत काव्य निरन्तर अर्द्धकृत, सुश्लिष्ट तथा प्रभावशाली बनकर हमारे सामने आया।

इस क्षणिक संस्कृति की प्रवृत्तिमार्गी प्रेरणा से मंडन और अर्द्धकृत की वृत्ति पूरा निकली। इस वृत्ति का उद्गम रावली वर्ग की अन्तर्भेदना से था जिसने उसके सम्पूर्ण जीवन और परिचय को अमिश्रित कर दिया। बड़े-बड़े प्रभावशाली कवियों के स्थापित हो जाने का कारण ही कवियों को प्रत्येक दिशा में विकसित होने का अवसर मिला है। 'वात्स्यायन' ने अपने 'कामसूत्र' में बिन चौखट कवियों का वर्णन किया है वे सभी क्षणिक संस्कृति की मंडन प्रवृत्ति की देन हैं। संगीत, चित्र, नृत्य, मूर्ति तथा काव्य आदि सभी कवियों में इन मंडन प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा क्योंकि रावलीकरण के ये होमाकारक प्रधान तत्व थे बिनकी चिन्ता दीक्षा की समुचित व्यवस्था भी रावलीकरण की ओर से की जाती थी। गाना-बजाना, सुन्दर चित्र बनाना, पत्र आदि पर अक्षर आदि बनाना, फूलों का गहरे बनाना, फूलों के गुच्छरसे बनाना, अलक्ष्मी-नक्षत्री रंगों की परल करना, उच्चम सीना, रंगों का बनाना और रंगना, ठीतर तथा मेढ़ें आदि छद्माना आदि कवियों का रावलीकरण में अत्यधिक सम्मान बढ़ गया था। जोग घर में पाठे हुए पत्तियों का परल तक कलात्मक ढंग से रंगते थे, पोशों का केच और पूँछ के बाध तथा हाथियों का मस्तक बड़ी ही कलात्मकता का साथ रंगे जाते थे। किर्यों अपनी हथेलियों अनक टेढ़ी-मेढ़ी रंगीन रेखाओं से सजाती और पुष्प अपने मस्तक चन्दनादि पवित्र रंगों से सुवर्णपूर्ण ढंग से रंगते थे। मांसिक अवसरों पर चौक आदि पूरने (बनाने) की जोरदार सैरारी की जाती थी जिसका मार कुण्डल कलाविद पर ही छोड़ा जाता था। दीवारों तथा दरवाजों पर नाना प्रकार के चित्र को आब भी विवाहादि अवसरों पर बनाये जाते हैं वे भी उसी काल की मनोरम सृष्टियाँ हैं।

सुन्दरस्वरम् की कलात्मक मूर्तियाँ, नृत्य तथा संगीत की दिशा में हुई अपूर्व कलात्मक वृद्धि, चित्रकारी तथा काव्य में अर्द्धकृत की प्रवृत्ति आदि सभी उसी सामाजिक मनोवृत्ति एवं वातावरण की देन हैं, जिसे क्षणिक संस्कृति ने उत्पन्न किया था। कवियों का प्रधान कार्य सामाजिक प्रवृत्ति को प्रकट करके उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों को आनन्दित करना है जोड़े वे संगीत तथा नृत्य काव्य हैं, चित्र तथा मूर्ति कलाएँ हैं। अथवा काव्य कला ही और हम देखते हैं कि इन सभी कवियों पर रावलीकरण का प्रभाव पड़ा है।

रावली वातावरण नायक-जीवन और क्षणिक-संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त कर भिजा हुआ 'संस्कृत का काव्य साहित्य एक ऐसी रमणीय और मन लुभान वाली वाटिका है जिसमें काव्य रस ओसुप धमर हर तरह के रस का स्वाद होता हुआ बिहार कर सकता है। काव्यदास, भवभूति, भारवि, बाण, हर्ष, भी हर्ष इत्यादि कवियों के काव्य इस वाटिका की अनक सुन्दर-सुन्दर क्यारियाँ हैं। इन क्यारियों में भी हर्ष कृत निपथ चरित्र एक पेसी क्यारी है जिसके फूलों की मोठी और सीली सुवास

काव्य-रस वासना-विषय पाठकों को अपनी ओर खनायास आकर्षित कर लेती है।^{१७} काव्य की इस परम्परा का सबसे स्रोत उस काव्य तक प्रभावित होता रहा जिस काव्य तक देश की राजसत्ता शक्तियों अथवा हिन्दू राजाओं के हाथ में थी। भारतीय राज्यों के नष्ट हो जाने तथा विदेशियों के आगमन के कारण देश की समस्याओं में परिवर्तन आया जिससे कुछ काल के लिये अशुद्ध काव्य की धारा मंद पड़ गयी क्योंकि साहित्य तथा समाज के सामने अनेक नये प्रश्न सुझाने के लिये उपस्थित थे।

मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्तियों के विस्तार की माँग ने जिस शक्ति-संस्कृति और दरबारी सम्पदा को जन्म दिया उसने अपनी काव्यशिक्षता तथा अलंकारप्रियता का कारण भारतीय समाज को सभी दृष्टियों से प्रभावित किया। कला एवं मनोरंजन के क्षेत्र में सुस्पष्टता स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, और काव्यकला का महत्वपूर्ण स्थान है और इन महत्वपूर्ण कलात्मक तत्वों की व्यूहपूर्ण उन्नति इन राजदरबारों के कारण हुई। काव्यकला अपना प्रभाव सभी भेद कालों से ग्रहण करती है जिससे काव्यकला पर बनवाने की चित्र, मूर्ति एवं संगीतकला का प्रभाव पड़ता रहता है, क्योंकि सभी अपने ढंग से अपनी सीमाओं एवं शक्ति का बीच तत्कालीन संस्कृति, सम्पदा एवं सामाजिक मनावृत्तियों को ही स्पर्श करती हैं। भारतीय समाज के अन्दर जैसे-जैसे मंदन कथ्य के प्रति आकर्षण बढ़ता गया तथा जैसे-जैसे उसमें निखार एवं कलात्मकता आती गई जैसे-जैसे उसका प्रभाव चित्रकला, मूर्तिकला एवं संगीतकला पर पड़ता गया और उसका सम्पूर्ण प्रभाव काव्यकला पर भी पड़ा।

कला का उद्देश्य और जो कुछ भी हो उसका प्रधान उद्देश्य आनन्द अथवा है। आनन्द का कोई स्वरूप नहीं होता और न तो उसका विस्तार को हम अपनी आँखों से देख सकते हैं। इसका सम्पूर्ण मानव-मन की अन्तर्दृष्टियों से अधिक है। अलंकरण एवं मंदन एक अंतःप्रवृत्ति भी है न कि केवल बाह्य सज्जकरण। शक्ति संस्कृति के माध्यम से सामाजिक व्यापार-विचार, एवं रहन-सहन में जिस प्रकार अलंकरण की प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण स्थान मिला उसी प्रकार विभिन्न कलाकृतियों पर भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा।

चित्रकला में अलंकरण की प्रवृत्ति

सामंती जीवन तथा विस्तारप्रिय समुदाय में चित्रकला भी मनोरंजन एवं आनन्द प्रमोद के साधनों में से एक है। राज-दरबारों में इस कला का और भी महत्व दिया गया। राजा स्वयं अपने अनेक दैनिक कार्यक्रमों से समय निपटार कर चित्रकला का अभ्यास करते थे। धार्मिक चित्रों का चित्रित करते समय भी उन्हें अयोचित सज्जने का प्रयत्न किया जाता था। तरङ्ग-तरङ्ग के रंगों को प्रयोग में लेकर चित्रों के अंग-प्रत्यंग को मधुरमूर्ति अलंकृत किया जाने लगा। पूर्व में जो मातृचित्र अथवा रेखाचित्र अधिकता से साथ चित्रित किए जाते थे उन्हें भी बाहरी सज्ज-सजा प्रदान की गई। नायक-नायिकाओं का एक दूसरे का विभिन्न मातृ-भंगिमाओं अथवा मुद्राओं में रंगीन चित्र उतारना या उनका दैनिक जीवन ही था।

प्रेम-यन्त्रों में चित्रों का चित्रित करना तथा उसके अक्षरों का कलात्मकता के साथ छाया-बढ़ा मिलना या साधारण सी बात थी, साधारण से साधारण पत्रों के भी फिनारे रंग बात थे। शासन-कार्य में प्रयुक्त द्वाज वाले आदेश-पत्रों तक के फिनारों का अनेक प्रकार की डिजाइनों अथवा छोटे-छोटे चित्रों से सजाया जाता था।

ऐनिक जीवन में प्रयोग की वस्तुओं को भी सुन्दर चित्रों से सजाया जाता था। मंगल कक्ष को पूर्ण रूपेण रंगीन एवं चित्रित करने की आज भी प्रथा देश के अनेक भागों में वर्तमान है, जो इसी क्षत्रिय-संस्कृति के अलंकृत प्रवृत्ति की देन है। पैसा ऊपर उल्टेख चित्रा का मुका है कि नागरिक घरों की दीवारों, दरवाजों तथा प्रयोग में आनेवाली सभी वस्तुओं का पूर्णतः सजाकर रखते थे, जिनके गृहगार के साधन मुख्यतः रंगीन चित्रकारीता ही होती थी। यहाँ तक कि छमा हथेलियों और भुजाओं का भी सुन्दर चित्रों से सजाकर रखते थे। मस्तक पर छाने वाला चन्दन और तिलक भी चित्रकारीता का सुन्दर नमूना ही होता था। गुप्तकाल में क्षत्रिय-संस्कृति का पूर्ण विकास हो रहा था जिससे हमें उस काल के चित्रों में उपरोक्त अलंकृत प्रवृत्ति के पूर्णतः दर्शन होते हैं। उस काल के अभिकर्षण सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष स्वयं चित्रित जानते थे, उनके ध्यानमात्र चित्रित होते थे। उस काल के छाने के सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनपर उनकी मूर्तियाँ का तथा उनकी जीवन की घटनाओं और उनके आराध्य देवताओं का बड़ा अक्षरों तथा कला-पूर्ण अंकन मिलता है। इनसे बहुत ही भारतीय सिक्के यदि किसी काल के मिलते हैं तो थोड़े बहुत अक्षर और बहोलीर के अलंकृत सिक्के ही।

मूर्तिकला में अलंकृत की प्रवृत्ति

अलंकृत की जिस प्रवृत्ति में चित्रकला की सामाजिकता को अलंकारों के बोझ से छद् दिना, उसीने भारतीय मूर्तिकला का भी अत्यन्त अलंकृत स्वरूप दिया है। जिसके परिणाम स्वरूप गुप्तावधों, पर्वत की शिखारों, स्मारकों तथा बर्म-स्तूपों को लोगों ने काट-छाँट कर बद से बेतन बना दिया है। आज भी विश्व के समस्त आ हमारी सम्मता का मार्चनितम होने का दर्ज है उसकी सारी अक्षरों और एलोरा में मिली मूर्तियाँ अपनी मूल पापा में बे रही हैं। "मार्चन मूर्तियों तथा प्रिस्मपट्टों पर खड़ी कलाकृतियों की भारत के मार्चन घोरपमस इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय प्राप्त है। जिनके कागज बोर्न हाफर न ठा फू पाय हैं और न ही उनकी सगही की समक ही मन्द पड़ी है। जैनी-जीवी और उबड़-साबड़ देखाओं में भारतीय इतिहास अनुज्य है।

राजसी वातावरण की प्रवृत्तिमूलक मानना के कारण जो बाधाधर्यन के तत्वों पर अधिक बल दिया जाने लगा उसका समुचित प्रभाव मूर्तिकला पर भी पड़ा है। शारीरिक गृहगार के क्षेत्र में कलाभूषणों के बढ़ते हुए महत्व का प्रतिक्रिया तत्कालीन मूर्तियों पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। आरम्भिक युग की सीपी-सपाट एवं मही मूर्तियों में पूज निरंतर खन का समो में प्रयत्न किया। पत्थरों का काटकर जो फलक मानव आकृति का संयत् भर कर दिया जाता था उनमें उसका बाह्य अलंकारों को भी छाने का प्रयत्न किया जाने लगा। जनों तथा भुजाओं आदि में पत्थरी-भाटी रक्षाओं के माध्यम से पहन जाने वाले आभूषणों का भी दिग्गजने का प्रयत्न किया जाने लगा। जिस प्रकार पत्रों आदि का डिजाइनों तथा चित्रों

से सजाते थे उसी प्रकार शिवालेखों के पत्थरों को भी छोटी-छोटी मूर्तियों की कठारों से सजाते थे। पत्थर की दीवारों तथा स्तूपों आदि को वनक प्रकार से सजाने की प्रवृत्ति पानी जाती है।

संगीत कक्ष में अलंकरण की प्रवृत्ति

संघीत क माध्यम से मानव मन की स्वच्छन्द वृत्तियों का उद्देश्य अभिव्यक्ति मिश्रणी रही है। स्वतः-संविधानों से उत्पन्न राज-प्रसादों तक बन बन के कण्ठों की शोभा बढ़ाने का यौग्य इसे प्राप्त है। किन्तु राजन्य-संस्कृति में आकर जब संगीत को अलंकरण-कक्षों में प्रमुख स्थान दे दिया गया था उसकी स्वच्छन्द गति एवं स्वाभाविकता में महान परिवर्तन उपस्थित हुआ। स्वर-साधकों ने उसे अनेक रागिणियों में उतारा तथा बादलों ने उसके किये अनेक 'वाधों' की व्यवस्था की। परिणामस्वरूप गीतों की मात्र-प्रकृता से अधिक उसके गायक की कलात्मकता को महत्व दिया जाने लगा। एक गीत अवस्था उसकी एक पंक्ति को विभिन्न स्वर एवं चरणों पर दो साधा ही गया उसमें कलात्मकता देने तथा उसके बदल-उतार को प्रकाश करने के लिये अधिकाधिक समय तक गाते रहने की कला को भी अत्यन्त महत्व दिया जाने लगा।

राजदरबारों में संघीतक तथा नर्तकी शोभा के प्रधान अङ्ग बन गये। सम्राट तथा राजकुमारियों के वे शिष्टक तक के आसन पर आसीन थे। महाराज उद्दयन तथा सम्राट समुद्रगुप्त के वीणा-बादन की प्रशस्ति आज भी माछीय इतिहास में अमृत् है। जब-जब देश में अन्य कक्षों का अन्धकार पड़ा, तब-तब उनकी रक्षा गीतों के माध्यम से हुई है। इस प्रकार राजन्य-संस्कृति क अलंकरण-प्रवृत्ति से प्रभावित होने के कारण सभी अलंकरण-कक्षों में जमत्कार तथा सौन्दर्य-वर्धन को अविविधमय महत्व मिला। जिससे एक ही वस्तु का अनेक रूपों में प्रस्तुत हो दिया गया किन्तु कलात्मकता के कारण उनमें आश्चर्य का कभी भी अभाव नहीं होने पाया।

कलात्मकता में अलंकरण की प्रवृत्ति

सम्युक्त कक्षों का सम्मिश्रित प्रभाव यदि कहीं एक स्थान पर सम्मिलित हो सकता है तो वह है कल्पकला, जो मानव-सम्यता, बुद्धि, तथा आधार-विचारों का साथ विकसित होती रही है। सर्वप्रथम कवि के मन में मात्र उसी प्रकार आते हैं जैसे निजकार के मन में चित्र, मूर्तिकार के मन में मूर्ति तथा संगीतक के मन में हाव। मनुष्य ने आनन्द प्राप्त करने और दान अनुशीलन के लिये जितने प्रकार के उपायों का हँड निकाला है उनमें भाषा का प्रथम स्थान है।

साहित्य, वर्णन, विज्ञान आदि की चर्चा भाषा को बाह्य बनाकर ही चलती है। पद्य से मनुष्य को आनन्द मिलता है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति का हाव शोभायुक्त है। उसके उस अभाव की पूर्ति रूप-विशेष, संगीत, श्रव्य तथा अन्य कक्षों में की है। 'वैश्वे साहित्य की एक निराल प्रकाश भूमिमा है उसी प्रकार रूप-विशेष, संगीत, श्रव्य का भी मनुष्य इन्द्रियों से, मन से बाहरी उतार की वस्तुओं का तत्त्व-बाध एवं रस-बाध का उत्कर्ष साधित

होता है और जिस की प्रकाश मंगिमा भी आवृत्त होती है। ऑल का काम जिस प्रकार जानों से नहीं होता उसी प्रकार बिज, संगीत और नृत्य की धिगा सिम्बाई-पदाई से सम्भव नहीं। सारी की सारी कलायें मानव मन में स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होती हैं जिन्हें कलाकार का अभ्यास स्वरूप प्रदान करता है। एक मूल स्रोत के होते हुए भी जो उनमें अनेकरूपता है उसके मूल में प्रस्तुत करने का दग तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं। भारतवर्ष में हमारे কাছে कथा तथा फार्सी पुस्तिकाओं अच्छी कही जा सकती हैं किन्तु यूरोप के लोग तो नीसी ओंखों एवं झुनझुने केजों में ही मुख्य होते हैं। भारतीय नायिका की छम्मी-पतखी अंगुष्ठियों पीनो ली के छिमे धोमावर्द्धक नहीं कही जा सकती। कलाकार की ये ही सीमायें हैं जो उसके कव्य में परिवर्तन लाती हैं। सम्प्रदाय के विकास के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु का देखने का दृष्टिकोण भी बदलता है जिससे कव्य-रसों का बदलना अनिवार्य हो जाता है किन्तु इस बदलते हुए मानदंड का प्रभाव मानव जीवन से संबंधित सभी कव्यकों पर समान रूप से पड़ता है। जिससे समस्त भारतीय इतिहास को सामने रखकर हम स्पष्टता यह निर्णय कर सकते हैं कि जिस प्रकार एक के बाद दूसरी कव्य का जन्म तथा विकास हुआ है उसी प्रकार एवं उसी क्रम से सामाजिक प्रवृत्तियों का भी एक बूँदरे पर प्रभाव पड़ा है। समाज में दरबारी सम्प्रदाय एवं राजसी वातावरण के महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेने पर कलात्मकता, व्यापकता तथा मंडक की प्रवृत्ति का जो विकास हुआ उसने समान रूप से भारत की सभी कलाओं एवं कलाकृतियों को प्रभावित किया है।

अलंकृत काव्य की विविध परम्परा

मंडन एवं अलंकरण की प्रवृत्ति ने कव्य के क्षेत्र में केवल कविता एवं काव्य-रसों को ही नहीं प्रभावित किया बल्कि उसका प्रभाव भारतीय साहित्य के समस्त अंगों पर पड़ा है। इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि काव्य में कलात्मक तत्वों के अधिक पाये जाने तथा अन्य साहित्य अंगों में प्राचीनतम होने के कारण इस पर अनेका कृत प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है किन्तु नाटकों, कथा-आख्यायिकाओं और मुक्तक काव्यों पर भी अलंकरण-प्रवृत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

संस्कृत महाकाव्यों में अलंकृत काव्य का विकास

शैक्लि संस्कृत में काव्य-रचना का आरम्भ वाग्मीकि से ही हुआ है और उनके द्वारा रचित 'रामायण' ही आदि महाकाव्य है। प्रथम महाकाव्य होते हुए भी आदि-कवि ने इसे प्रत्येक साहित्यकाल गहिमा से विभूषित किया है। प्रत्येक दृष्टि से कवि द्वारा इसे अलंकृत करने का सफल प्रयत्न किया गया है किन्तु इसमें प्रयुक्त किये गये अलंकार एवं काव्य-गुणों से इसकी शान में ह्रास नहीं है न कि वे अस्मा अस्मा स्वर्य आनन्दन उत्पन्न पर महाकाव्य के आकर्षणों का रम्य करते हैं ऐसी कि आगे के महाकाव्यकारों में प्रवृत्ति पाई जाती है। संस्कृत-महाकाव्यों के क्रमिक विकास का देखने से जान पड़ता है कि उनमें अलंकरण की प्रवृत्ति का मुख्यतः तीन स्तर हैं और हैं आचार मानकर समस्त संस्कृत महाकाव्यों की अलंकृत काव्य-परम्परा का हम नैसर्गिक अथवा स्वाभाविक, विविध अथवा अलंकरण बहुला तथा अतिशयोक्त अथवा कसाल प्रयुक्त किये जाने वाले अलंकारों, जिसमें

काव्य से अधिक अलंकार प्रयोग सम्भव बन गया था, चीन प्रमुख भेदियों में विमल भर सकते हैं। महाकवि काव्यदास, मारवि और माध तथा हर्ष की रचनायें अलंकृत काव्य-परम्परा के विकास को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण स्वल्प प्रस्तुत की जा सकती हैं।

विभिन्न रसों का मनुष्य समन्वय, वर्णन में अत्यन्त स्वाभाविकता, छोटे-छोटे मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण सरस, मधुर अर्थों की अभिव्यक्ति वास्मीकि रामायण की विशेषता है। "स्थान-स्थान पर वास्मीकि ने अपने काव्य को अलंकारों से विभूषित करने का भी प्रयोग किया है, पर इन अलंकारों से वस्तु का सौम्य और भी अभिकृता से फूटता और रसिकों के हृदय को हठात् मुग्ध बना देता है। अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, शोभा का विकास होता है, गुण की गरिमा बढ़ती है। वास्मीकि के काव्यों में अलंकार की छटा कम सुहावनी नहीं है।" उन्होंने शब्द की अत्यन्त सुन्दर उपमा दी है जो रामचन्द्र की उदात्ता के अनुकूल ही है तथा समासक्ति का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है इसके अतिरिक्त रामायण में आये प्रकृति वर्णनों में किमग्रहव श्लेषनीय है। इनकी इस रसमयी पद्धति को हम सुकुमार मार्ग कह सकते हैं, स्वाभाविकता विरक्त भूषण है तथा रसमयता विरक्त जीवन। वास्मीकि की इस रसमयी स्वाभाविक अलंकृत शैली का परम विकास काव्यदास के महाकाव्य 'रघुवंश' में हुआ है या महाकवि की प्रतिदिन का मूल रस है।

प्रसादगुण, सरलता, मनुष्य हृदय सम्बन्धी गूढ़ भावों का ज्ञान यही पदविन्यास में एक अनोखी श्रुति तथा स्वाभाविक अलंकार वर्णन की अद्भुत छटा जितनी काव्यदास की कविताओं में मिलती है उतनी संस्कृत के अन्य किसी महाकवि में नहीं। उपमा के लिये काव्यदास सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखते। रघुवंश महाकाव्य में स्वस्मर के समय ही गम्भीर हनुमती की उपमा समस्त भारतीय काव्य में बेबोद है। गृहार किये लखियों के साथ हाथ में बरमाछा लिये हनुमती स्वस्मर समा में बैठे राजाओं को छोड़ती हुई उनके बीच से आगे बढ़ रही है। महाकवि का उही स्वप्न पर दीपधिया की सर्वोत्तम उपमा लम्बी है। जिन राजाओं को छोड़कर हनुमती आगे बढ़ गयी उन राजाओं का मुल उही प्रकार उदास होकर उसका पीछे पड़ता गया जिस प्रकार यदि हम रात को दीपक लेकर चले तो रात्रिमार्ग के मयन अन्धेरे में पड़ते हुए पीछे घूट जाते हैं। वहाँ हनुमती की दीपधिया, लखियों को छे जाने वाला तथा उदास राजाओं को रात्रिमार्ग पर पीछे धूरने वाले मयन कहा गया है।^१ आकाश मार्ग से बीणा लिये आत हुए महर्षि नारद की

१. बलदेव उपाध्याय—'संस्कृत साहित्य का इतिहास' चतुर्थ, सं० ५०-२०८।

२. रामसेन महासर्पान्त स रामगच्छो महान्।

उद्धरिष्यति वेगेन वेगतव ह्योरगान् ॥ (बा० रा० ५।२।१०)।

'बलदेव'करस्पष्ट हर्षोन्मीकितवाराका।

अहो रागवती सम्पत्ता जहाति स्वयमम्बरम् ॥ (बा० रा० ३।२०।१५)।

३. संचारिणी दीपधियोऽ रात्री र्चं यं ध्यतीयाव पतिवरा सा।

बरेन्द्रमार्गोऽहं ह्य मपेद विषयमार्गं स स भूमिपाक। ~रघुवंश ५३।१०। १०।

बीणा के सिरे पर सटकी हुई स्वर्णीय पुष्पों की माख्य वायु का झोंका खाकर तो नीचे गिर गई किन्तु पुष्पों के साथ सगे हुए मीरे बीणा पर मँडराते ही रहे जिस पर महाकवि ने उधेसा करते हुए कहा है कि उन मँडराते हुए मीरों को देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वायु से अपमानित होकर बीणा कायक मिळे हुए औंधू बहा रही है।^१ किन्तु कासीदास के अर्द्धकृत काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता बही रही है कि उन्होंने अर्द्धकृतों का प्रयोग हटाए नहीं किया है बल्कि ने अपने आप अक्सर समस्तकर आ गये हैं, उन्होंने रचना अर्द्धकार वर्णन के बिने नहीं की है बल्कि अर्द्धकारों का वर्णन अपने काव्य को रमणीय बनाने तथा सजाने के लिये किया है। कासीदास मूल्य मानवीय सुकुमार भावों के कवि हैं, जिससे मानव मन की निरर्ग-भावना के समान ही कासीदास की कविता की कमनीयता है। अर्द्धकारों की संस्कार का वह युग न था। रसीली बोखी पर ही रसिक समाज अपने को निछावर करता था। कासीदास की कविता में अर्द्धकारों का मध्य विन्नास है—परन्तु वह विन्नास इतना मस्कील नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण-वस्तु को छोड़कर अर्द्धकार की छत्र की ओर ही आकृष्ट हो जाय।^२ इनक बगनों में अर्द्धकार सं वस्तु का सौंदर्य निरखता है, उसकी मोहकता बटती है तथा वह सहृदयों के हृदय में बरबस धर कर देने की शक्ति प्राप्त करती है। रसवीर महाकाव्य उष्मा चमत्कार का अनुपम कोष है।

इसके अतिरिक्त 'कुमारसंभव' महाकाव्य के अछि अर्द्धकृत पद भी कवि की महती कल्पना एवं प्रतिभा के अनुकूल ही है। यद्यपि 'कुमारसंभव' के सम्पूर्ण स्वप्न सगों में कासीदास की ऐलनी का चमत्कार दिखलाई पड़ता है किन्तु इसके अग्रम सर्ग में अर्द्धकृत काव्य की अनुपम सटा के विमर्शन होते हैं।

महाकाव्य सिखले की परम्परा कासीदास के बाद भी अण्डे टंग से चलती रही। अनेक महाकवियों ने प्रकल्प-काव्यों की रचना की है जिनमें कुछ बौद्ध समावस्थी महाकवि भी हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य बुद्ध-धर्म के उपदेशों को जनता के हृदय तक पहुँचाना रहा है। इन कवियों में अस्सुषाव, मातृषे^३ और आर्यधर मुख्य हैं। 'बुद्धचरित' अश्वघोष की सर्वश्रेष्ठ रचना है जो बुद्धार्थवस्तु मूल रूप में केवल आधी ही मिलती है। इस महाकाव्य की शैली पर कासीदास की रचनाओं का आलुण्य प्रभाव है। 'अदव पोष' का 'अर्द्धकार विधाम रस का पोषक, भावों का सरोजक तथा प्रकृतार्थ का उपोद्योतक है। वक्त्र की आवाज सुनकर कौपने वाले हाथी से श्लोकाहत द्वादोदन की तुलना (यु० ५० ८१००) बिलनी औचित्यपूर्ण है, सतता ही स्वाभाविक है।^४ 'चैन्दरनन्दन' अश्वघोष का दूसरा महाकाव्य है जिनमें महात्मा बुद्ध के सौतेले माँ की कथा का वर्णन है। जीवन-मुक्ता उद्दाम काम, इस महाकाव्य का मुख्य विषय है जिसमें इसमें 'बुद्धचरित' की अपेक्षा कामकथावनाओं की अमिष्यक का अधिक अवसर मिला है।

१ कुमुदैर्मपिषामपापिषि अजमातोषक्षितोमिषेक्षिताम्।

अदरिक्त तस्य वैगवाचविवासम्यहयेव भावतः।

शु० अग्रम सर्गा ३३।

२ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास'—यकदेव उपाध्याय, ५ सं, पृ० १०९।

३ यकदेव उपाध्याय—'संस्कृत साहित्य का इतिहास', ५० सं०, पृ० १००।

इसकी धरसता तथा सकल काम्यात्मकता इसे काव्यज्ञान की निरर्गल बात अलंकृत काव्य परम्परा में रखने के लिये पर्याप्त है। 'भारवि' तथा 'भारवि' की रचनाओं में इसी शैली में आती है।

महाकवि भारवि द्वारा 'किराताकुनीय' की यह संस्कृत अलंकृत काव्य के क्षेत्र में एक मटना है जहाँ से महाकाव्यों की रचना परम्परा में एक महात्वपूर्ण भाग उपरिष्ठ हुआ। आदिकवि बाष्पीकि से उत्पन्न हो महाकवि काव्यज्ञान से होती हुई नैसर्गिक व्यक्तात्मा विक अलंकरण की प्रवृत्ति का जो विकास महाकाव्यों के माध्यम से होता रहा है उसका एक प्रकार से अन्त हुआ और उसके ही गर्भ से विभिन्न मार्गों व्यक्ता अलंकरण बहुधा प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ। 'किराताकुनीय' ने महाकाव्य लिखने की एक नवी शैली को जन्म दिया है। 'भारवि' से पूर्व महाकाव्य का सर्व विषय अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल होता था। खुर्रश का केवल १९ सर्गों में काव्यज्ञान ने खुर्रशी राजाओं की अनेक पीढ़ियों की गाथा समेट ली है परन्तु 'किराताकुनीय' के १८ सर्गों में 'भारवि' ने केवल अर्जुन के किरात के पास जाने युद्ध करने तथा शास्त्रास्त्र प्राप्त करने की छोटी कथा को ही विस्तार दिया है। इस अलंकृत शैली की विषय और मापा लंबाई दो मुख्य विशेषताएँ हैं। 'भारवि' ने कथा वस्तु की व्यपक्षा प्रकृति-वर्णन को अत्यधिक महत्त्व दिया है, यही कारण है कि पर्वत, नदी, सन्ध्या, प्रातः, शत्रु तथा अनेक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में काव्य के बहुत से सर्गों को व्यय कर एक छोटे कथानक को इतना विस्तार प्रदान किया है। वास्तविक और काव्यज्ञान की सीधी-सादी भाषा भी भारवि के पास आकर अलंकारों से बोझिल होने लगी। इन्होंने कविसाओं में चित्र-काव्य लिखकर 'गोमूत्र' और 'कमल' रंघों का प्रदर्शन तो किया ही है, सर्वत्र अलंकारों को बलपूर्वक खाने का प्रयत्न भी किया है। अलंकरण की यह प्रवृत्ति इसके विकास के तृतीय चरण में आकर और भी बढ़ गयी जिससे विषय वस्तु का स्थान अत्यन्त गौण हो गया। भारवि ने जिस अलंकृत शैली को जन्म दिया, उसने रीतिकार्य की एक ऐसी परम्परा का निर्माण किया जो अलंकार के मार से दूबता गया। 'किराताकुनीय' की शैली 'इलेय' के प्रयोग से बोध गम्य नहीं रह गई तथा चित्र-काव्य के प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान गुरुह हो गयी है। अलंकारी की प्रधानता के कारण ही इसे 'अलंकृत शैली' नाम प्रदान किया गया है।^१ इतना होने पर भी विषय प्रति पारन तथा कथा-सौष्ठव को अक्षुण्ण बनाये रखना 'भारवि' की अपनी विशेषता है जो उन्हें 'भी हर्ष' से अलग करती है।

अर्जुन के बायो से पराजित होकर 'वीर' की सेना जब भाग निकली तो उनके मन में दयामात्र का संचार हुआ और उन्होंने युद्ध-विरत हो प्रस्थान करना चाहा किन्तु अत्यन्त मार्मिक वर्णन पन्द्रहवें सर्ग में हुआ है। इस समाप्त के प्रत्येक पद में एक ही प्रकार के अश्रुओं का प्रयोग किया गया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपनी रचना

के माध्यम से 'एकाक्षरपाद अर्द्धकार' की सृष्टि करना चाहता है।^१ इसी प्रकार पन्द्रहवें सर्ग में कम से श्लोक संख्या १९, २५ वार २७ में गोमूत्रिका कवच, सर्वताम्र तथा अर्ध-भ्रमर जैसे छिद्र अर्द्धकारों की योजना की गयी है।^२ प्राकृतिक दृश्यों तथा मुद्रादि प्रसंगों में अर्द्धकारों की सृष्टि का तो कुछ पूछना ही नहीं है। इस प्रकार 'चित्रतार्जुनीय' महाकाव्य के कविश्रपूर्ण प्रसंगों में उपमा, उदाहरण, अर्थान्तरन्यास, परिचयि, चाम्पसिद्धि, एकावर्षी, ह्यन्त, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति, गोमूत्रिका कवच, सर्वताम्र तथा अर्धभ्रमर आदि अर्द्धकार भरे पड़े हैं। जिससे मारवि का यह अर्द्धकृत काव्य विविध अर्द्धकारों की समीचीन स्पष्टी हो गया है। किन्तु इतना अवश्य है कि इसमें कथा की सरिता सर्वत्र सुरक्षित है। अर्द्धकारिता को ही मारवि ने उस प्रकार काव्य का अर्थ नहीं मान लिया जैसा कि श्रीहर्ष आदि ने दूसरी चरण में माना है। काव्यशास्त्र की प्रसिद्धि यदि उपमा वर्णन के क्षेत्र में सुरक्षित है तो 'अर्थ गौरव' के क्षेत्र में निश्चित ही मारवि की कीर्ति अक्षुण्ण है। काव्य का सांस्कृतिक सौन्दर्य जिसे काव्यशास्त्र ने संगत तथा आश्रम में उत्कृष्ट प्रकृत रूप में देखा या उत्कृष्ट प्रति भी मारवि की पूर्ण आस्था थी ऐसा उनके छन्द अपना स्वरूप से प्रकट होता है। उदाहरणार्थ युवतियों का वर्णन उन्होंने अष्टम सर्ग के ४०वें श्लोक में किया है। कवि सुरांगनाओं के आभूषण तथा शृंगारहीन स्वस्थ, निखरे एवं स्वाभाविक यौवन सौंदर्य पर रीत गया है। 'गन्धर्वों ने देखा—युवतियों का तिलक कुछ गया है। उनके पद पर से महावर धूँ गरी है। उनकी आँखों में कण्ठक भी नहीं रह गया है, तथापि उनकी शामा उनमें वर्तमान है। इससे गन्धर्वों का मास्म हो गया कि भूषण युवतियों को नहीं विभूषित करत प्रसूत वे ही भूषणों का भूषित करती हैं।'^३

'महिकाव्य' अथवा 'उत्तम कव' महाकाव्य के रचयिता 'महिसवामी' का रचनाकाल 'मारवि' के बाद का है। इस महाकाव्य के माध्यम से व्याकरण की सरलतम रूप प्रदान करने का भी उत्कृष्ट प्रयत्न किया गया है तथा दृश्य से लेकर वेदार्थ तक बार-बार की रचना अर्द्धकृत काव्य की विशेषताओं का प्रकट करने के लिए ही की गई जान पड़ती है। इसी सर्ग शब्दाच्छंकार तथा अर्थान्तरकार की सुन्दर छान से सुशोभित है। कमकाक्षंकार के बितने मित्र-मित्र उदाहरण इस सर्ग में उपलब्ध होत हैं उतन अन्य कव्यों में बहुत कम

१. छ सातिः सप्तसु सातो वेवावेवाववाववा ।

काही कीकी ककोश्लोकः कसीतासिद्धिः। सप्तम् ॥ ५ ॥ (चित्रा० पन्द्रहवीं सर्ग)

२. मयुरोर्ध्वं न वा मोगो वारसस्यो न शक्तः ।

मा मुरोर्ध्वं न वा मोगो वारसस्यो हि शक्तः ॥ १२ ॥

वेवाकाविकि कावाद् वाहिकास्वस्वकाहि वा ।

(चित्रा० पन्द्रहवीं सर्ग)

काकोरममो काका विस्वमण्यममरवि ॥ २५ ॥

(चित्रा० पन्द्रहवीं सर्ग)

मसारविद्विद्विद्वि सप्तारामर्षनासिनि ।

स्वराधिकसक्तवाद् समकल्पमकर्मति ॥ २० ॥

(चित्रा० पन्द्रहवीं सर्ग)

३. विपक्षिता निरुक्तकाधरा निरजगदी रवि विपक्षी-प्रियम् ।

निरीह्य शमा मुमुषे नमश्चरैरर्द्धकृतं तद्वर्णनम् ॥ ३० ॥ (चित्रा० अष्टम सर्ग)

पाने बाते हैं।^१ इसके अतिरिक्त 'एकाक्षरी' अक्षरकार का सर्वोत्तम उदाहरण 'महिस्वामी' की रचना में पाया जाता है जिसे अनेक विद्वानों ने अपने अक्षरकार ग्रन्थों में उद्धृत किया है।^२ इनका सर्वोदय का एक समीप वर्णन सत्येष्टा की दृष्टि से माघ के प्रभात वर्णन की स्मृति दिखाता है। सिद्धचर नरेश कुमारदास कृत 'आनकी हरण' महाकाव्य महाकवि अमित्रात की कव्य-शैली का अधिक निष्कट है न कि 'मारवि' का।

महाकवि 'मारवि' की अखण्ड काव्य-शैली का स्वयं विकास महाकवि 'माघ' कृत 'शिखुपाल बच' महाकाव्य में हुआ है। कथा, दृश्य तथा सर्ग संख्या आदि सभी क्षेत्रों में 'माघ' ने अपनी रचना को सौख्य की अपेक्षा भीष (भेद्य) ही रखना चाहा है। ज्ञान प्रता है कि किराठाहर्षीय को सामने रखकर ही माघ ने शिखुपाल बच की रचना की है और काव्य के प्रत्येक प्रसंग में वे अपनी प्रतिभा की भेद्यता स्थापित करते ज्ञान करते हैं। मंगलाचरण से लेकर बुद्धान्त तक सभी विभाजन एवं वर्णन क्रम उन्होंने अपने पूर्ववर्ती महाकाव्य 'किराठाहर्षीय' के साथ पर ही रखा है। 'मारवि' ने पञ्चम सर्ग में बुद्ध-वर्णन का प्रसंग में गाम्भीर्य काव्य, सर्वतामस, अर्द्धभ्रमक, प्रतिष्ठामानुषास, पान्थमक आदि विभिन्न कव्यमय छन्दों की रचना की है ता माघ ने भी उन्नीसवें सर्ग में कृष्ण भगवान् तथा शिखुपाल के बुद्ध वर्णन प्रसंग में किराठ से भी संख्या में अधिक विष्ट कव्यमय छन्दों की रचना की है।

उपमा, अर्थगौरव तथा पदव्यञ्जित इन तीनों गुणों का दर्शन हमें 'माघ' की अखण्ड कविता में मिल जाता है। शिखुपाल बच के चौथवें स्काक में आकाश मार्ग से नीचे उतरते हुए नारद का दसकर भगवान् कृष्ण ने अपने मन में उनके स्वस्व की जो कल्पना की उसपर वर्णन करते हुए कवि 'माघ' लिखत है कि 'कमल कसर के समान क्षान्ति वाली जठामों का चारण करते हुए तथा स्वयं शरद्-शुद्ध का चन्द्रमा की किरण का समान कवितासे एक जाने से पिरल बनें बाके, बर्षाकी भूमि में उत्पन्न छटा-समूहों को चारण करते हुए पर्वतगज हिमालय के समान स्थित नारदजी को भीकृष्ण ने देखा'।^३ कवि ने इस वर्णन में उपमा की अपूर्व छटा लिखवाई है। ऐसा ही वर्णन चतुर्थ सर्ग के सैतीसवें श्लोक में भी किया है जिसमें ऐतक पर्वत की समानता भेद्य द्रिच का साथ की गई है। ऐतक पर्वत से निकलकर समुद्र की ओर जाने वाली नदियों के वर्णन में कवि ने 'अर्थ गौरव' की पराधन्य दिखाने दी है। 'जिस प्रकार तोर में लेखने वाली कन्या जब पति का पाव (समुदास) जाने समझती है, वह पिता बसबटा से कदम खदम करता है, वही प्रकार ऐतक पर्वत का मध्य में बहने वाली, इसी से उत्पन्न नदियों समुद्र में मिलन का क्रिय समस्त भूमि पर बहती है, और पड़ी करण

१. अक्षरकार कथाव्यास-संस्कृत साहित्य का इतिहास, भा. ० सं०, पृ० १९६।

२. अ. उद्धर्ष कव्य सुधावर्षकजं न पञ्च तत् नक्षत्रीनपूपदम्।

अ. परमदा सो प सुपुत्रं का कर्क न गुजितं तन्न पहात वग्मकः ॥ (महि स्वामी)।

३. दधानमन्मोहकेसरपुतिर्जटाः शरकमन्मरीचिरोचिपम्।

विपाकविगास्तुद्विभक्त्यधीरहो धराधरेर्नृं यतपीतवीरिण ॥ (१५)

विद्वन्निरागमपरोक्षिपूर्व कर्षेचिप्यारविपुं नृपयहममिजितपीतिराम्यैः।

मेवान् द्विवातिरिच इन्तुमयानि बर्षं गृहार्थमेव विधिमन्त्राण्ये विमति ॥ (७१२०)

कमलन कर रहे हैं जो ऐसा शायद होता है कि यह रसतक पर्वत ही तिसुइटी हुईं उन नदी रूपिणी पुत्रियों के लिये अनुरोधन कर रहा हो।^१ माघ कवि की अलंकृत शैली की सबसे बड़ी विशेषता है कि अमिश्रित अलंकार के अतिरिक्त अन्य कई अलंकार वर्णन-प्रवाह में अपने आप बिपके चले आते हैं। वर्णोच्चासीन रसतक पर्वत की स्रग्-वर्णन में 'पद्मच्छिन्ना' के साथ अलंकारों के माहक स्वरूप कम आकर्षक नहीं हैं। रसतक पर्वत पर 'छटकते हुए मेघों ने बह बरसा कर सर्पवैधित वृक्षों के वन को अस्पन्ध आर्द्र कर दिया था अतएव उस वन को सर्पों के बिप से उत्पन्न अभि नहीं बसा सकी। इस श्लोक में 'समुन्नतमग्नि' का 'नसमुन्नतमग्नि' के साथ तथा 'विपद्यगानाम्' का 'अविपद्यगानाम्' पद के साथ विशेष प्रतीत होता है और उसका परिहार उस अर्थ द्वारा हो जाने से यहाँ 'विरोधालंकार' होता है।^२

नायिका ने रात्रिचक्र में नायक के साथ रति-कीड़ा की है इसका संकेत सखियों को उठके धीरे पर पड़े नायक के सफेद चुपड़े से लगा जाता है जिसे उसने रात्रि में पसंग पर छाड़ दिया था किन्तु प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के संसर्ग से वह कुसुम रंग में रंगे गये चुपड़े के समान दिखलाई देने के कारण नायिका ने उसे अपना समझकर आड़ लिया था। रति संकेत के सुन्दर वर्णन के साथ ही साथ कवि ने सफेद बाहर में कुसुमी रंग की भ्रान्ति करके सुन्दर भ्रान्तिमान अलंकार की वाचना की है।^३

शिष्टपाठ वच में वनित तथ्यया अलंकारों से 'प्रमात वर्णन' तो मरा पड़ा है जिसने अलंकृत शैली के क्षेत्र में कवि की अचल कीर्ति स्थापित की है। तदाहरण के लिये सुसौंदर्य के एक दृश्य का वर्णन के उक्त हैं। सूर्य की किरणों में प्रकाश आ रहा है जिसे देखकर ऐसा लगता है कि 'काई पद्मप्रभु व्यक्ति पुनः अपने स्थान को प्राप्त कर विषय-अस्तुता सं जेक में चिरकाल तक पड़े हुए स्वप्नों को जेक का फाटक साझकर दिस प्रच्छर सुझा खेता है उसी प्रकार पड़े तेबहीन यह सूर्य पुनः अपने तंब का प्राप्त करके कमल-पराग में अस्तुता होने से उसमें हिले हुए झमरों को, कमलों की विकसित करने से उनकी पैलुवियों को साझकर स्वप्न रूप उन झमरों का मानो बन्धन मुक्त कर रहा है'।^४ 'अलंकार शास्त्र में माघ की

१. अपर्तकर्मकपरिवर्तनोचितशक्तिताः पुराः पतिमुपैतुमासमायाः ।

अनुरोदितोद कर जेन वनितों विश्वेन वरसकृतपीठ मिश्रगाः ॥ (३१७०)

२. धर्मोन्मितामिमुंदुरम्बुवादिः समुन्नतमग्निर्न समुन्नतमग्निः ।

वर्न बबावे विपदावकोत्था विपन्नगानामविपन्नगानाम् ॥ (३११५)

३. सितकवितापनीवे नक्षत्रोक्तान्तमुच्छे

दिनकरकरसंगम्यच्छकीमुम्भकान्ति ।

मित्रमिति रतिबन्धोमौक्योमुच्छरीरं

वरिहसति सखी क्षीमापदानां दिनादी ॥ (३११२२)

४. चिरमणिरसकौत्साहृष्यर्धनं सम्मिश्रणां

सुनरपमुदपाव प्राप्य धाम स्वमेव ।

दक्षिणदक्षकपादः परपदानां सरोज

समस्त हृव गुप्तिस्त्रोटमर्कः करोति ॥ ३११५०

प्रवीणता की प्रशंसा करना अर्थ है। वह हो कवि का अपना प्रवेश है। माघ ने रावनीति के गुरु शत्रुघ्न को सम्पूर्ण सम्मान के साथ अलंकार शास्त्र के नियमों का सहाय किया है। माघ ने एक साथ कवि-अलंकारिक के लिये पद से शब्द तथा अर्थ दोनों को काम्य माना है।^१ इस प्रकार से अलंकार शास्त्र के प्रमुखतम अलंकारों द्वारा कवि माघ ने शिशुपाक व महाकाम्य की शैली को अलंकृत किया है।

संस्कृत के अन्य कवि रत्नाकर, शिवलामी तथा मरुचक ने जिनकी रचना भूमि काशीर प्रवेश रहा है कम से इतिवृत्त, अवदान अपवा शिवांक तथा श्रीकण्ठ चरित नामक महाकाव्यों की रचना की है जिसमें माघ कृत अलंकृत शैली की ही छप्पा है किन्तु उतनी प्रतिमान होने के कारण वह प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। अलंकृत चम्प-परम्परा के इस दूसरे चरण के समाप्त हो जाने पर एक ऐसे महाकवि का संस्कृत महाकाव्यों को परम्परा में आगमन होता है जिसने इस शैली को साधन के स्थान पर साध्य बना कर इसे वर्णन की पराकाष्ठा को पहुँचा दिया। ये महाकवि वे नैषध महाकाम्यधर श्रीहर्ष।

आचार्यों ने काकिकास के सुबोध, कुमारसम्भव तथा मेघदूत का छत्रुनवी तथा फिर ताहृतीय, शिशुपाक वष तथा नैषध चरित को बृहन्नयी का नाम दिया है। किम्बदन्ती के अनुसार काकिकास उपमा, मारवि अर्थ-गौरव, दंडी पद-काव्य तथा माघ इन तीनों गुणों के लिये संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है किन्तु नैषधकार श्रीहर्ष के उल्लिखित हो जाने पर वैठा 'माघ' और वैठा 'मारवि' अर्थात् इन लोगों का कोई स्थान नहीं रह जाया। इस कथन के मूल में काम्य प्रतिमा नहीं बल्कि अलंकार बोधना ही है क्योंकि वहाँ तक बृहन्नयी के कवियों की काम्य प्रतिमा का प्रश्न है मारवि सबसे आगे हैं। परन्तु इसमें धन्येह नहीं कि श्रीहर्ष की अलंकार बोधना सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अकम्भी है। पदकाव्य, भाव और अतिशयोक्ति में श्रीहर्ष बहुत बड़े-बड़े हैं, इनकी वर्णन शैली के विस्तार का भार-छोर नहीं। इन्होंने 'नैषध' की कविता को धानवृक्षक देवा विष्ट कर भाषा है कि वह पत्थर की एक अल्प-अल्प टुकड़ी ही समझी है और सम्पूर्ण महाकाम्य एक छिन्न-खण्ड। इस पर अफे-अफे विद्वानों की बुद्धि बैठी ही टकराती है जैसे कि संगतराज का इबोड़ा पत्थरों के टुकड़ों पर टकराता है।

अतिशयोक्ति, निष्ठ कल्पना, नहीं अस्वभाविक और शीर्ष वर्णन नैषध में अधिक पाये जाते हैं। इसी से इसकी कविता हृदय में छुम पाती बल्कि बिच का प्रसन्न करक दूर हा जाती है, विशेषता इसमें इसकी ही है कि उन्हें बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। अतिशयोक्ति करने में श्रीहर्ष को बराबरी संस्कृत का कोई भी कवि नहीं कर सकता। इनकी कविताओं में स्वभाषाक्ति बहुत कम पायी जाती है। चन्द्रमा में दितकार्द पढ़ने वाली ध्यामता का कवि ने पलक नहीं बल्कि कीचड़ कहा है जिसके लिये उठने अत्यन्त निष्ठ कल्पना का भी ही है,

१ बहदेव उपमाधाय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' अ० सं०, १०० २०६।

२ 'उपमा काकिकासक्य मारवेरसगौरवम्।

इतिवृत्त पदकाविकर्ष माघे सम्यि शत्रु गुणाः ॥' इति ॥

तावन्ना मारवेर्याति वाचम्यावरण मोदकः।

उद्दिष्टे नैषधे वाच्ये ॥ माघः ॥ च मारविः १ ॥ इति ॥

नल के प्रताप और सेना का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन भी किया है। नल की दाना में उसके प्रक्षयमान प्रताप कपी अग्नि के धूर्त के समान सेना के पल्लव से राखे से जो घूँघि उड़ी बही सुधा-समुद्र में गिरकर कीचड़ हो गयी और आज तक चन्द्रमा में कलंक के रूप में विद्यमान है। अर्थात् सुधा-समुद्र से जब चन्द्रमा निकल आया था तब समुद्र सम्बन्धी कीचड़ उसमें जमी हुई थी। अतएव वह कलंक नहीं बही कीचड़ है जो नल की सेना के पैरों से उड़ी घूँघि से समुद्र में गिरने से जमी थी।^१ ऐसी एक नहीं बनेक विषय कल्पनायें नैपथ्य महाकाव्य में मरी पड़ी हैं।

दमस्ती की काम-वीड़ा का वर्णन करते समय भीरु ने विष्णु को राहु का चिर फटने बाधा न मानकर विरहिणियों का चिर फटने बाधा कहा है और दमस्ती से कहा गया है कि 'सरस इष्टि बाधे अग मधुसूदन (विष्णु) को राहु का चिर फटने बाधा कहते हैं, विरहिणियों का चिर फटने बाधा नहीं कहते क्योंकि यदि राहु का अटपानस (पूर्व पक्ष के साथ शरीर होने से अटपामि, हाता हा चन्द्रमा कहाँ हाता ? अर्थात् न होता, किन्तु राहु के अटपामि में जीर्ण हो जाता। विष्णु द्वारा राहु का चिर फटने के कारण ही राहु के मुख में गया हुआ मी चन्द्रमा गर्दन के राखे बार-बार बाहर निकल आता है और विरही स्त्री-पुरुषों को छलास करता है) अतः विष्णु का राहु का चिर फटने बाधा न कहकर विरहिणियों का चिर फटने बाधा कहना उचित है।'^२ इसी प्रकार तेरहवें सर्ग में पंचनदी का वर्णन है। नल के रूप में इन्द्रादि चार देवताओं और पाँचवें नल का वर्णन है तथा दसवें सर्ग में कवि ने सरस्वती के अंग-प्रत्यंग के वर्णन आदि प्रसंगों में छिस्ते भोक्तों के श्रेष्ठ पूर्ण शक्तियों में अपने पाण्डित्य और अलंकारिकता का अन्त कर बाँटा है।^३ इस कवि का भाषा पर तो ऐसा प्रभाव जान पड़ता है कि भाषा स्वयं सामने हाथ जोड़कर खड़ी रहती है। नैपथ्य महाकाव्य में ऐसा श्लोक हूँदने पर भी नहीं मिला करता बिलने हो से कम अलंकार आये हो। अलंकारों में भीरु श्लेष, समक तथा अनुप्रास के विशेष शौकीन हैं जैसे ता कई मी ऐसा अलंकार नहीं बना है जिसे कवि ने न समझा हो। भीरु अलंकृत शीघ्र के सर्वश्रेष्ठ काव्य रचयिता हैं। भीरु शृंगार कव्य के कवि हैं परन्तु उनका शृंगार वर्णन कवि हृदय का स्वाभाविक उद्गम न होकर वास्तविकता के 'कामसूत्र' पर आधारित शास्त्रीय विवेचना की अपेक्षा रहता है। शृंगार के संयोग तथा विनीत समय पलों का चित्रण वहाँ बड़े प्रशस्तियों के साथ किया गया है, परन्तु इनमें हृदय पक्ष का अभाव और कव्य पक्ष का प्राधान्य है। संस्कृत महाकाव्य परम्परा में अठ्ठक काव्य-वीर्य के चरम परिणाम का नैपथ्य महाकाव्य सर्वोत्तम उदाहरण है।

मारवि, माध और भीरु के महाकाव्यों में अलंकार की उच्च प्रशंशित करने के स्थिर ही वर्णनों का बाहुल्य मिलता है और बाद के लयाचारों में तो महाकाव्य के स्थिर

१ बहस्य बात्रासु बभोद्वत तज- स्तुराप्रतापानलधूमसिद्धिम् ।

सर्वत्र यत्ना पठितं सुधासुधोपि दयाति बन्दीमहर्षकतां विधौ ॥ (११८)

२ अतएवा कथयन्ति पुराविदो मधुमिदं किञ्च राहुनिरपिष्टम् ।

विरहिमूर्धमिदं विगर्हन्ति न तत्र भु वासी पति तज्जडरानका ॥ (११९९)

३ अलंकृत उपमाया, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ख० ल०, पृ० १३९ ।

त्रिविध वर्णनों को उनका विशेष उल्लेख ही मान लिया। विश्वनाथ कविराज ने महाकव्य के कल्प निर्माण में उपरोक्त महाकाव्यों में वर्णित विरही वर्णनों का ही आचार लिया है।

संस्कृत नाटकों में अलंकरण की प्रवृत्ति

नाटकों का उद्देश्य रस-निष्पत्ति अथवा रस-परिपाक माना गया है, इसलिये इसमें अलंकारों के लिये अवकाश नहीं। आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों में 'रस' की ही प्रधानता मानी है यद्यपि उन्होंने भी उसमें चार अलंकारों को गिनाया है। संस्कृत साहित्य में नाट्यकला का परम्परा क रूप में विकास 'मास' क नाटकों से ही होता है। 'मास' का रचनाकाल 'कालिदास' क रचनाकाल से पूर्व का माना जाता है क्योंकि उन्होंने अपने 'मातृविक्रान्ति मित्र' की प्रस्तावना में 'मास' का नाम दिया है। 'मास' के नाटकों में अलंकारी की योजना करने का कोई प्रकट नहीं दिखाई पड़ता। कालिदास के महाकाव्यों में जिस प्रकार से महाकवि शास्त्रीय क स्वामासिक अलंकृत शैली का विकास दिखाई पड़ने लगता है उसी प्रकार उनके नाटकों में भी उसका संकेत स्पष्टतः दिखाई पड़ने लग जाते हैं। 'किष्कीर्णशाय' नाटक में अप्सरियों की पुकार सुनकर राजा 'पुकरवा' सारणी से अपना रथ लेवी क साथ उसी ओर बढ़ान का कहता है और सारणी बैठा ही करता है। राजा रथ की बाह देखकर कहने लग जाता है कि 'बाह ! बाह ! अब बल्ले ही रथ इतने वेग से दौड़ रहा है तब तो मैं गरुड़ को भी पछाड़ सकता हूँ, फिर इन्द्र के शत्रु पक्ष तो हैं किस गिनती में ! मेरा रथ इतने तीव्र वेग से दौड़ रहा है कि उसकी रगड़ से घने बाह्य पीत-पीतलर धूल फैले घन गये हैं। इसके पहिये भी इतने वेग से घूम रहे हैं कि ऐसा लगता है मानों पहियों के आतों के बीच में और बहुत से आरे बनते चले जा रहे हैं। घोड़ों के सिर पर पीरिया ऐसी लड़ी हो गई है कि जान पड़ता है मानों वे चित्र में खिंची हुई हैं और वेग से चलने क कारण जो पवन उठता है उसकी शोक से झंडी का कंपड़ा पत्रा के डंडे की ओर अपने बाहरी छत के बीच में सींचा फैल गया है, तनिक भी हिलता-डुलता नहीं।' १) ऐसे अनेक वर्णन अतिशयोक्ति रूपक एवं उल्लेखात्मक से अलंकार के नाटक मरे पड़े हैं किन्तु उन्हें खान का नाटककार की ओर से कोई प्रवास नहीं जान पड़ता बल्कि वे उसकी प्रतिभा के एक अंग बनकर आ गये हैं।

अलंकृत शैली की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा ने केवल कवियों का ही नहीं बल्कि गद्य लेखकों को भी आकर्षित किया है जिसका प्रमाण संस्कृत क 'काव्यमयी' ऐसे व्याख्यानक काव्यों में मिल जाता है। नाटकों की भाषा पर भी अलंकृत शैली का बोझ बहुत प्रमाण है किन्तु मूलतः अलंकृत शैली का आकर्षण नाटक में मिलने लगे गीतों तथा वक्तव्यों में ही है। नाटकों क अन्दर प्रथमयता का जो स्थान मिला है उसका मुख्य कारण है संस्कृत काव्य में अलंकृत

१ 'साधु-साधु । अनेन वयमेवैव पूर्वाप्रस्थितं विनोदमप्यासादययम् । किं पुनस्तमपकारिणं मया' । अम—

अने पान्ति वयस्य रेशुपर्वी पूर्णमवस्थो यवा-

अत्रप्रान्तिराम्यरेषु विनोदमप्यासादययम् ।

, विनोदमप्यासादययम् इतिगिरस्यापामययामरं

यमप्ये मयविरिधो यजपदा प्रान्त य वेगानिका ॥ (११५)

शैली का बढ़ता हुआ प्रभाव। नाटककारों ने अलंकारों की योजना करने तथा चमत्कार दिलाने के क्रिये ही नाटकों में बीच-बीच में गीतों कापवा खोखों की व्यवस्था की है। महायजुर्वेद के नाटकों में अलंकृत शैली का सुन्दर नमूना दिखाई पड़ता है। मुक्ततः 'रत्नावली' में ता अलंकृत काव्य क एक से एक नमूने भरे पड़े हैं। रामा उद्यम और सागरिका चन्द्रोदय देख रहे हैं उसी समय रामा उद्यम कह बैठता है कि इस चन्द्र के उदित होने की क्या आवश्यकता थी जब कि हमारा चन्द्रमा के समान मुख उपरिष्ठ ही है। उद्यम से क्या अपनी बढ़ता नहीं प्रदर्शित कर रहा है, इसके निकलने की जरूरत ही क्या थी? हमारे मुख की घोमा के सम्मुख उरशी घोमा नष्ट होती जा रही है। चन्द्रमा के चारे के चारे मुख हमारे मुख में विद्यमान हैं, जिसे देखने से काम-बातना में वृद्धि होती है। यदि चन्द्रमा अमृत धारण करने बाध्य है ता हमारे किन्नावर में भी अमृत का नियास है। ऐसी स्थिति में चन्द्रमा के उदय होने की आवश्यकता ही क्या थी? इस पद्य का काव्य प्रकाशकार ने भी उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया है। स्पष्ट है कि नाटककार ऐसे स्थलों की सृष्टि क समय अलंकृत काव्य की सूचिका में बैठ गया है।

महाराजन्म कृत 'बिभी खंवार' नाटक की दृष्टि से निरान्त निर्दोष रचना हावे हुए भी काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर, मोहक तथा हृदयाकर्षक प्रभावशाली कृति है। मीमत्तेन की प्रशिक्षा में विरोध तथा उन्माद का सुन्दर चमत्कार देखा जा सकता है। नाटककार ने मीमत्तेन से यह कहवाया है कि 'यह मीमत्तेन शीघ्र ही चढ़कती हुई भुजाओं से कुमाकर घेंघरी गई गदा के आघात से दुर्बोधन की बाँधों को धूर्ण कर देगा। अधिक माथा में गिरे हुए चपके गादे-गादे बजिर से बितक हाथ आज हो गये हैं। ऐसा मीमत्तेन हमारे इन लुठे हुए बावों को स्वयं अपने हाथों से बाँधेगा। अतः तुम (श्रोत्री) विचरना रहा। हमारा मनारय सिद्ध होकर रहेगा।' इसे नाटककार यद्यो ने कह सकता था किन्तु यह अद्वित्य धनता सम्भव न होता। सम्पूर्ण नाटक में ऐसे व्यक्ति पद वयास्तान भरे पड़े हैं। 'मयभूति' के 'उत्तर रामचरित' में चित्राप्रमता तथा प्राकृतिक दृष्टी का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है। इसका आरम्भ ही चित्रदर्शन से होता है और समवर्ति की समस्त पटनायें एक-एक कर सामन आती हैं और उन पर राम अपनी प्रतिक्रिया का निर्देश करत हैं। मयभूति की कवि प्रशिक्षा का यह सर्वोच्च निदर्शन है जिसे अलंकृत बनाने के क्रिये नाटककार ने वास्मिन्मय समायम उत्तरचन्द्र से सी गई इसकी कथा में अनेक मीलिक परिवर्तन किये हैं।

मयभूति के 'मालती-माधव' में आये पद्यकद प्रकृति वर्णन अत्यन्त अलंकृत हैं। नाटककार ने इसमें ध्यान का अत्यन्त विस्तृत तथा वास्तविक वर्णन किया है। इनके महावीर चरित में आये पद्यमय वर्णनों में आसक्तिरिक्ता की उष्ण दर्शनीय है। नाटककार का हृदय जब भावुकता से भर जाता है ता वह अपनी भाव प्रवणता की अभिव्यक्ति

- 1 'किं पद्मस्य दधि न हस्ति भयतान्तरं विपते न किं वृद्धिं वा शपकेतनस्य कुट्टनं नासोक्तमात्रेण किम्। चन्द्रशेखरी तत्र सहायं चन्द्रपदं क्षीतांशुदन्तमृगमते दपः आदयतेन वैदित तथाप्यस्तेषु विन्यायते।' (रत्नावली ३।१३)

अलङ्कृत पद्यों में ही करता है। मुख्यतः बाकी सबेरा आकाश मार्ग से रथभूमि की ओर आ रहा है जिसकी ओर संकेत करती हुई अमरा (सबरी) राम से कहती है कि 'देख ! देखिये देखिये विराट् देह में इन्द्र द्वारा दत्त सोने की माछा पहने, संस्था रागयुक्त विद्युत्संगत मेघ के समान, उत्थातमुक्त गैरिक पातुपूर्ण पर्वत की उपमा धारण करने वाला आकाश में क्षिप्त रेखा सदृश सफ़ीर-सी लीनता हुआ बाकी बेरा से चला आ रहा है'। सम्पन्न-शक्ति के अवतर पर राम की सारी समा तथा देवगण जब शोक सागर में डूब रहे थे उसी समय बौद्धगिरि पर्वत को छिपे आकाश मार्ग से आते हुए हनुमानजी को देखकर प्रसन्नता के कारण चित्ररथ देवराज इन्द्र से कहने लगता है कि प्रभो ! देखिये—'चन्द्रमा किरणों से समुद्र समूह की तरह, धुमन को पाकर लौह की तरह अघ्नायुज्ज्वल को प्राप्त कर संसार मारजुक्त जन की तरह हनुमान द्वारा बंधे गये पर्वत की हवा को पाकर प्रफुल्लित हो रहे हैं, वस्तुतः किसी-किसी पदार्थ की महिमा विविध होती है'। इन्द्र के गहन अनुमूढ माथों की कितनी अलङ्कृत एवं सुन्दर कान्धमयी बोकना कान्धों के माध्यम से हाँ चकती है, नाटककार ने वैसी ही मर्मस्पर्शी याचना उपरोक्त पद्यों में की है।

अनसहर्ष कृत 'तापस वात्सराज' नाटक के अलङ्कृत पद्यों की संस्कृत साहित्य में बड़ी क्वालिटी हुई है जिन्हें मम्मट, कुन्तक, मोघराज, राजनेश्वर, अमिनवर्गुण, हेमचन्द्र तथा आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने अपनी कृतियों में उद्धृत करके सम्मानित किया है। इसके 'उत्कम्पिनीमय परिस्फुटानुकाण्ठा' (२।१५) पद्य का आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यलोक के तृतीय उद्योत में अत्यन्त मार्मिक व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है। इस पद्य में वात्सराज उद्भवन अपनी पत्नी वासवदत्ता के आग में जलकर मर जाने का समाचार सुनकर विषम पर रह है जिसका वर्णन नाटककार ने किया है। वह कहता है कि (आग के डर से) फौफली हुई, मय से विगलित वाचना, सन (कातर) नेत्रों की (रक्षा की आशा में) सब दिशाओं में फैलती हुई, हासको, अत्यन्त निन्दुर एवं भ्रूमाय अग्नि ने (एक बार) देखा भी नहीं और निर्दयता पूर्वक एकदम बल ही खाया।^१ यहाँ 'उत्कम्पिनी' पर से वात्सराज के भयानुमावों का मार्मिक उल्लेख है।

१ अमरा—देख ! पश्य पश्य !

विज्वाल वादनामि करकमलमयं दाम दत्तं मञ्जीरा

पिगे जागेन सन्ध्याधुरित इव महानम्बुवा अस्तहित्वान् ।

इत्यादिवाहमूर्नेर्धनुपति गिरेरीरिकागल्लक्ष्मी—

मन्त्र-सौमस्तरेत्वादिभ्यः विद्यति अवादिन्नु धनुमन्त्रोति (महावीर चरितम् १।१३)

२ यथाचन्द्रालोकं कुसुमविज्वालमयमग्नि

द्वारमारस्तावायुतमपि भवाम्बोधिधिगता ।

तथा सौमार्ध्वेती इनुमधुपवीणादिमर्दत

मरिचुग्नमते किमपि गहरो वस्तुमहिमा ॥ (महावीर चरितम् ३।१९) ।

३ 'उत्कम्पिनीमयपरिस्फुटानुकाण्ठा' त कोचने प्रतिदिष्ट विपुले क्षिपन्ती ।

क्रूरेण दाहणतया सहस्रेण दग्धा भ्रूमायितन दहमेन वहीक्षितांति ॥

तापस वात्सराज २।१५

अनर्पराषव के रचयिता 'मुरारि' ने नाट्यकला के क्षेत्र में अपना एक तीसरा मार्ग ही पथया है किन्तु आलोचकों ने केवल उसे प्रथम मात्र ही स्वीकार किया है। नाटक की दृष्टि से वा अनर्पराषव सफल कृति नहीं मानी जाती किन्तु कविता पयात रूप में अमूर्त है। 'सप्तम अंक में राम के लंका से अयोध्या आते समय 'मुरारि' ने रघुवश के तेरहवें सर्ग का अनुसरण किया है। कविता में प्रौढ़ता है, जोर का प्रदर्पण है, यणों की बहुलता है, परन्तु उस सुकुमारता का दर्शन नहीं मिलता जो काशिप्राम की कविता में मिलती है।^{११} अर्द्धकृत प्रकृति की ओर ध्यान अधिक रहने के कारण नाटककार कविताओं में मानव हृदय के भावों की परख नहीं कर पाया है। अमर्ममांसाकार राज शैलर मूढता आचार्य हैं किन्तु उन्होंने बाकरामायन, बास मारत विदुषाध्यमिका और कर्पूरमंजरी वार रूपक तथा नाटिका लिखी हैं जिनमें आप पदों में पूज्य अस्मिन् एवं अर्द्धकृत प्रकृति के दर्शन होते हैं।^{१२} नाटकों के अर्द्धकृत शैली का सबसे अधिक सफल प्रयोग बय-देव कृत 'प्रसन्न राघव तथा हनुमन्नाटक' में हुआ है। मनायत स्थलों में जब नाटककार काम्य की भूमिका में उतर आता है तो रूपक आर उपमा की मूलका सी बना जाती है। सीता-स्वयंवर के अवसर पर वैद्य-वैद्यान्तर के उनके महापते समा-मंडप में विराज मान हैं जिसका बदन नाटककार जब 'प्रसन्न राघव' में करने लगता है तो उल्लेख का चमत्कार देखते ही बनता है। 'प्रसन्न राघव' हाथियों के दौव से बनी मंचरूप कल्पुतकियाँ राबफ्तों के हाथों से सगे लुनों के सहारे इधर उधर घुमाई जा रही हैं, ऐसा खत होता है, मानों वा वन्य ठाले के सिधे उत्कण्ठ राबायन की बिचलपि ही नाच रही हों।^{१३} इसी प्रकार की कवितायें, की रामादर मित्र द्वारा संग्रहीत हनुमन्नाटक में भी पाई जाती हैं। युद्ध भूमि में जिस समय आकाश में बहते हुए औसुनों से युद्ध मूलक्या बाजे पर्वत सहित नीच बानर खंखेर सुम राबन के वन्य के शिखर पर स्थित हुआ उस समय निधियों के मगदल में स्थित बैकताओं की यह बुद्धि हुई कि—वन्य के शृङ्ग पर तो मौरा है और मौरा के ऊपर

१. 'अर्द्धकृत साहित्य का इतिहास' ब्रह्मदेव उपाध्याय, पृ. सं०, पृ० ५२६।

गोत्रे साक्षात्त्वनि भगवान्नेप वल्लभमयोनि।

सम्बोत्थार्य यद्विजिहमह। प्रीत्यमन्ति द्विरेधम् ।

एकाम्रो बहवति भगवत्सुपुष्पयो व मक्ति

तथापुष्टे सुतनु बह्वोपममम्भो दहाणि ॥ (अनर्पराषवम् ७।६२)

२. हनुकिंस हर्षाजनेन कविता दर्दिर्यपीनामिह

प्रम्भानादग्निमेव विन्दुममता स्वामेव हैमचुति- ।

पादप्यं कल्ला व कोदिलवपू कण्ठेणिव प्रस्तुतं

सीताया। पुरतल हन्त सिक्किनी वही लगदी हव ॥ (बाकरामायन १।७२)

३. कटि वरकराप्रवप्रसूश्राप्रकान-

द्विपदमनराकाकामश वाचातिकेपम् ।

विपुरमयवचापारापकोत्कण्ठितावा-

मतिरभलपतीव क्षमाभुता बिचकृतिः ॥

(प्रसन्नराघव १।२८)

पर्वत है और उस पर्वत के ऊपर समुद्र है ।^१ इसमें सन्देह नहीं कि नाटकों के अन्दर ऐसी ही व्यक्ति कथाओं तथा अलंकृत वर्णनों को देने के लिये ही कविताओं को महत्वपूर्ण स्थान मिला है जिसके मूल में है तत्कालीन कालों में अलंकृत शैली का बढ़ता हुआ महत्वपूर्ण प्रभाव । यह साहित्य और मुख्यतः नाटकों के माध्यम से अलंकारों की योजना करना तथा अलंकृत शैली का निर्वाह करना कठिन है किन्तु उपरोक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि जिस अलंकरण की प्रवृत्ति ने भारतीय समाज एवं काव्य साहित्य को प्रभावित किया उसका प्रभाव से नाटक भी व्यूँटे नहीं रह पाये क्योंकि उनके रचयिता भी उसी समाज के प्राणी थे जिसमें अलंकरण की प्रवृत्ति विद्यमान थी और उन लोगों ने अपनी रचनाओं में कविता को महत्वपूर्ण स्थान देकर अपनी अलंकरण प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया है ।

कथा, आख्यायिका में अलंकार

संस्कृत साहित्य में गद्यात्मक कथाओं का आरम्भ विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हो चुका था किन्तु उनकी सचा का पता अभी तक नहीं चलता ।^२ प्राप्त सामग्री के आधार पर साहित्यिक गद्यात्मक कथाओं का इतिहास लगभग छठी शताब्दी के अन्त-वास्तु 'सुबन्धु' के 'वासवदत्ता' नामक ग्रन्थ से आरम्भ होता है । संस्कृत साहित्य में प्रौढ़ गद्य साहित्य की सृष्टि कथाओं तथा आख्यायिकाओं के माध्यम से हुई है । अलंकार-प्रभाव के लिये गद्य यद्यपि उपयुक्त क्षेत्र नहीं है किन्तु संस्कृत साहित्य में ऐसी गद्य रचनाओं का निरन्तर अभाव नहीं है जिनमें अलंकृत शैली का उत्कृष्टतम रूप देख जा सकते हैं । सुबन्धु, वाच तथा दण्डी की गद्यात्मक कृतियाँ गद्य काव्यमयी के भीतर रखी जाती हैं जिनमें तत्प्र-ख्यान अलंकृत काव्यशैली का उत्तमोत्तम नमूने भरे पड़े हैं । अलंकृत-सहित काव्यों की ही मॉति उनमें कल्पना की उड़ान, अलंकारों की योजना तथा माहक प्राकृतिक छटाओं और दृश्यों का विचित्र चित्रण अछिष्ट है ।

'वासवदत्ता' सुबन्धु के कल्पना की ही उपज है जिसका माला श्री प्रसिद्ध आप्ता यिक्क वत्सरान तथा उदयन की प्रेम कहानी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । सुबन्धु के अनु-सार तत्कालीन के लिये अलंकारों का कमलार, रस का प्राप्ति और कथोक्ति का समिवेद्य अत्यन्त आवश्यक है । यही कारण है कि उन्होंने श्लेष और उपमा के प्रयोग में उन्मयन, महामाला तथा हरिवंश की अनेक प्रसिद्ध तथा अन्य प्रसिद्ध घटनाओं तथा पात्रों का प्रचुर

१ यदा भीमो लंकविषंमुमदकोदण्डतिफारे ।

स्थितश्च ब्रह्माप्याकठितसुगन्धपुष्पाग्नितगिरिः ।

तद्वर्षं सुबानो मतिरजति दिग्मण्डलकृपाय ।

धनुर्ग्रमे भूगलपुपरि गिरिलत्र जलधिः ॥ (हनुमत्काव्य १४।१४)

२ 'संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था । कात्यायन ने ४।१।६० सूत्र के अपने शार्दूल (आख्यायिकावाचिकेतिहासपुराणे मन्त्र) में, आकबाग और आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है- 'परन्तु उनकी सचा का पता अभी तक नहीं चलता ।

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' बलदेव उपाध्याय, मू० सं०, पृ० ३३९ ।

निर्देश कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया है। 'वासवदत्ता' में श्लेष शैली का अत्यन्त प्रौढ़ स्वरूप बिलकुलई पक्का है। सुबन्धु यस्तु श्लेष के कवि हैं। इन्होंने सर्ग और अर्मग समय प्रकार के श्लेषों का विन्यास कर अपने व्याख्यान को विभिन्न मार्गों पर एक सतृप्त सदाहरण बनाया है परन्तु उनके श्लेष कहीं-कहीं इतने अप्रसिद्ध, अप्रयुक्त तथा कठिन हो गये हैं कि उन्हें समझने के लिए बिद्वानों का भी दिमाग बखर काटने लगता है।^१ ग्रन्थ के एक प्रसंग में सुबन्धु एक राधा के यश-गुण का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'यह राधा बघोदा अन्वित, नन्द गोप के समान यश और दया से अन्वित या, जरा के द्वारा संगठित अंगवाले राधा चराचर के समान यह सन्धि और विग्रह (पुरु) का सम्पादक या। सदा नम, आकाश में गमन करने वाले (सदा + नमो + ग) शुद्ध के सहस्र यह सग्न ज्ञान तथा भोग से सम्पन्न या।'^२ प्रसन्न श्लेष का इतना रोचक एवं कमनीय उदाहरण काव्यों में भी मिलना कठिन है। चमत्कार-प्रदर्शन की ओर रुचि अधिक होने के कारण कथाकार ने श्लेष अलंकार को तो महत्वपूर्ण स्थान दिया है, इसके अतिरिक्त विरोध, उपमेया, उपमा आदि नाना अलंकारों से भी उसने 'वासवदत्ता' का शृंगार किया है। इनकी अनेक उदाहरणें कन्नड शब्द-साम्य के ऊपर ही प्रसिद्ध हैं। 'रक्त-पाद' होने के कारण कवि ने वासवदत्ता की उपमा व्याकरण शास्त्र से दी है। अष्टाध्यायी का एक पद (४१०) 'तेन रक्तं रागात्' सूत्र से समन्वित है। उपर नायिका के भी पैर रक्तवर्ण के हैं। इस शब्द-साम्य के कारण ही यहाँ उपमा का चमत्कार है।^३ गद्य काव्य के माध्यम से अर्द्धकृत शैली के सफ़ल निर्धार की परम्परा सुबन्धु के इसी ग्रन्थ 'वासवदत्ता' से आरम्भ हुई जो 'बागमह' की काव्यमयी में पहुँचकर अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई। 'हर्षचरित' गद्य शैली में किसी भाषा की एक और व्यापक कृति है जिसका अछिन्न वर्णन कम मोहक नहीं है किन्तु अलंकारों की अर्द्धकृत छान के दर्शन तो हमें उनके 'आत्मरी' में ही होत है।

भाषा में अनेक ऐसे गुण हैं जो अनेक कवियों में नहीं मिल सकते। रामायण, महाभारत आदि किसी भी काव्य को स्वीजिये उनमें सत्-व्यसत् का कुछ न कुछ पक्का है ही किन्तु काव्यमयी में यह बात नहीं मिल सकती। अनेकशरीर शब्दों का प्रयोग तथा अर्द्धकृत शब्दों का सृष्टि भाषा की अपनी विशेषता है जिसने उनकी कृति को अनरत्न प्रदान किया है। 'आत्मरी' शब्द को ही यदि हम में तो केवल ने उसका प्रयोग नायिका के चिह्ने, जो मन्वर्ष राक्ष विनय की कन्या थी, तो किया है, इसके अतिरिक्त उनसे प्रसंगानुसृत काव्य रूप अपना उल्लेख पुष्प-रत्न, मदिरा, हाथी के मस्तक से झरने वाले मद-नीर, एक प्रकार की मादा पक्षी, विरोध प्रकार की माता क्रोध तथा गह्वे में लपकित बरसाती ब्रज

१. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', नृ० सं०, पृ० ३३९।

२. चन्द्रगोप इव यमाद्वयान्वितः जराभरण इव परितःसन्धि विग्रहः मागव इव मदा न भोग वसरय इव सुमिषोपतः सुमग्राधिहितश्च दिङ्घीय इव सुदक्षिणयान्वितः रजितगुहः।
(संस्कृत साहित्य के इतिहास से उद्धृत)

३. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', नृ० सं०, पृ० ३३०।

का भी कार्य किया जा सकता है। शब्द-ध्वन में ऐसी ही कारीगरी कादम्बरी के सम्पूर्ण कथा भाग में विद्यमान है।

संस्कृत साहित्य में प्रकृति-वर्णन का महत्त्वपूर्ण स्थान तो मिथ्य है किन्तु उसके कोमल एवं मृदुल स्वरूप के विषय में ही महाकवियों ने विशेष रुचि किया है जिसका सर्वोत्तम अर्थिक भेद काश्मिरास की रचनाओं को है। यिन कवि-कृतियों में प्रकृति के मयावह तथा रोमांचकारी स्वरूप के वर्णन मिलते हैं उनमें उसके कोमल स्वरूप के दर्शन बहुत कम होते हैं किन्तु बाण की कादम्बरी इसका अपवाद है। इनकी देखनी से प्रकृति के उमय पक्षों का विषय समान रूप से उपलब्धता के साथ सम्पन्न हुआ है। प्रकृति के अनेक दृश्यों के वर्णन को सफ़ल बनाने के लिये उन्होंने नाना अलंकारों की सहायता ली है। उष्मा, उल्लेखा, विरोधामास तथा परिर्वय्या अलंकारों का तो उन्होंने स्वरूप का ही लड़ा कर दिया है। विन्ध्याटपी के अर्धकर रूप का चित्रण बाण ने कितनी सफ़लता के साथ किया है वह सचमुच आश्चर्यजनक है। विन्ध्याटपी गिरि तनया पार्वती, के समान कुसुम (कुसुम नामक वृक्ष के तथा कुश के छाटे-छाटे वृक्षों) को उत्पन्न करने वाली तथा निशाचर से आश्रित है। कभी वह कामिनी के समान चन्दन, मृगमूत्र के सुगन्ध का धारण करने वाली तथा सुन्दर अमर और तिलक (पेड़) से विभूषित है, तो कभी वह उस काम-परायणा उत्कण्ठिता नायिका के समान प्रतीत होती है जिसे पक्षों से पंखा कर आराम पहुँचाया जा रहा हो।^१ इसी प्रकार महर्षि बाबासि के आश्रम का अत्यन्त जीवन्त एवं अलंकृत वर्णन बाण ने कादम्बरी में किया है। विन्ध्याटपी वर्णन में प्रयुक्त शब्दों की निराखी कृता कथाकार के अलंकार वर्णन की क्षमता को प्रमाणित करने के लिये पयात है। वहाँ तिलक का पुष्पों से सजे जंगल अथवा वृक्षों का वर्णन करना इष्ट रहा है उसने केवल उसका बाह्य रूप का ही चित्र नहीं किया है बल्कि उसकी रमणीयता एवं पवित्रता में भी उसका मन रमा है और वह कहकर कि विन्ध्याटपी पुष्पवती होकर भी पवित्र है, उसने श्लेष और विरोधामास की अपूर्व सृष्टि की है।

कादम्बरी में प्रकृति के सम्यक् प्रभाव एवं सौन्दर्य का चित्रण तो हुआ ही है, उसके अतिरिक्त प्रकृति के भावा बलुभी के भी सुन्दर वर्णन मिलते हैं। 'वर्णनों को संश्लिष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये, भावों में तीव्रता प्रदान करने के हेतु बाण ने उपमा, उपलेशा, श्लेष, विरोधामास आदि अलंकारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है, परन्तु 'परिर्वय्या' अलंकार के तो वे सज्जाट प्रतीत होते हैं।

१ अस्ति पूर्वापरजकमिथि वकाचनलगाया मय्यदशार्त्तकारभूया योग्येन मुनौ वनकरी कुसुमद्वयकेकसर्पधर्तिर्तारिबिकचपदकुसुमनिकरभारपुच्छतया तारागममिव सिहरदध कगनुहद्विः पात्रपंचपयोमिता अदकसकुररकुलदधमानमरिचपतया

व्याधानुगम्यमानतरङ्गतारकभूया अधिद्वारीतपतेन धर्मवीरयदावत्क-
धारिवपरिमितवदुक्कपञ्चसंचयापि सप्तपञ्चपिता मूसरवापि मुनिजनसन्निता पुण्य
वत्पपि पवित्रा विन्ध्याटपी नाम।

(कादम्बरी विन्ध्याटपीवर्णन)

बाण के समान किसी अन्य कवि ने शिष्ट परिसंख्या का इतना चमत्कारी प्रयोग क्षायक ही किया है। इन अर्द्धकारों के प्रयोग में बाण के गद्य में अपूर्व जीवन-स्थिति बाढ़ दी है।^१ 'रसनोपमा' तथा 'परिसंख्या' के उदाहरण सटीक तो हैं ही, मनोरम भी हैं—

रसनोपमा का उदाहरण—

कमेत च कृतं मे वपुषि, वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपक्षयेन, नवपक्षय इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकरेण इव मदेन नवबीबनन ॥

'परिसंख्या' का उदाहरण—

यत्र च महाभारते शकुनिपथः पुरगै बाधुप्रलपितं, वयपरिणामे द्विषपतनम्, उपवन चन्दनेषु बाष्पम्, अग्निना सूतिमत्तम्, एणकानां गीतव्यसनम्, शिलाश्विनी वृत्तपक्षपातः, सुवर्गमानां भोगः, कपोतां श्रीफलाभिराधः, मूष्यनामघागतिः ॥^२

'प्रमात' का कितना कठित एवं अर्द्धकृत वर्णन बाणभट्ट ने किया है उतना महाकवि 'माघ' भी नहीं कर पाये हैं। प्रातःकालीन सूर्य की किरणों को केहरि के छन्दे वाली (किर) की उपमा देना तथा अरुणि आकाश को कमल कहना बाण की ही प्रतिमा की छत्र की।^३

१ बकदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० २०, पृ० २५८।

२ 'महाभारत में शकुनि नामक जोड़ा का बच तो था किन्तु शकुनि घाती चिड़ियों का बच कहीं नहीं होता था। बाधुप्रलप प्रकाश केवल 'बाधुपुराण' में ही था अन्यत्र कोई नाबकी बातें नहीं करता था। सुहावे में बाधुनों के दाँत गिरते थे, वे आतिथ्यरुत कभी नहीं होते थे क्योंकि सदाचार की अपूर्व महिमा विराजमान थी। बड़वा (कौरवा मूर्खता) केवल बचक के चमूनों में ही अन्यत्र नहीं। अग्नि ही केवल मत्स्य धारण करती थी, अन्य नहीं। गीत सुनने का मुरा व्यसन सुगों को छोड़कर और किसी में नहीं था। मुरा मोर को छोड़कर और किसी को मियकर नहीं था। भोग (कम) के किये त्याग सपों में ही था, मनुष्यों में नहीं। वानरगण ही श्रीफला (फल) के अनिवादी थे, अन्य लोग कद्दू के कटों (श्रीफला) की इच्छा नहीं रखते थे। कपोतों वृक्षों की बड़ों में ही था, मनुष्यों में नहीं।'

३ 'दक्षिण तु प्रमातसंभारगोहिते रागवत्कमलकिमीनपुरतन्मसस्तपुटे वृद्धस इव मन्दाकिनीपुकिनापपरजकनिधितमवतारति चन्द्रमसि परिप्लवङ्गरोमपाङ्गुलि प्रजति विराकयामासाककाके राजद्विररक्तहरिसयकोमकोहिनीमिरातसुकाक्षिकवत्पुपातका-मिरावामिबीमिरमिदिरकिण्णदीविमिभिः पक्षराजराजाकाकासंसारजीविभिश्च समुत्तार्य-माये रागनकुस्मिकुसुमप्रकरे तारापथे परिभ्रमद्बुकोपवनवराहरवधर्षी मिरिगुह्यसुप्रवृत्तसिंहनादोपहृष्टः कम्पयन्निव तन्मन्मन्गीरधावतार्यमाणोग्रप्रवाह ककककवृद्धो भीतवनद्ववाकणितो भृगयाकोकाइक्ष्वाभिरद्वेषात् । आकर्ष्य च तमदमभुतवर्षमुपगतवेषपुर्भक्तया जर्जरितकर्णविबरो भवद्विदुः समीपमग्निः पितुः प्रतीकावुद्धा वरातिभिरपक्षपुत्राण्तरमभिप्रय । (कादम्बरी)

ऐलक के सामने वर्णन करते समय जब विशेषणों की बाढ़ आ जाती है तो उसके विचित्रित वाक्य सीमा जानते ही नहीं। आरम्भ ही में बाणमह ने राधा छन्दक का वर्णन किया है जो अपने विमुख विस्तार के साथ एक ही वाक्य में समाप्त हो जाता है। छन्दे एवं क्रिष्ट श्लेषयुक्त वाक्यों के प्रयोग एवं अलंकृत शैली के सफ़ल निर्वाह में बाण सम्पूर्ण संस्कृत गद्य साहित्य ही में नहीं, कन्नड क्षेत्र में भी अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। महाकवि होने की उनमें सच्ची सम्मति है और उनकी कदम्बरी में महाकव्य की।

संस्कृत साहित्य की गौरवमयी गद्य काव्यमयी में 'दण्डी' कृत 'दण्डकुमारचरित' का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रन्थ अपने आख्यानों की रोमांचकता तथा कीर्तुहर्म्यता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध है। दण्डकुमार की सरस, मार्मिक एवं छवित शैली को देखकर कहा जा सकता है कि उन्होंने मुक्तनु तथा बाण दोनों में से किसी की भी गद्य-शैली का अनुकरण नहीं किया है बल्कि अपनी मौखिकता के दृढ़ पर एक नवीन गद्य-शैली की उद्घाटना की है, जिसमें अर्थ की स्पष्टता, रस की सुन्दर अभिव्यक्ति, पद्यच्छास्त्र तथा स्वाभाविक विषय पूर्ववर्ती ऐलक मुक्तनु और बाणमह की अपेक्षा अधिक है। 'दण्डी की गद्य-शैली बड़ी ही सुपोष, सरस तथा प्रवाहमयी है। उनका गद्य न तो श्लेष के बोझ से कड़ी दवा हुआ है और न कड़ी समास के प्रहार से प्रवाहित है। उसकी प्रासादिकता दण्डी की निम्नी विक्षेपता है। वे अपनी भाषा को अलंकारों के आबन्धन से सदा दबाते हैं। इसीलिये इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, मंजी हुई और मुहावरदार है।' अलंकृत शैली को अपानाते हुए भी वर्णन की स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखना 'दण्डकुमारचरित' की सबसे बड़ी विशेषता है क्योंकि दण्डी ने स्वाभाविकता को अलंकरण में सर्वप्रमुख स्थान प्रदान किया है। बाणमह की अलंकृत शैली का प्रभाव परवर्ती कवियों एवं आख्यायिका-कारों पर सबसे अधिक पड़ा। 'मनपाठ' कृत 'सिद्धक मंजरी' तथा 'बादीम सिंह' कृत 'गद्य-चिन्तामणि' और वामनमह कृत 'नममूपाध चरित' ऐसी ही रचनाएँ हैं जिनपर 'बाण-मह' की अलंकृत गद्य-शैली का स्पष्ट प्रभाव है। इस शैली का अनुकरण आगे चलकर हिन्दी के भी कुछ गद्य ऐलकों ने किया है 'भामा स्वप्न' जिसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

गद्यकारों की अद्भुत अलंकृत और वर्णन शैली को देखकर ही बाद में का प्रसिद्ध हो गया कि 'गद्य कवीनां निरर्थक बदनित' अर्थात् गद्य की कवियों की कहीटी है। इन गद्य आख्यायिकाओं में अलंकरण शैली का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है।

मुक्तक कवियों का उदय और अलंकरण की वृत्ति

काव्य-परम्परा के रूप में मुक्तकों का विकास प्रथम-काव्यों के बाद में होने पर भी इसका इतिहास अति प्राचीन है। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो कन्नड साहित्य का आरम्भ मुक्तक से ही हुआ। आदि कवि यास्मीक के कष्ट से कविता की परम्परा प्रकट काव्य के रूप में नहीं बल्कि मुक्तक के रूप में ही पृथी थी। अनुगूढ भावों के विषय सर्वप्रथम कविता में मुक्तकों के रूप में ही आते हैं, बाद में कवि अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के उदारे उसे प्रकट अथवा महाकाव्य का स्वरूप प्रदान करता है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए

सन्दर्भ आदि अन्य बाह्य उपकरणों की अपेक्षा न करने वाले तथा अपने वर्ण को व्यक्त करने में स्वतः समर्थ होने के कारण उपवेश तथा नीति सम्बन्धी उक्तियों के लिए मुक्तकों का सम्मान सदैव रहा है। भारतीय साहित्य में उपवेश तथा नीति प्रधान वर्णनों को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण मुक्तकों की अपेक्षा कमी भी नहीं की गई। विदुरनीति आदि ऐसी अमूल्य निधियाँ हैं जिन्हें साहित्य की सीमा से अलग नहीं किया जा सकता और वे सभी मुक्तक काव्यों के अन्तर्गत ही आती हैं। किन्तु शृंगारिक मुक्तकों का विकास, जिनमें अलङ्कारक कवि को महत्वपूर्ण स्थान मिला है, दरबारी सम्मता के प्रभाव में ही हुआ है। जिस औपचारिक अथवा ऐहिकता परक मुक्तकों से हमारा यहाँ तात्पर्य है वे संस्कृत में तो नहीं किन्तु प्राकृत में विद्यमान थी जो बाद में अलङ्कार संस्कृत में भी मिली जाने लगीं। दो प्रमुख ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो मुक्तकों के लिए निरान्त अनुकूल ठहरती हैं। प्रथमतः जब मानव-कल्पना से दूर रहकर अपने मानव सुखम आकर्षण, हर्ष, उन्माद, विपाद एवं प्रेम-कन्ध झुल अथवा पीड़ा का अनुभव करता है तो उसमें सम्पूर्ण एवं तीव्रता तो होती है, किन्तु व्यञ्जक विधान एवं प्रबन्ध-कल्पना की आशा करना ऐसे वर्णनों में अवांछित है, क्योंकि उन्हें न ता ये सब पकड़े आते हैं और न वे पकड़ ही चाहते हैं। वे रचनायें आराधात्मिक रूप में न मिली जाकर कुतूहल छोड़ने में सिद्धो जाती हैं, किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष के चरित्र का अवलोकन लेकर न किसी आकर छोटे-छोटे अपने आप में पूर्ण समय पलों में मिली जाती हैं जिसके प्रभाव स्वरूप आमीर जाति से सम्बन्ध रखने वाली अपभ्रंश भाषा की मुक्तक कविताओं को किया जा सकता है। दूसरे प्रकार के मुक्तकों की रचना उस सामाजिक परिस्थिति में होती है जिसे राजसी शाठावरण अथवा दरबारी सम्मता या राजन्य संस्कृति कह सकते हैं। इस स्थिति में कवि एवं साधक की वे कठिनाइयाँ जो उसकी रचना के प्रकार, प्रकार एवं संरक्षण के क्षेत्र में पड़ती हैं बहुत कुछ दूर हो जाती हैं। राजदरबारों के माध्यम से कवि एवं कलाकारों के बीच की दूरी समाप्त हो गई। एक ही स्थान पर अनेक कवियों का अपनी रचना सुनाने तथा दूसरों की रचनाओं को सुनने का अवसर मिलने लगा, जिससे जीवन भर साधना करके महाकाव्यों की सृष्टि के लिये ही विषय नहीं होना पड़ा बल्कि प्रतिबन्धिता के लिये भी उन्हें पूर्ण अवकाश मिलने लगा। परिणामतः उक्ति वैविध्य तथा प्रभावशालीता की और कवियों की दृष्टि का जाना आवश्यक हो गया, जो मुक्तकों के माध्यम से ही सम्भव था। प्रबन्ध-काव्यों तथा महाकाव्यों की परम्परा कभी ही आ रही थी और उनमें अलङ्कारक की मर्यादा की प्रमुख स्थान भी मिल चुका था, जिससे मुक्तकों के लिये भी तत्कालीन दरबारी रुचि का ग्रहण करना अनिवार्य था। इन्हीं परिस्थितियों में अपनी विविधता के साथ अर्द्धकृत काव्यों के सदृश्यों का समाहित करते हुए मुक्तक-काव्यों की अर्द्धकृत परम्परा उठ खड़ी हुई जिसके साथ उसके पूर्व कथो, नीति, उपवेश तथा शाण-साहित्य का भी विभव होता रहा।

औपचारिक तथा धार्मिक, मुक्तकों के दो मोटे-माटे मेर किये जा सकते हैं। एकदम मुक्तकों के अन्दर प्रेमपरक-भावना, समीचीन सोच, रूप उद्य के रंगीन चित्र, शृंगार की मिश्र-मिश्र अवस्था का धार्मिक चित्र तथा स्पष्ट शृंगार से सम्बन्धित वयन आदि के चित्रण आते हैं और धार्मिक मुक्तकों के अन्दर नीति, उपवेश तथा खोज अथवा विविध देवता की

लुपि आदि से सम्बन्धित कवितायें आती हैं। धार्मिक मुक्तकों का इतिहास 'बिह' से बोझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रमुख साहित्यिक मुक्तककारों में मर्तुहरि का नाम सर्वप्रथम आ जा सकता है।

नीतिशतक, शृंगारशतक तथा वैराग्यशतक मर्तुहरि के तीन प्रमुख साहित्यिक मुक्तक ग्रंथ हैं। नीतिशतक के किचारों में प्रौढ़ता तो है ही, उसकी अभिव्यक्ति इतनी स्पष्ट एवं मार्मिकता है कि पाठक अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। शृंगारशतक में शृंगार के सत्यतः चटकीले वर्णन कवि ने किये हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि नारी की सभी परत नमैं विद्यमान हैं। प्रेमी बनो की कथक मनमृत्तियों तथा उनके प्रदर्शन की सभी भाव-शियों के सुन्दर चित्र 'शृङ्गार शतक' में आये हैं। कवि प्रथिमा का प्रौढ़तम रूप उसके 'वैराग्य-शतक' में दिखाया है पड़ता है जिसमें वह संतोष को परम सुख तथा वैराग्य का कमात्र साधन के रूप में स्वीकार करता है। सांसारिक आकर्षणों में आकण्ड हुआ व्यक्ति जिस प्रकार संतुष्ट एवं वैराग्य से उत्सुक मुक्त की ओर खड़ाई ओलों से देखता है, वही कवि ने अत्यन्त चमत्कारपूर्ण एवं सभीष उक्तिओं के द्वारा व्यक्त किया है। निश्चय ही अन्य हैं जो पर्वत की गुफाओं में बैठकर परम एवं अमल्य व्याप्ति का ध्यान करते हैं तथा उनकी गोदी में बैठे हुए पक्षीगम नेत्रों से प्रवाहित आनन्द के आँसुओं की बूँदों को पिब रहे हैं। किन्तु हमारी आत्मा कामना से निर्मित महल, बावली और उपवन में विहार करते प्रतिदिन खींच होती रहती है। सांसारिक व्याप्ति दिन-रात घूरती की चिन्ता में मग्न पना जीवन व्यर्थ दिवाया करता है।^{११}

अमरशतक के शृङ्गार-मुक्तक संस्कृत साहित्य में बेबोझ हैं। आनन्द वर्णनाचार्य तो उसके एक-एक मुक्तक को पूरे एक प्रबंध के समान करा है। जिसमें मात्र एक ठे प्रबन्ध में दिखाये जा सकते हैं, अमरक ने कवन भाव एक छोट से पद्य में समाया है। वास्तव में इन्हीं ने गागर में सागर भरने की छोकोक्ति चरितार्थ है। इन्होंने प्रेम का जीता-जागता चित्र खींचा है तथा कामी तथा कामि-त्यों की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। ये पद्य क्या हैं ? संस्कृत साहित्य के कमकते हीरे हैं।^{१२}

सुसंस्कृत रसगुह्य रचना हाथ हुए भी अमरशतक के मुक्तकों की रस-बारा में पग-पर अनेक हीरक तथा मुक्तमूर्तियों के सहस्र अक्षरों की शृंखलायें वर्तमान हैं। कवि ने मात्र एक ही मुक्तक में रस का पूर्ण परिपाक करते हुए बिदोपाकि तथा कथमस्ति-से अर्थकारों का सुन्दर उपाहार प्रस्तुत किया है। नायक के साधारण अवस्था पर नायिका मान कर रस के कारण नायक द्वारा उसके प्रति कहे गये प्रीतिपूर्ण वचन उसे प्रपन्न

ध्यातामी गिरिकन्दरेषु बसती ज्योतिः परं ध्यायता-

मानन्दानुसंगम् विचिन्ति सज्जना निशिकमकेताया।

अस्माकं तु मनोरमोपरिचितप्रसादबाणीवद-

कीटाकामनकतिर्कातुहलपामायाः परं कीकते ॥ (वैराग्य शतक)

बकदश उपाध्याय-'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ०, सं०, पृ० १८१।

करने में असमर्थ हो रहे हैं जिस पर सखी नायक से कहती है कि तुम्हारे प्रीति बचनों से मी मानिनी का काब छाँत न होगा, (विनोदोक्ति अर्द्धकार) क्योंकि तुमने ही प्रेम का सहारा लेकर अधिक काब तक काब-प्यार किया है और तुम्हीं ने आज अपराध करके जो उसे बंध कर दिया, वह अत्यन्त स्वाभाविक है (चरमभक्ति अर्द्धकार) अतः अब तक इसे भी खोलेकर कसम स्वर से रो न लेने दिया जायगा तब तक इसका दुःख पूरा नहीं हो सकेगा, क्योंकि यदि यह रा न लेगी तो दुःख के द्वार से इसका हृदय विदीर्ण हो जायगा।^१ इसी प्रकार एक सखी माननी नायिका का समझाती हुई कहती है कि 'हे कठोर हृदये ! यहार देरा मोहनाम नीचा दुःख किये जखी कुरेद रहा है, सखियों ने कुछ साया-पिया नहीं और उनकी आँखें निरन्तर रोने से लब गई हैं, पिंजरे के लोहे ने ईसना, पदना सब छाप दिया है, और तेरी यह इया है, हलकिय, अब मो मान छोड़ दे।'^२ इस एक ही पद्य में कवि ने नायिका के दुःख से उसके साथ सबको दुःखी दिलाकर सहायि, मानिनी के दुःखी होने के कारण प्रियतम, सखी और दुःख का दुःखी बटाकर प्रथम अंतर्गति तथा एक बहाने की भाँट छेकर सखियों को अपना कार्य साधन करती दिलाकर पर्यायाक्ति अर्द्धधारों की योजना की है।

महत कवि हूय 'महत छतक' में अनेक प्रकार के मुक्तक संग्रहित हैं किन्तु उनमें अन्वेषिक की बहुलता है। स्वभावाक्ति, उल्लेख, उपमा तथा अयान्तरन्यास आदि अर्द्धधारों के सुन्दर उदाहरण इस संग्रह से प्राप्त किये जा सकते हैं।

गोवर्धनाचार्ण रचित 'आर्यासप्तशती' प्रथम सर्वश्रेष्ठ रचना है जिसमें गृंगारपरक लौकिक मानवीय भावों की सफ़ल अभिव्यक्ति संस्कृत में कहे जाने वाले आर्या मुक्तक छन्दों में हुई है। प्राकृत भाषा में लिखे मुक्तक छन्दों में एक रचना-संग्रह 'हाळ' हाथ संग्रहित इस प्रकार की मिलती है, जिसका रचयिता एक नहीं, अनेक हैं। किन्तु आर्यासप्तशती एक ही कवि की रचना है जिसने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में लिखे जाने वाले गृंगारिक दाहों का मात्र अपवा काव्यरूप, दोनों क्षेत्रों में समान रूप से प्रभावित किया है। 'इनसे पहले किसी कवि ने इस छन्द को इनने सुचारु रूप से नहीं लिखा था। गृंगार की नाना अवस्थाओं का वर्णन या भाविकता से किया गया है। नागरिक स्त्रियों की गृंगारिक चेष्टाओं का चित्रण जितना बटकदार है उतना ही ग्रामीण महिलाओं की रसमयी स्वाभाविक वस्तुओं से मनोहर है। कवि मानव-हृदय की प्रवृत्तियों का सङ्घा

- १ इकोभ्याः प्रणवसरजैश्च भवता चैव चिरं काविया
 ईवाद्युद्युक्त स्वमेव कृतवाचसा नव विप्रियम् ॥
 मय्युर्ध्वसह एव वात्सुपभ्रमं नौ साम्बवाहीः स्फुटं
 हे निर्विघ्नं विमुक्तकण्ठकरं तापरसखी रोदितुम् ॥ (अमरसतक, ५)
- २ फिखलास्ते भूमि बहिरवनाः प्राणद्विषो
 निराहाराः सख्यं सख्यद्विषोऽप्यमयनाः ॥
 परित्यक्तं सर्वं इमितपठितं पंजरमुद्धे—
 स्वभाववशाचेन विमुक्त कठिने मानमधुना (अमरसतक, ६)

पारखी है। संयोग तथा वियोग के समय कामिनियों के हृदय में जो कल्पनायें झलित खेल किया करती हैं, उनकी परस्पर गोपवर्धन कवि को सूझ है।^१ किसी सुन्दरी की केश-मर देने से कितने ही नवयुवक उसे आकर्षण मानकर अपना हृदय दे बैठते हैं तथा उस-की को पूर्णतः अपना बना लेने के लिए उठावते हो जाते हैं, इसे गोवर्धनाचार्य ने मर्षामोति परखा है। ऐसे ही नवयुवकों के प्रति अपने भाव एक 'आर्षा' में प्रकट करते हुए ने कहते हैं, कि आभी नगर से कहीं छुईं उसने देख मर भिमा है, इतने पर ही तुम उसके हृदय तक पर कम्बा करना चाहते हो, तुम्हारा इस प्रकार से उगड़ी पकड़कर पहुँचा पकड़ना उचित नहीं।^२

अन्योक्ति के तो एक से एक सुन्दर उदाहरण आर्षावसत्रयी में भरे पड़े हैं। दूसरों के इच्छाओं पर तथा हाथों में पकड़कर अनुचित कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिये ही उपदेश स्वरूप आर्षाकार ने शिकारी कुत्ते को माध्यम बनाकर कहा है कि 'ओ शिकारी के कुत्ते! इतमें परिभ्रम और दूसरों की हत्या मात्र ही तेरे हिस्से पड़ेगी। अपने शिकार में जिस हरिण का तू मार रहा है—अभी तुझे दूर हटाकर जोग बौट डेंगे, ऐसी स्थिति में तू क्यों स्वयं दूसरों की हत्या का मागी बनता है।'^३ इस आर्षा के भाव को कविवर विहारी ने अपने एक दोहे में सहज उद्घार किया है।^४ एक नायिका को उद्यत लगाती हुई उसी की असमर्थता के कारण का विषय गोवर्धनाचार्य ने अपनी आर्षा में किया है जिसे देखकर कवि की अनुप्रास योजना की परिपुष्टता का प्रमाण मिल जाता है। उसी छैल्यकर नायक को नायिका से दूर हटकर बैठने का इसलिये आग्रह करती है कि उसके साक्षि के कारण ही नायिका को घरीर साक्षिक रौट से मींग जाता है और वह पक्षा झग कर भी उद्यत झूलाने में असमर्थ हो जाती है जिससे वह घरीर में छिपटा ही रह जाता है।^५

वयदेव के 'रीतगोविन्द' में लोगों को परस्पर मिथाने के लिये तथा क्या की वृत्ता को बनावे रखने के लिये एकत्र बर्णनात्मक पद्य भरे ही आ गये हैं किन्तु सम्पूर्ण कृति में कुछको का ही चमत्कार बिलसाई पड़ता है। विरहिणी राधा का कवि ने बड़ा ही हृदय श्रावक एवं मार्मिक वर्णन अत्यन्त कोमल और आकर्षक शैली में किया है। 'विरहिणी राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा प्रवाहित हो रही है। जान पड़ता है मानों राहु के विषट्ट दाँतों के गड़ जाने से चन्द्रमा से अमृत की धारा निकल पड़ी

१. 'कचदेव उपात्मक, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ. २१०, पृ. २०२।

२. 'विहिताऽलोचनावासव तला हरसि हृदयपर्यन्तम्।

न सुमग समुचितमीदृशमंगुलिवासे मुञ्जं निकसि ॥ (आर्षा ३३९.)

३. 'आर्षासः परहिंसा वैतनिकमारमेय ! तव सारः

रवामपसार्य विभाज्याः कुर्वन् पृथापुत्रैर्भाव्यैः ॥' १०० (आर्षासत्रयी)

४. 'स्वारथं मुकुटं न कमं हृया दम्बं विहंग विचार।

बाहु पराये पानि वरत् पंछीदि न मार ॥' ३३६ (विहारी)

५. 'सुमगं स्वजनविचाकनविपिकमुद्राभूदियं वचस्थानि।

उद्धर्तनं न सख्याः समाप्यते विविद्वन्तरत्न ॥ ६९० (आर्षासत्रयी)

है। प्रेम की उदात्त एवं ममत्पर्यायी भावना की अपूर्व व्यञ्जना को कवि ने की है, साथ ही साथ उपमा की बहुल कल्पना तथा उल्लेखों की इतनी जँबी उड़ान उल्लेखी रचना को अर्द्धकृत शैली की कुछ थोड़ी सी इनी-गिनी रचनाओं में विद्यमान के स्थिते पर्याप्त है।

निवेदन किया जा चुका है कि इन लौकिक, गंगारिक मुक्तकों में नीति तथा उपदेश प्रधान मुक्तकों के साथ ही साथ स्त्री मुक्तक भी बराबर मिले जा रहे थे जिसमें 'शिवमहिमा स्तोत्रम्', 'सूर्यशतक', 'ज्योतीशतक', 'सौन्दर्यलहरी', 'मुकुन्दमासा स्तोत्र', 'आल-मन्दार स्तोत्रम्' अथवा 'स्तोत्ररत्न', 'हृषीकेशाष्टक' 'अयोध्या-सहस्र', 'वैष्णवनाम' तथा 'मार्मिनीविलास' मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त शैव, वैष्णव तथा बौद्ध नाम से अनेक नाम मिले हुए हैं जिनमें काव्यात्मकता की अनेक उपदेश अधिक हैं।

महो ने माना प्रकार से भगवान् की आराधना की है तथा उसके अलौकिक मोहक रूप की नाजा कल्पनायें भी की हैं किन्तु सबसे एकता इस बात की रही है कि वह अपने अलौकिक-मूर्ति रूप की अभिव्यक्ति उसके सामने करनी चाहती है। आनन्द-विमल हाकर उन लोगों ने जिन मानों को बाणी दी है, वे संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि बन गये हैं। व्यवहार्य पुष्पदन्त, जिन्हें ही कुछ छोटा 'शिवमहिम्न' स्तोत्र का रचयिता मानते हैं, भगवान् शिव की स्तुति में असीम साधनों को अपनी कविता में सीमित करना चाहते हैं। मयूरमह का समस्त साहित्य का यह काव्य था जिसमें 'कादम्बरी' ऐसी अर्द्धकृत रचना का उदाहरण था और अनेक विद्वानों ने तो ठीक वाचस्पति का सगा-सम्बन्धी भी माना है जिससे उनके 'सूर्यशतक' में अर्द्धकृतों का उत्तमोत्तम प्रयोग हुआ है। 'मयूर' मुख्यतः 'शब्दों' के समतल पर ही दस दसते हैं जिससे वामकृत तथा नोफ-शोक के शब्दों की योजना में बेबोद है। वाचस्पति कुछ 'ज्योतीशतक' के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही स्मर्य है, वे तो अर्द्धकृत शैली के सम्राट् ही हैं। उनकी 'ज्योतीशतक' छन्दो-रसने समाप्त तथा अनुमात्र, उल्लेख आदि अर्द्धकृतों से मरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त अन्य स्त्री काव्यों में भी अर्द्धकृत शैली का स्पष्ट प्रभाव ठीक समझ लेते हैं जब कवि अपने आद्यप्य की श्रद्धा, कवि अथवा यश का वर्णन करने लग जाते हैं। भगवान् हाकर का गुण-गान करते हुए कवि लिखता है कि 'नीतिगिरि के समान यदि कभी सारी ह, समुद्र दाशव ह, कल्प हूँ की दाह डेलनी हो, यह विद्याल हूँ की कागव ह, इन उपकारों से मुक्त हूँ कर यदि मालती सरस्वती सदा आपक गुनी को हिन, तो भी हे भगवान्। यह आपक गुनी की सीमा तक नहीं पहुँच सकती।' ¹³

१ वहसि च बहसि-विजोचन-वहसर-भानन-कमलमुद्राम् ।

विजुमिह विह्व विजुमुह-दन्त-दहन-महिमाश्रुतधाम् ॥

(गीतगोविन्द)

२ असितगिरि-सर्ग काव्य काव्यं सिन्धुपात्रे, मुरतस्मरहाला डेलनी पत्रमुर्वी ।

किञ्चित् यदि गृहीता आरदा लवकाह, तदपि तत्र गुणानामिहा वारं च वाति च

(शिवमहिम्ना स्तोत्र)

काव्य-शास्त्र में अलंकार का स्थान

शास्त्र और काव्य वाङ्मय के मुख्य दो भेद हैं। काव्य-ज्ञान के लिये शास्त्र-ज्ञान उतना ही आवश्यक है, जितने में पद्य वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये कितना हीफ। जिससे काव्यों का अध्ययन करने के पूर्व काव्य-शास्त्र का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। आरम्भ काव्य का अत्यन्त व्यापक अर्थ दिया जाने लगा है और उसका प्रयोग बहुधा साहित्य के सामान्य अर्थ में भी होने लगा है किन्तु आरम्भ में काव्य से केवल कविता का ही अर्थ दिया जाता था। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में अलंकार शास्त्र का सम्बन्ध सदैव कविता से ही रहा है। पाश्चात्य साहित्य में स्थिति ठीक इसके प्रतिकूल है। इस क्षेत्र में अभी तक कितनी लिखित एवं प्रकाशित सामग्री प्राप्त हो चुकी है उसमें काव्य-शास्त्र पर किसी 'अरिस्टाटिल' की 'पोइटिक्स' सबसे प्राचीन रचना है जिसमें उसने काव्य की व्यापक विशेषताओं की चर्चा की है। उसकी दूसरी पुस्तक 'रिटोरिक' (Rhetoric) प्रथम पुस्तक 'पोइटिक्स' (Poetics) से किस्तुत निम्न है जिसमें उसने केवल गद्य सम्बन्धी विषय, शैली, भाषा, मति तथा अलंकार आदि पर विचार किया है। इस प्रकार उसने अलंकार-शास्त्र का सम्बन्ध गद्य साहित्य से तथा काव्य-शास्त्र का सम्बन्ध कविता अथवा पद्य से स्थापित किया। किन्तु संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य की शास्त्र सम्बन्धी भारवा पाश्चात्य साहित्य से किस्तुत निम्न है और यहाँ तक कि प्राचीन काल में ही अलंकार शास्त्र ही को काव्य-शास्त्र माना जाता रहा। क्योंकि काव्य के दक्षिण पक्ष-काव्य में ही विशेष रूप से विद्यमान रहते हैं। काव्य के विभिन्न स्वरूपों का व्यापक विवेचन करने वाले नाट्य शास्त्र, काव्यालंकार, काव्या वृत्त, ध्वन्यालोक, काव्य-मीमांसा, काव्य-प्रकाश प्रभृति ग्रन्थों को अलंकार-ग्रन्थों के नाम से ही निर्दिष्ट किया जाता है और इन सभी के विषय को अलंकार-शास्त्र की संज्ञा दी जाती है।^१ किन्तु यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि अलंकार-शास्त्र से एकमात्र अर्थ अलंकारों के विवेचन का ही निकलता है। काव्य के स्वरूप एवं उसकी रचना-प्रक्रिया तथा उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले शास्त्र को अलंकार-शास्त्र नहीं बल्कि 'काव्य-शास्त्र' ही कहना उपयुक्त है। इसमें तन्त्रेह नहीं कि अलंकार-शास्त्र काव्य-शास्त्र का ऐसा महत्वपूर्ण अंग है जिसके अभाव में उसका वैभव नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। आरम्भ से ही कविता के अन्तर अलंकारों की महान् प्रतिष्ठा रही है किन्तु उन्हें सौन्दर्य यन्त्र के साधन के रूप में ही स्वीकार दिया जाता रहा, न कि काव्य के रूप में ऐसा भाग चलकर कुछ कवियों ने करना आरम्भ कर दिया है। काव्य से जब तक कविता मात्र का बोध होता रहा, तब तक अलंकार-शास्त्र को ही काव्य-शास्त्र के रूप में स्वीकार दिया गया किन्तु काव्य शब्द की व्यापकता के साथ ही साथ काव्य शास्त्र और अलंकार-शास्त्र का वैभिन्न स्वीकार किया जाने लगा। अलंकार-शास्त्र की सीमाओं का उल्लेख किया जा चुका है। 'काव्य शास्त्र' का प्रयोग इस वैज्ञानिक निरूपण के लिये कर सकते हैं जिसमें काव्य अथवा कविता के स्वरूप, भेद, समस्याओं आदि पर व्यापक रूप से विचार किया गया हो। इसमें किसी भी भाषा की कविता के व्यापार पर उसका स्वभाव निरूपण, प्रवृत्ति निर्धारण

आदि से लेकर ऐसे सर्वैकाग्र्यीन सिद्धान्तों तक का समावेश हो सकता है जोकि अभिष्य में होने वाली रचनाओं के पत्र-प्रवर्णक बन सकें^१। साहित्य धर्मरसा का यह महत् कार्य काव्य-शास्त्र अपने किन विभिन्न शास्त्र भंगों के माध्यम से सम्पन्न करता है उन्हें विद्वानों ने रस, अलंकार, रीति, कलाकृति, ध्वनि तथा आनन्द छः सम्प्रदायों में विभक्त किया है।

रस-सम्प्रदाय

काव्य-शास्त्र सम्बन्धी प्राप्त ग्रन्थों के आधार 'मरुत्मुनि' का 'नाट्य-शास्त्र' ही अनेक दृष्टियों से काव्य-शास्त्र का सिद्धा प्रथम ग्रन्थ है। जैसे तो राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्य मीमांसा में इसकी उत्पत्ति का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। प्रथम दृष्ट पर ही उसने लिखा है कि 'मरुत्बान् शंकर ने इस काव्य विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेश्वर, वैकुण्ठ आदि सौसठ शिष्यों को दिया था—उनमें से प्रथम शिष्य स्वस्म्य-ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न शिष्यों कृपियों को दिया किन्तु इसका प्रचार हुआ।'^२ मूलतः यह प्रसन्न अवस्था उठ लड़ा होता है कि अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ कौन-सा है। आधुनिक युग के कुछ क्लेशकों ने अग्निपुराण का अलंकार-शास्त्र का प्रथम और मौखिक ग्रन्थ माना है। किन्तु ऐतिहासिक अर्थगतियों के कारण अग्निपुराण अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र का मौखिक ग्रन्थ नहीं ठहरता। 'माखी रीति' के सम्बन्ध में मत प्रकट करते समय अग्निपुराणकार ने लिखा है कि इसका नाम इसका वन्द्यदाता 'मरुत्' के नाम पर ही पड़ा है।^३ 'मरुत्मुनि' ने भी स्वीकार किया है कि उन्होंने ब्रह्मा की आज्ञा से चार कृषियों ब्रह्मर्षि, विश्वसे बह सम्प्राप्त हो जाता है कि अग्निपुराणकार के सम्मुख मरुत् का नाट्य-शास्त्र अवस्थ था। यदि सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्र नहीं भी था तो इसका वह अंश था अवश्य ही था जिसमें कृषियों का प्रसंग है। अग्निपुराण के अन्दर अनेक ऐसे छन्द भी आये हैं जो मरुत् के नाट्य-शास्त्र में पाये जाते हैं। अनेक कारणों अथवा तर्कों के आधार पर मरुत् का नाट्य-शास्त्र ही काव्य विद्वान्त का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ठहरता है।

मरुत् के समय में नाटकों का हो बलशाला था। इसलिये मरुत् ने नाट्य-रस का ही विस्तृत व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रस-सम्प्रदाय के मरुत् मुनि सर्व प्रथम आचार्य हैं और उनका नाट्य-शास्त्र काव्य-शास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ हल के कारण, रस-सम्प्रदाय काव्य-शास्त्र के अन्य सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। मरुत् के नाट्य-शास्त्र से यह भी प्रकट होता है कि उसका भी पूरा रस की चर्चा होती थी। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में अलंकार का सम्बन्ध विशेषतः कविता से ही माना गया है और अधिक दिनों तक रस को नाटकों का ही विषय माना जाता रहा। काव्यों में रस की स्वतन्त्र स्थिति सबसे पहले आचार्य बट्ट ने स्वीकार की क्योंकि मरुत् ने रस विवेचन के स्थिर मुख्यतः नाटकों को ही लिया है। जिसमें उन्होंने शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीरसूत तथा रौद्र आठ रस स्वीकार किये हैं। नाट्य-शास्त्रकार ने इस पर ही विशद बख्श दिया है कि

१ डा० अमीर, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', प्र. सं०, पृ. ४५।

२ 'मरुतेन प्रणीतवाह्य मारुती रीतिरुच्यते।' (अग्निपुराण)

नाटक का प्रमुख ध्येय रस का अनुभव करना है, किन्तु काव्य के क्षेत्र में इस विचार को स्वीकृति बाद में बखतर मिली। रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रस को ही काव्य का प्रधान गुण-धर्म माना जाता है और असेकारों की उपमागिता बरस उसके सौन्दर्य वर्द्धन के लिये ही स्वीकार की जाती है। असेकारों के अभाव में कविता रची जा सकती है किन्तु रस से हीन सुन्दर कविता की कल्पना नहीं की जा सकती। 'यदि कहीं स्पष्ट रूप से असेकार न मिले तो भी वहाँ रसादि क होने से काव्यत्व में कोई कटि नहीं हुआ करती'।^१

कविता का सम्बन्ध कितना हृदय से है उसका बुद्धि से नहीं बल्कि उसके प्रभाव भावात्मक ही होता है, विचारधर्मक नहीं। मानव मन की कुछ ऐसी स्वाधी प्रवृत्तियाँ होती हैं जो उसके अन्तर्मन में सदैव विद्यमान रहती हैं, जिन्हें छद्म रूप में जानना कठिन होता है किन्तु अवसर आने पर वे सुप्तावस्था में ही नहीं पड़ी रहती बल्कि परिस्थितियों की प्रेरणा पर वे अत्यन्त सक्रिय एवं जागरूक हो जाती हैं। आधार पहुँचाने वाली ये परिस्थितियाँ सांसारिक और काव्यात्मक दो प्रकार की होती हैं। काव्यमयी अनुभूतियाँ ही जब सुप्तावस्था में पड़ी अन्तर्दृष्टियों का सक्रियता कर सक्रिय कर देती हैं तो रसानुभूति ज्ञान व्याप्य जाती है। 'रसानुभूति का जंग मानवैश्वानिक है। स्थायी प्रवृत्तियाँ, स्थायी भाव कहलाती हैं। काव्यसाध परिस्थितियाँ जो स्थायी भावों को जगा देती हैं विभाव कहलाती हैं। आनन्दमय के द्वारा भाव आपन होते हैं और 'उद्घोषन विभाव' के द्वारा उत्तेजित होते हैं। स्थायी भावों के व्यतिरिक्त अन्य भाव जो हमारी रसानुभूति के सहायक होकर आते-जाते रहते हैं 'उपचारी भाव' कहलाते हैं, और भिन चैष्टाओं, क्रियाओं या चिह्नों से आन्तरिक 'स्थायी भाव' का प्रकटन होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं'।^२ इन्हें ही 'रस' के मुख्य अंगों के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसे नाट्य-शास्त्र में मल्लमुनि ने भी स्वीकार किया है। मल्ल ने विभावानुभाव तथा भूमिचारी भावों के संयोग से ही रस की निष्पत्ति मानी है^३, जिसके ही आधार पर आगे बखतर रसानुभूति के विषय में अनेक छिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई है। जिसके उदाहरणों में ब्रह्म, मह ब्रह्महृद, संकुच, मह नायक तथा अभिनव गुप्त के नाम प्रमुख हैं जिनमें अन्तिम चार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मर्जों को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

ब्रह्म उन आचार्यों में प्रथम हैं जिन्होंने काव्य-शास्त्र को विवेचन के अन्दर रस को स्थान दिया।^४ उसने मल्ल के गिनाये आठ रसों में 'प्रेमस' और 'शान्त' दो रसों का बाण्डर उनकी संस्था रस कर दी। रसानुभूति के व्यापारों को स्पष्ट करने का किसी भी प्रकार का

१. 'दोषाद्यगुणादकाराः कश्चन्ये अपीत्यनेनैवसर्वत्र सादकारो
इति तु सुव्यासकारविद्वांसि न काव्यत्वमिति।' (काव्यप्रकाश ।)
२. डा० भगीरथ मिश्र, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', प्रथम संस्करण १०० पृ० १०।
३. 'विभावानुभावभूमिचारीसंयोगादसंविपत्तिः'। (भरत नाट्य-शास्त्र, अध्याय १)
४. Rudrata on the other hand seems to be the earliest writer who explicitly includes the Rasa in his treatment of poetics and devotes four chapters to its discussion. 'History of Sanskrit Poetics by B. K. Das. Vol. II

प्रयत्न बहुत के सिद्धान्त में नहीं दिखाई पड़ता। जिसको स्पष्ट करने का प्रथम भेद यह होसक्य को ही है। महानुभूत का कार्य अन्य उपसंग नहीं होता जिससे हमें कथम अमिन्य गुण की व्याख्या में आने उदरगो पर ही सन्तोष करना पड़ता है। वे विमान और रस में अमर-अमर का सम्बन्ध मानते हैं। 'विमान इत्यादि कारणों से रात इत्यादि मात्र वृत्त होते हैं और अनुभावों के द्वारा वे प्रतीति-योग्य होते हैं और इस प्रकार अमिनेता में भी रस की प्रतीति होती है। इस प्रकार के विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि अमिनेता में यह मात्र प्रतीति कैसे होती है और फिर उनको दूरने से वृत्त के द्वय में रसानुभूति किस प्रकार से होती है? विमान और रस का सम्बन्ध भी होसक्य के द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया है।^१ जिसे होसक्य ने अपने 'अनुभूति' सिद्धान्त की पूर्णता का संकेत करते हुए उसका खंडन किया और रस को कार्य स्वयं न मानकर 'मरत' की 'रस-निष्पत्ति' को 'अनुभूति' का रूप में स्वीकार किया है जिसके अनुसार वृत्त अमिन्य का द्वारा स्थायीभाव का अनुमान लगा केत है। एवं 'विमल वृत्तान्ताव' भी कहा गया है जिससे बाड़े के विमल से बाड़े का बाव हा बाठा है। महानायक में इसकी तीन अवस्थाएँ मानी हैं, जिसके अनुसार रस बाव होता है। इन्हें उसने अमिना जिसके द्वारा अर्थ स्पष्ट होता है, मात्रकत्व जिसके द्वारा 'साधारणीकरण' होता है इसे 'रस भावना' भी कहते हैं और मात्रकत्व जिसमें 'विमान' का द्वारा रस-निष्पत्ति होती है, आदि नाम दिये हैं। अमिन्य गुप्तानां का सिद्धान्त 'अमिन्पत्तिवाद' कहलाता है। इन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहा है कि महानायक का मोक्ष, रसास्वादा रसानुभूति एक ही है उसे मिश्र नहीं माना जा सकता।^२ इस प्रकार से वृत्तों के द्वय में आ मनाधिकार वासना के रूप में उपस्थित रहते हैं वही मात्र विमान के संयोग से व्यञ्जना-भाष के साधारणीकरण या विभावना व्यापार से जाग्रत होते हैं वही रसास्वाद की अवस्था होती है।^३ इनके सिद्धान्त की जो सबसे बड़ी सफाई है वह यह कि वह मात्र और अम्य दोनों पर समान रूप से लागू हुआ। सामुद्रिक और दिग्गम्य इस सम्प्रदाय का अन्तिम प्रमुख लेखक है जिसमें विद्वानाय ने ता स्पष्ट पापना कर दी है कि 'रस' ही काव्य की आत्मा है।^४ इसका अतिरिक्त उन्होंने 'वाचस्प' की नीति रस स्वीकार करने का समर्पण किया है। दूसरी ओर गोदीव वैष्णव ता 'मधुर' रस का ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रधान रस मानते हैं।

काव्य में रस को महत्वपूर्ण स्थान दिखाने बाधों में 'वाचस्प' का नाम कम महत्त्व नहीं रखता।^५ 'वाचस्प' को शरीरधारी व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर उसके अंग-प्रत्यंग का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। संस्कृत भाषा मुख है प्राकृत भाषाएँ मुखार्य हैं। अपभ्रंश भाषा अंधा है। विशाख भाषा करण है और मिश्र-भाषाएँ वक्षस्थल हैं। तू सम, प्रसन्न, मधुर, वदर और

१ डा मरीरय मिश्र, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' प्र० सी० पृ० २१।

२ डा मरीरय मिश्र, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', प्र० सी० पृ० २२।

३ 'वाचस्प रसाध्यकं काव्यम्' (आदिशब्दार्थ विवरणाय।)

अज्ञेय है। तेरी बाणी उत्कृष्ट है। उस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। मदनोत्तर गेहलो, समझा आदि तेरे धार्मिकोत्तर हैं और अनुप्रास, सपना आदि तुझे अलङ्कृत करते हैं।^{११} इस प्रकार उन्होंने 'मरठ' के सिद्धान्तों का बड़ी ही सावधानी एवं रोचकतापूर्वक अधिकारी से समर्थन किया है। इस प्रकार 'रस सम्प्रदाय' के महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेने के पश्चात् अलङ्कार सम्प्रदाय का गठन हुआ। ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से अलङ्कार सम्प्रदाय 'रस' सम्प्रदाय के ठीक बाद ही आता है, किन्तु इसकी जड़ों अन्त में श्री बाणसी।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय की स्थापना होने के पूर्व भी 'रीति' का अस्तित्व था। 'मरठ' के नाट्य-शास्त्र में 'रीति' का प्रत्यक्ष विवेचन तो नहीं मिलता किन्तु उसमें विभिन्न देशों में प्रचलित तार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है^{१२}। परन्तु नवीं शताब्दी के मध्य में इसे सम्प्रदाय का रूप लेना आचार्य 'बामन' का ही कार्य था। 'रीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले बामन ने किया। वेता कि शीघ्र ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है, रीति शब्द रीढ़ बाट से बना है— सच्य व्युत्पत्ति अर्थ है गति, मार्ग या प्रस्थान, और रूढ़ अर्थ है पद्धति, विधि आदि। अन्त से पूर्व दण्डी ने और बामन के उपरान्त कुन्तक आदि ने 'रीति' के सिद्धे मार्ग शब्द में ही प्रयोग किया है^{१३}। 'बामन' और 'दण्डी' ने यद्यपि 'रीति' की जड़ों की ओर किन्तु से परिभाषित करने का एकमात्र शब्द 'बामन' को है। विविध पद-रचना से रीति का अर्थ स्पष्ट हो चुका उन्होंने 'रीति' को ही काव्य की आत्मा माना है^{१४}। बामन के अतिरिक्त 'मानन्द वर्णन', 'राजदोस्तर', 'कुन्तक', 'मान', 'मम्मट' तथा 'विशनाथ' आदि आचार्यों ने भी 'रीति' में परिभाषा की है।

'रीति-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत गुण और अलङ्कार की वृक्ष-सूच्य का निर्देश किया जा है। 'बामन' ने गुण और अलङ्कार का अन्तर स्पष्ट नहीं किया है तथा दण्डी ने काव्य शोभाकारक समस्त धर्मों अर्थात् गुणों को भी अलङ्कार शब्द से ही अभिव्यक्त किया है। किन्तु 'बामन' ने काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा 'गुणों' को कहीं अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसने काव्य के शोभाकारक धर्मों को 'गुण' तथा अतिशयता प्रदान करने वाले धर्मों को अलङ्कार माना है। काव्य में 'गुण', अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान

राजदोस्तर, 'काव्यमीमांसा', बिहार सम्प्रदाय, पटना हाथ प्रकाशित, पृ० १७।

चतुर्विधा प्रवृत्तिम मोक्ष नाट्यप्रयोगतः।

आवस्ती दक्षिणात्मा च पञ्चाङ्गी श्रीरामायणी। १७१६ (काव्य-शास्त्र)

का० मनोज्ञ, काव्यालङ्कार सूच्य भूमिका भाग, पृ० ३०।

विशिष्टपदरचना रीतिः। १११० (काव्यालङ्कार सूच्य)

रीतिरामा काव्यस्य। १११६ (काव्यालङ्कार सूच्य)

'काव्यशोभायाः कठोरो धर्मोः गुणाः।

तद्विशिष्टपदरचनायाः' (बामन काव्यालङ्कार ११११-२)

रखता है क्योंकि वह काव्य का नित्य धर्म है। बिना उसके काव्य की शोभा उत्पन्न ही नहीं हो सकती^१।

आगे के विद्वानों ने यद्यपि 'रीति' सिद्धान्त को तद्वत् स्वीकार नहीं किया, फिर भी इसके द्वारा किया गया अष्टाङ्ग और गुण का भेद काव्य-शास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 'अष्टाङ्ग सम्प्रदाय' की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की व्याख्यान दृष्टि गहरी तथा पैनी पीछ पड़ती है। मामह आदि ने तो रस को अष्टाङ्ग मानकर उसे काव्य का बहिर् रंग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने क्रान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्निर्देश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने ब्रह्मेति के भीतर अग्नि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति-सम्प्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है^२। प्राचीन आष्टाङ्गिकों में 'वामन' ही सबसे कम अष्टाङ्गों का निर्देश करते हैं। उन्होंने सब अष्टाङ्गों को ही 'उष्मा' अष्टाङ्ग पर अवलम्बित माना है और उन्हें 'उष्माप्रपञ्च' नाम से पुकारा है। अष्टाङ्ग सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय में काव्य-सिद्धान्तों का विशेष विचार व्यक्त होता है, इसमें सन्देह नहीं।

'वामन' ने शब्दगत तथा अर्थगत दो भेद करके 'प्रत्य' के 'नाट्य-शास्त्र' में आये दस गुणों की संख्या रखे, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अयम्यति, उशरता, क्रान्ति इगुनी कर दी है। और इन दस गुणों की आवश्यकता उन्होंने 'वैदर्भीरीति' के छिमे स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त 'वामन' ने गौड़ी के छिमे 'ओज' और क्रान्ति की, 'पांचाली' के छिमे माधुर्य और 'प्रसाद' की तथा स्वीकार की है।

क्योंकि सम्प्रदाय

संस्कृत साहित्य में ब्रह्मेति शब्द का प्रयोग नया नहीं है, बल्कि अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचल आ रहा है। अष्टाङ्गों के क्षेत्र में ऐतिहासिक दृष्टि से ब्रह्मेति की कल्पना 'मामह' से आरम्भ होती है जिसे उसने अतिशयाधिक के अन्तर्गत माना है^३। आचार्य 'दण्डी' ने भी 'मामह' की ब्रह्मेति कल्पना को स्वीकार किया है और उष्मा आदि अष्टाङ्ग तथा रसबद्ध, प्रेमादि रस संकट अष्टाङ्गों को ब्रह्मेति के अन्तर्गत ही माना है। उनके अनुसार 'रूपेण' की लक्ष्यता से ब्रह्मेति में और भी समत्वर आ जाता है^४। 'वामन' का ब्रह्मेति वर्णन 'मामह' से बिल्कुल भिन्न है, वे उसे अष्टाङ्गों का सामान्य मूलभूत आधार न मानकर

१ 'हृदं दित्याः पूर्वे गुणाः नित्याः। तस्मिन्नाकाव्यसोभानुपपत्तेः।'।

काव्याष्टाङ्ग, ३।१।३ 'हृति'

२ ब्रह्मेव उपाध्याय 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ३०, पृ० ५९३।

३ 'सैवा सर्वत्र ब्रह्मेतिरन्यथाभ्यो विभाष्यत।

यद्योऽस्या कविना कार्य कोऽष्टाङ्गान्यपादिता ॥' १।८५ (काव्याष्टाङ्ग)

४ 'इदं च सर्वान् पुण्याति प्राया ब्रह्मेतिषु भिद्यम्।

मिथ्या द्विधा स्वभावोक्तिर्ब्रह्मेतिषु बाध्यम् ॥' १।९६३ (काव्याष्टाङ्ग)

अपौरुषकारों में ही परिगणित कर देते हैं। वे इसे सादृश्य के ऊपर आधारित होने वाली कल्पना के रूप में स्वीकार करते हैं^१। 'उदर' के समय में तो आकर यह एक शब्दार्थकार ही बन गया जिसके द्वारा श्रोता किसी के वाक्य को सुनकर उसके किसी शब्द को मित्र अर्थ में ग्रहण कर अप्रत्याशित तथा अदृश्य उत्तर दे बैठता है।^२ बक्रोक्ति को काव्य की आत्मा प्रमाणित करने का श्रेय आचार्य कुन्तल को ही है, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'बक्रोक्ति जीवित' क द्वारा उसे एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का स्वरूप प्रदान किया। "कुन्तल के अनुसार काव्य इस कवि कौशलपूर्ण रचना को कहते हैं जो अपने शब्द-सौन्दर्य के और अर्थ-सौन्दर्य के अनिवार्य सामंजस्य द्वारा काव्य-ममत्ता को अङ्गवत् होती है।"^३ उनका मत है कि शब्द और अर्थ अलंकार होते हैं तथा प्युष्या पूर्ण ऐसी से कवन रूप बक्रोक्ति ही शब्द तथा अर्थ का अलंकार होती है।^४

स्पष्ट रूप से आचार्य कुन्तल ने स्वीकार कर लिया है कि बक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है।^५ अतः जहाँ पर अनुसूचित का उगाना इस का काम है वहाँ मन का रञ्जन बक्रोक्ति द्वारा ही सम्भव है।^६ इसमें सन्देह नहीं कि अपने विषय के प्रतिपारन तथा सिद्धान्त के स्थापन में आचार्य कुन्तल ने अपनी मौखिक प्रतिभा, मार्मिक वृत्त-वृत्त तथा गहरी पैठ का परिवर्ष दिया है किन्तु इस सम्प्रदाय के रूप में न स्वीकार कर अलंकार शास्त्र की एक शाखा के रूप में ही स्वीकार करना समीचीन जान पड़ता है।^७

१ 'सादृश्यालङ्कारा बक्रोक्तिः। बहुविधं हि निबन्धनाभि लक्षणायां। तत्र सादृश्यात् कल्पना बक्रोक्तिरिति। असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न बक्रोक्तिः।

(नामक—काम्यार्थकार ३।१।८ सूत्र की वृत्ति)।

२ 'अपौरुषेयसी बुद्धि' धारणा तत्र निर्मिता।

त्रिविधा भूयते तुर्दिर्न तु बाह्यसमी क्वचित्॥

(काम्यप्रकाश उपकाश ९)

३ डा० गोपब, हिन्दी बक्रोक्तिजीवित सूचिका भाग, पृ० १९।

४ उमादेतावर्तकारों तयोः पुनरलङ्कृतिः।

बक्रोक्तिरेव वैदृश्यमपीममिति विन्यस्यत ३।१।० (बक्रोक्ति जीवितम्)

५ "The central idea in Kuntala is that the 'vakrokti' is the essence (jivita) of poetry and by 'vakrokti' he understands a certain striking or charming (Vichitra) mode of expression (vinyasa krama), which is different from or exceeds the commonly or matter of fact expression of... .. also and ideas in the sastra." B. K. De-II of B. P. P 238

६ डा मनीरय मिश्र, 'हिन्दी काव्य साध का इतिहास', पृ० १९१, पृ० २९१।

७ "The vakrokti school is really an off shoot of the Alankara School and need not be separately recognised."

F. C. IV" Introduction to Sahitya Darpan—P. V. Kane.

ज्वलि सम्प्रदाय

ज्वलि सम्प्रदाय के आचार्य 'ज्वलि' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। जिस स्थान पर 'अर्थ' स्वयं और शब्द अपने अतिशेय अर्थ को गौण करके एक विशेष अर्थ की सृष्टि करता है, काव्य की उस स्थिति को विद्वानों ने ज्वलि का नाम दिया है। नवम शताब्दी में आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे सम्प्रदाय का रूप प्रदान किया, यद्यपि अन्य सम्प्रदायों की भाँति इसका भी बन्म संस्थापक के बन्म के पूर्व ही हो चुका है। आनन्दवर्धन ने एक स्थान पर (ज्वलाश्लोक १।१) स्वीकार किया है कि 'काव्य की आत्मा ज्वलि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है।' निश्चित ही अनिकार को ज्वलि विद्वान्त की प्रेरणा पैदा करने के स्पष्ट विद्वान्त से मिली है। 'अर्थात् वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कार पूर्ण हो, वही ज्वलि काव्य कहलाता है।'^१

आचार्य आनन्दवर्धन ने शुक्तियों के सहारे व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की है और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर दी है। ज्वलिकार आनन्दवर्धन के पूर्व ज्वलि के सम्बन्ध में तीन मत थे—अभाववादी, भक्त्यादी, अनिर्वचनीयवादी, जिसका ज्वलिकार ने अपने तर्कों से खंडन किया है। रस, वस्तु तथा अलंकार ज्वलि के तीन मुख्य भेद हैं। अलंकार के इतिहास में 'ज्वलि' की कल्पना बड़ी सुलभ बुद्धि की परिचायिका है। ज्वलि के चमत्कार को पाश्चात्य आलोचक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइडन की उक्ति—
(more is meant than meets the ear) ज्वलि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। ज्वलिकारी विद्वान्तों के व्यवस्थापक शील पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्य-तत्वों की सुन्दर सन्तुष्टि व्यवस्था कर दी है।^२ ज्वलि विद्वान्त द्वारा रसानुभव की प्रक्रिया-समझी एक समस्या इस हुई। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने प्रमुख आनन्दवर्धन और अमिनचगुप्त से 'ज्वलि' को काव्य की आत्मा मानते हुए भी वस्तुतः रस का ही काव्य की आत्मा क रूप में स्वीकार किया है। इसमें रस, ज्वलि का महत्वपूर्ण स्थान है और वस्तुअलंकार, ज्वलि, रस के सहायक-रूप में महत्वपूर्ण हैं।

बीचित्य सम्प्रदाय

रसानुभूति करने के लिये वर्णन के बीचित्य पर सबसे अधिक दक्ष 'वेमेन्द्र' न 'प्रभाणुशासन' स्थित कर दिया। जिसके अनुसार 'बीचित्य' ही रस का बीजन मूल है मान है। उचित भाव का ही बीचित्य की संज्ञा दी जाती है, जो जिसके अनुसार हो, जिसका जिससे मेल खाता हो, उसकी वर्षा उसी प्रसंग में करना उचित कहा जाता है।^३ 'इस

१ 'काव्यस्यात्मा ज्वलिरिति ह्यर्थः समाम्नातपूर्वः। (ज्वलाश्लोक १।१)

२. बलदेव उपाध्याय—'भारतीय साहित्य शास्त्र (१ भाग) प्र० सं०, पृ० ७०२।

३. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' मू० सं० पृ० ५९५।

४ 'बीचित्यस्य चमत्कारकारिणमावर्धने।

औचित्य को पक्, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, छिग, वचन आदि अनेक स्तरों पर विद्वत्ताकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र विद्वत्ताकर 'सोमेन्द्र' ने साहित्य रसिकों का सहान उपकार किया है परन्तु इस तत्त्व की व्याख्या सोमेन्द्र से ही मानना मर्यादक ऐतिहासिक मूल होगी। क्योंकि 'औचित्य' के मूलतत्त्व हमें आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोका' में ही मिल जाते हैं। उतने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'अनौचित्य' से बढ़कर रसमग्न का दूसरा कारण ही नहीं है।^१ इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन के पूर्वाचार्यों ने भी औचित्य को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया है। नाट्य-शास्त्रकार ने स्पष्ट व्यवस्था कर दी है कि पाशों के छिये देह और अवस्था के अनुरूप ही वेष-विन्यास आवश्यक है।^२

इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत 'औचित्य' की महत्ता को 'सोमेन्द्र' ने अत्यन्त मीठिङ्ग ढंग से समिखार अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। 'सोमेन्द्र' साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में 'अमिनबगुप्त' के शिष्य थे, जिससे स्वतः ज्ञानिवादी थे, तथापि उन्होंने औचित्य-विचार-वर्चा नामक अपने ग्रन्थ में 'औचित्य' को व्यापक काव्य-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है और उसे सम्प्रदाय का कर्म होने का भेद प्राप्त किया।

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकारों की सम्प्रदाय का रूप तथापि 'रस सम्प्रदाय' के संगठित हो जाने के पश्चात् ही मिला किन्तु काव्य में अलंकारों का प्रयोग कविता के प्रथम आविर्भाव कास से ही है। अलंकार प्रयोग के सम्बन्ध में विद्वानों की दृष्टि खदेर एक ही नहीं रही है, बल्कि उसका क्रमिक विकास हुआ है जिससे उसके मूल्यों में परिवर्तन होता रहा है। यही कारण है कि विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न ढंग से इसकी परिभाषा की है। काव्य-क्षेत्र में अलंकारों का महत्त्व तो प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर दिया था किन्तु काव्य के प्रमुख आकर्षक अलंकार ही हैं इसे बाद के ही कुछ आचार्यों ने स्वीकार किया। भगवत् का नाट्य-शास्त्र ही अलंकार शास्त्र का भी सर्वप्रथम ग्रन्थ है। परन्तु उसमें 'रस' सिद्धान्त प्रधान होने के कारण शास्त्र अथवा सम्प्रदाय के रूप में इसका अध्ययन नहीं किया जाता था, बल्कि इसे रस सम्प्रदाय का साथ जोड़कर ही देखा जाता रहा। नाट्य का प्रमुख प्रतिपाद विषय 'रस' हो जाने के कारण अधिकतर आचार्य अलंकारों को काव्य की मुख्य धोमा मानकर ही पते, यही कारण है कि संस्कृत में काव्य शास्त्र का अलंकार शास्त्र का नाम से ही अतिष्ठित किया गया क्योंकि उसका आरम्भ अलंकारों का विवेचन लेकर ही आरम्भ हुआ। काव्य-क्षेत्र के

उचित मादुराचार्योः सदर्शं किञ्च वक्ष्ये यत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रपद्यते ॥ (का० ०)

१. बह्मन् उपाध्याय 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० २०, पृ० ५१६ ।

२. 'औचित्यशास्त्रे नाम्ना रसमग्नस्य कारणम् ।

औचित्योपनिषदस्तु रसस्थापनियत् परा ।' (ध्वन्यालोक)

३. 'अदराजो हि वेषस्तु न शोभा जगदिष्यति ।

मेरुद्वोरसि बन्धे च हास्यापेक्षोपजायते ॥ २३।१९ (नाट्य शास्त्र)

लिए अष्टाङ्गों का महत्त्व तो स्वीकार कर लिया गया था—किन्तु उसे 'काव्य का सर्वस्व है' इस रूप में मान्यता नहीं मिल पाई थी।

मामह सप्तमयम आचार्य हैं जिन्होंने अष्टाङ्ग शास्त्र के स्वतंत्र-अध्ययन पर आग्रह किया है। उन्होंने अष्टाङ्ग शास्त्र के स्वतंत्र-अध्ययन पर आग्रह किया और अष्टाङ्ग शास्त्र को नाट्य-शास्त्र से मुक्त करके एक अद्वितीय शास्त्र का स्वरूप प्रदान किया तथा अष्टाङ्ग सम्प्रदाय की भूमिका तैयार की। मामह की इच्छाओं से ही पता चलता है कि उनके पूर्व भी कुछ ऐसे आचार्यों थे जिन्होंने अष्टाङ्ग-ग्रन्थ लिखे थे। काव्याष्टाङ्ग में मामह ने अष्टाङ्ग शास्त्री के रूप में 'सिद्धावित' नामक आचार्य का दो बार नाम लिखा है और लिखा है कि उसने उसमा में सात दोष माने हैं किन्तु वर्तमान समय में इस आचार्य की कोई भी रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। आचार्य 'बर्मकीर्ति' की भी कोई ऐसी रचना नहीं मिली जिससे उसे अष्टाङ्ग शास्त्र का ठेका मान लिया जाय। 'महि कम्प' की रचना मुख्यतः संस्कृत व्याकरण के नियमों के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए ही हुई है, उसमें दसवें सर्ग में केवल ३८ अष्टाङ्गों के उदाहरण भर ही प्रस्तुत कर दिये हैं जिससे उसे अष्टाङ्ग शास्त्री नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में मामह ही अष्टाङ्ग सम्प्रदाय का प्रथम प्रमुख आचार्य ठहरता है। उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि शब्द और अर्थ के संयोग से काव्य की निष्पत्ति होती है।^१ आचार्य 'मरुमुनि' ने जो दश गुणों का प्रतिपादन किया था उसमें उन्होंने आश्रय, माधुर्य तथा प्रसाद तीन गुणों का निर्देश और किया तथा बक्रोक्ति को समस्त अष्टाङ्गों का मूल माना है जिसका चरम विकास आचार्य 'कुन्तल' के बक्राक्ति-जीवित में हुआ है। बक्रोक्ति से रहित अष्टाङ्ग को मामह कम्पना ही नहीं करते^२। अष्टाङ्ग सम्प्रदाय के अन्दर मामह के अविरक्त 'उद्भट', 'दम्भी', 'वज्रट' तथा 'प्रतिहारोन्मुखा' के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अष्टाङ्ग को ही काव्य का जीवन माना है।

'मामह' के बाद 'दम्भी' ही अष्टाङ्ग-शास्त्र के प्रधान आचार्य हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' के द्वितीय परिच्छेद में अष्टाङ्ग की परिभाषा दी है तथा १५ अष्टाङ्गों की परिगणना की है और 'तृतीय परिच्छेद' में थपक, चित्रवन्धन विस गो मूर्ति, सयैतोमद्र और वर्ण-नियम आदि १६ प्रकार की प्रहेलिका और १० प्रकार के दोषों का सुविस्तृत वर्णन किया है^३। कविता का प्रधान गुण अष्टाङ्ग मानकर उन्होंने एक प्रकार से 'मामह' के सिद्धान्तों का समर्थन ही किया है। जिस आचार्य का बाद के आचार्यों ने बड़े आदर के साथ नाम लिखा है, वह है आचार्य 'उद्भट' जिनका स्थान अष्टाङ्ग सम्प्रदाय में बड़ा ऊँचा है। इनकी कई बातें अन्य आचार्यों से बिछड़ती हैं। अर्थ भेद के कारण शब्दों में भेद का आना 'उद्भट' की सबसे महत्त्वपूर्ण मान्यता है^४। इस

१ 'अम्प्रायी सद्विती काव्यम्।' (मामह)

२ 'सैवा सर्वत्र बक्रोक्तिरनपार्या विभाव्यते।

पद्याश्लोका कविता कार्यः कोऽर्थकारोऽनपार्या विभाव्यते ॥

(काव्याष्टाङ्ग १।६५)

३ बहद्वय उपाध्याय 'भारतीय साहित्य साधु', प्रथम खंड, प्र० सं०, पृ० ४९।

४ 'अर्थभेदश्च तापच्छब्दा मिश्रित इति महोद्भटस्य मिश्रणम्।'।

(अष्टाङ्गसार, कपूरहि, पृ० ३५)

सम्प्रदाय के आचार्यों ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि 'अग्नि की उत्पत्ता-रहित के तत्त्व अलंकार काव्य का प्राच-विधायक तत्व है। अग्नि की उत्पत्तारहित मानना विल प्रचर उप हास्यास्पद है उसी प्रकार अस्वामाविक है काव्य को अलंकार हीन मानना। 'सम्प्रदाय' के काव्य-सम्प्रदाय के सत्यनकथा 'बयवेध' ने इस सम्प्रदाय का हृदय रख दिया है। बयवेध कहते हैं कि जो विद्वान अलंकार से हीन काव्य और व्यर्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी अनुष्ण (शोथक) क्यों नहीं मानते ?^१ 'ब्रह्म' तथा प्रसिद्धारेन्दुराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलंकार को ही प्रधानता दी है। आचार्य ब्रह्म ने अलंकार सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती-आचार्यों के मत से अपनी पूर्ण सम्मति प्रधान कर दी है।^२

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलंकारों के विभाजन तथा उनके मूल तत्वों पर भी विचार किया है। अलंकारों के विभाग के लिये उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। इसका संकेत पहले पहले हमें ब्रह्म के 'काव्यालंकार' में मिलता है। उन्होंने ही सर्व प्रथम औपम्य, वाचक, अतिशय और श्लेष को अलंकार विभाजन का मूल कारण माना है। यह विभाजन उठना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौखिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में एकबस्तीकार "विद्याधर का निरूपण यहाँ ही युक्ति युक्त और वैज्ञानिक है जिन्होंने औपम्य, विरोध, उर्ध्व आदि को अलंकारों का मूल विभेदक मानकर इस विषय की यही ही सुन्दर समीक्षा की है।"^३ समस्त आलंकारिक आचार्य काव्य के 'रस' तत्व से पूर्व परिचित थे और 'रसवत्' श्रेय, उर्ध्वस्त्रि तथा समाहित अलंकारों के अन्तर्गत उन्होंने अलंकार के प्रकार के रूप में काव्य का समेट किया है। मामह ने 'श्रेय', 'रसवत्' आदि अलंकारों के द्वारा महाकाव्यों में रसों की आवश्यक स्थिति का स्वीकार किया है तथा दक्षी ने 'रसवत्' अलंकार के मंतर आठा 'रस' और आठ सावीमाओं का निर्देश किया है। इसका अतिरिक्त उन्होंने अग्नि को भी अलंकारों के अन्तर् समेटने का प्रयत्न किया है, तथा अलंकार को काव्य का आवश्यक भाग प्रमाणित करने के लिये 'स्वभावेति' को भी अलंकार में परिगणित किया गया, यद्यपि अधिक विद्वान इसे अलंकार में रखने का प्रतिकूल हैं।

अलंकार और उसका ऐतिहासिक क्रम-विकास

अलंकार

अलंकार शब्द का साधारण अर्थ आभूषण से लिया जा सकता है क्योंकि विल प्रचर आभूषण स्त्रियों के शरीर की रंगमा बढ़ाते हैं उसी प्रकार साहित्य सम्प्रदायी अलंकार काव्य-रचना की रंगमा अर्थात् चमत्कार या रमणीयता का उत्कर्ष करते हैं। काव्य-रचना

१. 'अग्नीकरोति वा काव्यं शब्दार्थोचनसंस्कृती ।

अतो न सम्बन्ध एस्मादनुष्णमनसंस्कृती ॥' (चन्द्रकोक ११०)

२. 'तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राचीनमतम् ।'

(अलंकारसर्वस्व, पृ० ७)

३. ब्रह्मदेव तथाप्पाय, 'भारतीय साहित्य शास्त्र' प्रथम खंड, पृ० १०, पृ० १४६।

को कविता कामिनी की संज्ञा मिल जाने के कारण उसमें विशेष चमत्कार, रोचकता या रमणीयता होने वाले शब्द तथा अर्थ को अलंकार की संज्ञा दी गयी। 'रसात्मकं वाक्यं काम्यम्' मतदाता है कि जब तक कविता का शरीर वाक्य या वाक्यों का संगठन है तब तक 'रस' उसकी आत्मा है। यदि इस रूपक का पूरा तक ले जायें तो कहा जा सकता है कि गुण उसका सौन्दर्य है और हास-मास आदि स्वभावतः दोनों में समाप्त हैं। शरीर में इन सब नैसर्गिक साधनों के रहते हुए भी कैसे सुन्दर यन्त्राभूषणों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार काव्य में अलंकार तथा अलंकार की भी आवश्यकता है। यह अलंकरण, शब्द रचना तथा अर्थवैविध्य होने के प्रकार से किया जाता है, जिससे अलंकार हो अन्तर के हो जाते हैं।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि 'जिस प्रकार शरीर का स्यारीरिक सौन्दर्य, हास मास, सजीवता, चाञ्चल्य आदि नैसर्गिक हैं पर यन्त्राभूषण, अलङ्घन आदि कृत्रिम शोभाकारक हैं, उसी प्रकार कविता में अलंकार भी बाह्य साधन है जो उसकी रोचकता या रमणीयता को बढ़ाता है। इससे यह सत्यार्थ निकलता है कि नैसर्गिक सौन्दर्य के बिना अलंकार को निराला आवश्यकता नहीं है और अलंकार रहित होने पर भी सौन्दर्य की निम्नी सत्ता है'। किन्तु अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य-गण अलंकारों को ही सब कुछ समझते हैं। इन लोगों ने रस, स्वाधीभाव, गुण आदि को भी अलंकारवत् मान लिया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो इसे मानने में कुछ तथ्य है क्योंकि अलंकार सौन्दर्य ही की घोषा बढ़ाते हैं पर कुसुमा का और भी स्पष्ट कर उसे गिरा देत हैं। अतः अलंकार तथा सौन्दर्य आपेक्ष्य हैं। यहाँ एक है यहाँ दूसरा भी है और सौन्दर्य स्वमात्र प्राप्त होने से उसके उपयुक्त अलंकार चुनकर उसे बढ़ाने ही में विशेष निपुणता की आवश्यकता पड़ती है, इससे यदि काव्य में अलंकारों का विशेष महत्त्व दिया गया है तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

विभिन्न आचार्यों ने अलंकार की विभिन्न परिभाषा की है, तथा उनका प्रयोग के औचित्य तथा अनौचित्य का मूल्यांकन किया है। आचार्य मामह के अनुसार सुन्दर कविता के लिये भी अलंकार उतना ही आवश्यक है जितना सुन्दर स्त्री के लिये आभूषण। जिस प्रकार सुन्दर होने पर भी भूषण के बिना स्त्री के मुख पर कान्ति नहीं आती,^१ उसी प्रकार अलंकारहीन सुन्दर कविता अथवा काव्य में भी अलंकार नहीं आ सकता। 'दण्डी' ने स्वीकार किया है कि अलंकारों से युक्त काव्य ही निराला हो सकता है^२ और वह काव्य के घोमाकारक धर्मों का ही अलंकार मानता है।^३ 'वामन' काव्य के सौन्दर्य का ही अलंकार मानता है जो उसे प्राप्त बनाने में सहायक सिद्ध होता है।^४ किन्तु उसने स्वामा यिक सौन्दर्य की अपेक्षा काव्य के सौन्दर्यविशेष को अलंकार मानने पर बल अधिक दिया

१. 'मकरप्रदास—अलंकार रस', प्र० सं० पृ० ५०।

२. 'न काव्यमपि निर्भूषं विमलं बहितामुलम्।' ११, ४१ (मामह)

३. 'काव्यं कव्यान्तरस्यापि बाधते सदर्शकृति।' १११९ (दण्डी)

४. 'काव्यसौमाकरात् यमौन् अलंकारात् प्रचलते।' १११ (वृष्णी)

५. 'सौन्दर्यमलंकारः।' ११११९ (वामन)

है। आचार्य कुछ अलंकारों को उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वे काव्य-रचना को सुन्दर बनाते हैं।^१ आनन्दवर्धन भी स्वाभाविकता पर ही अधिक जोर देते जान पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'अलंकार वही है जिसका योग रसास्मि होन के कारण उत्पन्न हो और जिसके बिना कवि को स्वतन्त्र बचन करना पड़े'।^२ अग्निपुराणकार ने तो अलंकार से हीन काव्य कायदा सरस्वती को विषया की धंसा दी है।^३ आचार्य 'शेमेन्द्र' ने अलंकारों के प्रयोग औचित्य पर विशेष बल दिया है जिससे उसके अनुसार 'उचित स्थान पर प्रयुक्त हुए अलंकार ही शोभाकरक प्रमाणित हो सकते हैं'।^४ आचार्य कुन्तल तो अलंकार सुख द्वायार्थ को ही काव्य मानते हैं।^५ 'मम्मट' तो स्वभाव में भी अलंकार की स्थिति स्वीकार करते हैं।^६ 'जबदेव' के अनुसार हायदि के समान अलंकार का योग मनोहर होता है तथा 'विश्वनाथ' के अनुसार उसके रस के उत्कर्ष में वृद्धि होती है।^७

संस्कृत काव्य शास्त्र के जिन आचार्यों ने अलंकार को काव्य में प्रमुखतम स्थान नहीं भी दिया है उन लोगों ने भी इसके महत्त्व को तो किसी न किसी रूप में स्वीकार ही किया है। संस्कृत साहित्य की तुलना में हिन्दी साहित्य के अन्दर अलंकार पूर्वा नयन्य है किन्तु कुछ आचार्यों ने इस पर विचार अवश्य किया है। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के अनुसार 'कविता करने में अलंकारों को पञ्चात् छाने का प्रयत्न न करना चाहिए'।^८ आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने स्वीकार किया है कि 'अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मानता हूँ जिसके अन्तर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है'।^९ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी एक प्रकार से अलंकारों का काव्य का शोभाकरक पक्ष ही माना है। उन्होंने स्वीकार किया है कि वस्तुतः अलंकार जब आवेग सहचर होकर आते हैं तो काव्य में अत्यधिक ऊर्जस्वल लेख भर पड़ते हैं, पर जब आवेगहीन होकर आते हैं तो यमकारी छक्ति भर रह जाते हैं। वे उस अवस्था में विजली की कौब के समान एक क्षणिक उमोषि बिछीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते हैं।^{१०} इस प्रकार

१ 'रचयेत् कस्यैव सख्यै रचमाया वा करोति आदत्तम्।' २९ अ (उद्भट)

२ 'रसास्मिपत्तया वस्तु बन्धा शक्यमिषो मयेत्।

अष्टमगुणनिर्णयः सोऽलंकारो ध्वजा मताः ॥' २१६ (आनन्दवर्धन)

३ 'अलंकाररहिता विषयस सरस्वती'।

(अग्निपुराणकार)

४ 'उचितस्थानविश्यासात् अलंकारसंयुक्तिः।' १९।

(शेमेन्द्र)

५ 'सार्थकारस्य काव्यता।' २१६

(कुन्तल)

६ 'वपकुपन्ति तं सम्यं येऽत्रहारेण पातुचित्।

हारादिषु अलंकारास्तेऽनुभासोपमादुवा ॥' ८१९० (मम्मट)

७ 'हारादिषु अलंकारः सप्रवचो मनोहरा।' ५११

(जबदेव)

८ 'दरकरहितया प्राप्य शुभास्कारिण्यः।' ३१३

(विश्वनाथ)

९ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी—'कवि कर्तव्य स उद्भूत'।

१० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'चिन्तामणि के काव्य में प्राकृतिक छन्द से उद्भूत'।

११ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'साहित्य का मर्म'।

अलंकार प्रदर्शन को काव्य में किसी प्रकार से महत्त्व नहीं दिया जा सकता ।

अलंकारों का क्रम-विकास

जैसे ही विद्वानों ने अलंकारों का सम्बन्ध वेद की संहिताओं से जोड़ा है किन्तु काव्य-शास्त्र के रूप में नाट्यशास्त्रकार ने सर्वप्रथम चार अलंकारों का उल्लेख किया, तदुपरान्त अमिपुराण में छोट्टह अलंकारों का नाम आया । इसके छः सात शताब्दि बाद 'भामह' ने ३८ अलंकारों के नाम गिनाये हैं । अलंकारों की वर्गीकरण करते समय आचार्य भामह ने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम लिये हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि बीच बीच में भी अलंकारों की संख्या में क्रमिक विकास होता रहा है मگر ही उनका लिखित स्वरूप सामने नहीं आ पाया है । भामह के बाद में आने वाले आचार्य दण्डी के समय तक अलंकारों की संख्या ३८ से बढ़कर ५२ हो गयी जो आचार्य कम्पक तक १०३ पहुँच गयी और अन्त तक आठ-आठे पण्डितराज ब्रह्मघोष ने अपने ग्रन्थ 'रसगोषधर' में उनकी संख्या १९९ तक मान ली है । इनमें बहुत से अलंकार ऐसे भी आये हैं जो अन्य दूसरे अलंकारों के अन्तर्गत हो जाते हैं और कुछ में विशेष चमत्कार नहीं है । यही कारण है कि कितने अलंकारों को अन्य अलंकारों में स्वीकार तक भी नहीं किया और वे वहीं लेखकों की कृतियों के रत्न बनकर रह गये ।

अनेक प्रमुख अलंकार ऐसे हैं जिन्हें महि, भामह, दण्डी, उद्भट और बामन आदि आलंकारिकों ने समान रूप से अपनी रचनाओं में स्वीकार कर लिया है । किन्तु अनेक ऐसे अलंकार हैं जो कुछ विद्वानों द्वारा स्वीकार किये गये हैं और कुछ द्वारा स्वीकृति नहीं पा सकते हैं । जैसे—अतिशयोक्ति, अनुमास, अपनुक्ति, अर्धान्तरन्यास, उपमेया, उपमा, शीपक, विभावना, रूपक, विरोध, विरोधाति, अतिरेक तथा व्यावस्तुति अलंकार उपरक्त सभी आचार्यों की कृतियों में पाये जाते हैं । दण्डी को छोड़कर अनन्वय भी सभसे पाया जाता है किन्तु वह इसे बसाधारोपमा के नाम से पुकारता है । महि का छोड़कर 'अप्रस्तुत प्रशंसा' सभसे पाये जात है । आकृति को केवल दण्डी ने परिभाषित नहीं किया है । आधी कदल महि, दण्डी और भामह में पाया जाता है तथा आशेष सभसे पाया जाता है किन्तु 'भामन' का 'आशेष' या तो समासोक्ति है या तो प्रतीप है जैसा कि आगे आने वाले अन्य विद्वानों ने परिभाषित किया है ।

उपमेयाकल्प, महि, भामह और बामन में जो इसे संसृष्टि का भेद मानते हैं और दण्डी ने इसे उपमेया का अन्तर समाहित कर लिया है । महि ने 'उत्पल' को बयनगस का अनुधार उदार का नाम से अमिहित किया, किन्तु अन्य आचार्यों ने उसे तद्वत् प्रहण कर लिया है । महि और भामह में उपमा रूपक का माना है । किन्तु बामन ने इसे संसृष्टि का भेद मान लिया है तथा दण्डी ने इसे रूपक के अन्तर समाहित कर लिया है । दण्डी को छोड़कर उपमेयपमा सभ में पाया जाता है । उसने इसे अन्योन्यापमा कहा है । ऊर्ध्वरिक्त और प्रेयः तथा मायिक 'भामन' को छोड़कर सभ में पाया जाता है । काव्य-रसि और उद्भटानुमास तथा दण्डी उद्भट को छोड़कर अन्य किसी में नहीं पाया जाता । तुल्ययोगिता सभ में पाया जाता है किन्तु दण्डी उसमें इतना और जोड़ता है कि इसे स्तुति-निन्दार्थ अरस्य होना चाहिये । निरर्चना को उद्भट ने विदर्पना लिख दिया है । निपुण चञ्चल मयी में पाया जाता है । परिशुषि सभ

केवल मामह और महि चाहते हैं कि इसे अर्बान्तरन्यासवर्ती होना चाहिये। 'वामन' को छोड़कर पर्यायोक्ति सब में पाया जाता है। प्रतिबलूपमा को 'महि', 'मामह' और दण्डी उपमा का भेद मानते हैं। मयासंख्य सबमें पाया जाता है किन्तु वामन ने इसे कम और दण्डी ने इसे संख्यान और कम का एक ढंग भी माना है। कम उन्नत में नहीं मिलता और वामन में रसपद। व्यदानुपास केवल उन्नत ने परिभाषित किया है किन्तु 'मामह' ने इसका संकेत किया है। छेय केवल दण्डी में मिलता है और मय्या ने इसे व्याख्योक्ति माना है। दण्डी ने भी इसी से मिलता-जुलता और मामह या इसे अलंकार ही नहीं मानता। क्योंकि को केवल वामन ने माना है किन्तु मामह और दण्डी में भी संकेत मिलते हैं। विशेषांश की परिभाषा वामन ने रूपक के समान दी है। व्याख्योक्ति केवल वामन में मिलता है किन्तु उसने भी यह कहा है कि जाना इसे मायांश भी कहते हैं। छिद्य को वामन ने उल्लेख कहा है। संसृष्टि सबमें पाया जाता है किन्तु दण्डी इसे संकीर्ण मानता है और इसी के 'अन्दर संसृष्टि' तथा संकर का समाहित किया है। इसके अविरल अन्य व्याख्याओं तक अलंकारों की संख्या का विस्तार अत्यधिक बढ़ जाने के कारण किसी न किसी रूप में उपरोक्त सभी अलंकार गिना दिये गये हैं और अनेक अन्य नये अलंकार भी माने गये हैं।

इस प्रकार यह पूर्वतः स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में अलंकार की प्रवृत्ति कहीं से सहजा उत्पन्न नहीं हो जाती अथवा बाहर से बोपी नहीं जाती, बल्कि यह एक विशेष वातावरण में उत्पन्न होकर अनुकूल परिस्थितियों में विकसित होती है। अलंकार प्रवृत्ति का उदय सर्वप्रथम समाज में होता है, जहाँ से उससे सम्बन्धित सभी कला-कृतियों पर उसका प्रभाव पड़ता है। निबन्धन, मूर्तिकला तथा संगीतकला आदि काव्यकला के अधिक निकट अथवा सहयोगी होने के कारण अन्य कलाओं की अपेक्षा सबसे अधिक प्रभाव ग्रहण करती है जिसे इस प्रवृत्ति का प्रभाव इन कलाओं पर काव्यकला के साथ ही समान रूप से दिखलाई पड़ता है। इन कलाओं का अंग विशेष पर अनुकूल भूमि मिलने के कारण अलंकारप्रवृत्ति का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखलाई पड़ता है, जिसका प्रभाव हमें संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत महाकाव्यों, नाटकों, पद्या-आख्यायिकाओं तथा मुक्तकों में प्रमुख अलंकारों द्वारा प्राप्त हो जाता है।

अलंकार साहित्य की प्रभु मात्रा में सृष्टि हो जाने पर यह निरान्त आवस्यक एवं स्वाभाविक था कि विद्वानों द्वारा उसकी समुचित व्यवस्था की जाती। ऐसा कि मीने पूर्व में ही निवेदन कर दिया है कि रचनाओं पहले होती हैं और उनका छात्रीय रूप बाद में दिया जाता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की व्यवस्था तथा उसमें रस, प्यनि, रीति, अलंकार, बहोक्ति तथा औचित्य आदि सम्प्रदायों का प्रतिस्थापन उपरोक्त स्वाभाविक आवश्यकता का परिणाम है जिससे काव्य में अलंकार प्रयोग का औचित्य तथा अनौचित्य पर पूर्वतः प्रकाश डालना सम्भव हो सका और उसकी वास्तविकता का मूल्यांकन भी हुआ। इस संक्षिप्त अवलोकन द्वारा हमारे समीप हिन्दी अलंकार काव्य की आधार भूमि है जहाँ अत्यन्त सरल एवं सुगम हो गया क्योंकि इससे इतना सा स्पष्ट हो ही गया कि हिन्दी काव्यकारों एवं आचार्यों के सम्पूर्ण संस्कृत अलंकार कालों की एक विद्यास परम्परा एवं प्रभु सामग्री विद्यमान थी।

द्वितीय अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी कविता में अठंकरणवृत्ति

मध्यकाल

१ रामचन्द्रजी शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को आदि, पूर्वमध्य अवस्था भक्ति, उत्तरमध्य अवस्था रीति तथा आधुनिक नामक चार कालों में विभक्त किया है। जिस मध्यकाल को शुक्ल जी ने पूर्वमध्य और उत्तरमध्य अवस्था भक्ति तथा रीतिकाल दो भागों में बाँटा है, उसे ही मिश्रकव्युओं ने पूर्व, मीढ़ और अष्टकृत नाम से तीन उपविभागों में विभाजित किया है।^१ पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने ऐसा न करके सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को बीचपन, अंकुरोद्भव तथा पत्रोद्भवाकाश के नाम से तीन भागों में विभक्त किया है।^२ द्विवेदीजी का अंकुरोद्भव अवस्था मध्यकाल ही शुक्ल जी का पूर्वमध्य और उत्तरमध्य तथा मिश्रकव्युओं का पूर्व, मीढ़ और अष्टकृत काल है। हिन्दी कविताओं पर जहाँ से संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगा था वहाँ से महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने सन् १४००-१८५० ई० तक अंकुरोद्भव अवस्था मध्यकाल की सीमा को स्वीकार किया है। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने हिन्दी कविता के जिस काल को अंकुरोद्भव काल कहा है, वास्तव में वह हिन्दी कविता का मध्यकाल ही है क्योंकि हिन्दी साहित्य में बीच का यह वह समय है जिसमें हिन्दी कविता अपभ्रंश एवं प्राचीन प्रयोगों से किमकुल मुक्त हो गयी थी और भेद रचनामें प्रभूत भाषा में लिखी जा चुकी थी। इसके बाद ही हम देखते हैं कि हिन्दी कविता का माण्डार इतना पूर्ण हो गया था कि अपनी सीमा में न समाकर अनेक नये साहित्य अंगों में फैलकर विखरित होने लगा जिसे द्विवेदी जी ने पत्रोद्भवाकाश कहा है। मध्यकाल के आरम्भ के सम्बन्ध में रामचन्द्र जी शुक्ल, मिश्रकव्यु तथा महावीर प्रसाद जी द्विवेदी भले एकमत न रहे हों किन्तु जहाँ तक उसके अन्त का प्रश्न है प्रायः वे सभी विद्वान् कवि पद्याकर के कविता-काल अर्थात् ख्यामग संवत् १९०० को मध्यकाल का अन्त मानते हैं।

पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने संवत् १३७५ और पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने सन् १४०० ई० अर्थात् संवत् १४५७ का हिन्दी मध्यकाल का आरम्भ माना है। किन्तु १४५७ के कुछ बाद तक भी हिन्दी कविताओं पर अपभ्रंश भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है। हिन्दी में महाकवि सूरदास के उदय के साथ ही संस्कृत का प्रभाव हिन्दी कविताओं पर दिखलाई पड़ता है, जहाँ आकर वह अपभ्रंश भाषा

१ मिश्रकव्युविनोद—'मिश्रकव्यु'।

२ हिन्दी साहित्य की वर्तमान अवस्था नामक लेख से (पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा १९३३ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन हि० में कहा जाय)।

के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त दिखलाई पड़ती है। सुरदास जी का जन्म झुझर जी के अनुसार स. १५४० के आसपास हुआ था। सुरदास जी ने अपनी कविताओं में जिस मापा का प्रयोग किया है उसका संस्कृत रूप देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका विकास कम से कम ५० व ६० वर्षों पूर्व से अवश्य होता रहा होगा। ऐसी स्थिति में मध्यकाल की आरम्भिक सीमा को अधिक से अधिक सुरदास जी के जन्मकाल से ३० या ४० वर्ष पीछे अथवा संवत् १५०० तक ले जा सकते हैं। अतः संवत् १५०० से लेकर १९०० तक की हिन्दी कविताओं को मध्यकाल के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

पूर्वमध्यकाल को प्रायः सभी इतिहासकारों अथवा विद्वानों ने मछिपरक स्वीकार किया है किन्तु उत्तर-मध्यकाल के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। उसे पं. रामचन्द्र जी झुझर ने रीति-काल, मिथकन्तुओं ने अलंकृतकाल और कुछ लोगों ने शृंगारकाल के नाम से पुकारा है। इस काल में छन्द प्रयोग की मर्याद रही अवश्य, कविताओं में शृंगार की ही प्रधानता रही इसमें भी सन्देह नहीं किन्तु सभी रचनाओं में एक ही आभा दिखलाई पड़ता है और वह है अलंकार प्रयोग एवं चमत्कार का प्रदर्शन। जितनी शृंगारपरक रचनाएँ हुई हैं उनमें से अधिकांश छन्द प्रयोग के लिये उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही। बहुत थोड़ी सी भेद रचनाएँ ऐसी हैं जो स्वतंत्र रूप में लिखी गयी हैं, जिससे इसे अलंकृतकाल कहना ही विशेष समीचीन जान पड़ता है। जहाँ तक पूर्व मध्यकाल की कविताओं का प्रश्न है उनमें छन्द प्रयोग का बाहुल्य तथा शृंगारिक अलंकार पूर्ण योजना उठनी तो नहीं है जितनी कि अलंकृतकाल की रचनाओं में, किन्तु कुछ मछिपरक रचनाओं को छोड़कर मुक्तकों और गीतों अथवा प्रबन्ध मुक्तकों में अलंकारों का स्वाभाविक विकास दिखलाई पड़ता है, जिससे इस काल को अलंकृतकाल से अलग करना ठीक नहीं जान पड़ता। अतः मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में संवत् १५०० से १९०० तक की सभी प्रायेण सभी कविताओं को अलंकृतकाल के अन्तर ही रखना उपयुक्त जान पड़ता है।

अलंकृत काल की परम्परा

अपने विकासकाल में हिन्दी अपभ्रंश भाषा एवं उसके साहित्य के सबसे अधिक निष्पन्न रही। कुछ विद्वानों ने तो इसे अपभ्रंश का परिष्कृत रूप ही मान लिया है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका काव्य-रूपों एवं विषय बस्तुओं पर सबसे अधिक प्रभाव अपभ्रंश साहित्य का ही पड़ा है। जिस समय अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित हाकर उठी फ मर्म से हिन्दी कविता पृष्ठ रही थी, उस समय 'सिद्ध' और 'नाय' सम्प्रदाय से प्रभावित मन्त्र कवि गण साकम्पाशा में रचना कर रहे थे। साकम्पाशा में रची कविताओं के अन्तर्गत अलंकारों की याचना करनी सम्भव नहीं। जिससे तात्कालीन रचनाओं में अलंकृत दोषी का निवारण अभाव गिराई पड़ता है। ठीक इसी समय जबकि साकम्पाशा में काव्य रचना हो रही थी, वैष्णव धर्म का उदय हुआ। वैष्णव धर्म ब्राह्मण धर्म का ही विकसित रूप था जिस रामानुजाचार्य तथा निम्बार्काचार्य आदि शास्त्रीय विद्वानों ने अपनी शास्त्रीय रचनाओं का बाव

प्राचीन-वर्ग-दर्शन तथा संस्कृत साहित्य से हिन्दी कविताओं को बोझ दिया। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में रामानन्द, रामबानन्द, ब्रह्माचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु जैसे प्रख्यात विद्वान् हुए जो संस्कृत के महान् पण्डित थे और उन लोगों ने इस वैष्णव धर्म को संस्कृत में रहे ब्राह्मण धर्म के शास्त्र ग्रन्थों, आगम, पुराण और काम्य ग्रन्थों की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। इनके प्रभाव से जिस वैष्णव साहित्य की प्राक्-प्रतिष्ठा हुई उसमें प्राचीन और मध्यकालीन संस्कृति का पूरा प्रभाव पड़ा। समस्त धार्मिक ग्रन्थों के संस्कृत में होने के कारण संस्कृत भाषा की ओर लोगों की रुचि गयी। 'अयदेव' ने संस्कृत में राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत गाये जो इसकी प्रतिष्ठा निश्चायित के गोतों में हुई। सूरदास तथा कृष्ण-भक्ति शास्त्र के कवियों में प्रेम का शैक्षिक आत्मन-भक्ति का सुधुर पारलौकिक आत्मन्यम हो गया।^१ हिन्दी के श्रेष्ठ कवि संस्कृत के भी अच्छे जानकार थे जिससे उनकी रचनाओं में अधिक से अधिक संस्कृत साहित्य के निकट पहुँचने लगीं।

संस्कृत भाषा की कुछ स्वामाधिक कठिनाइयों के कारण जो साधारणतः लोग उसे समझने में असमर्थ रह जाते थे, उस कठिनाई को दूर करने के लिये ही संस्कृत को हिन्दी के माध्यम से बोधगम्य बनाने का प्रयोग किया गया। व्याकरण के अधिक बग़ावत के कारण ही संस्कृत भाषा जोड़-बीज से दूर जाती गयी और वह धीरे धीरे प्रायः साहित्य से भी दूर हो गयी। इस कठिनाई का अनुभव हिन्दी के आचार्यों एवं कवियों ने समीचीनता किया जिससे उन लोगों ने संस्कृत साहित्य में अनुप्राण काम्यकर्म एवं शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान को सर्व सुलभ बनाने के लिये उसे हिन्दी भाषा के माध्यम से कहना आरम्भ किया। इस प्रकार अनुवाद एवं भाषानुवाद के माध्यम से संस्कृत साहित्य की काव्य सामग्रियाँ हिन्दी कविताओं में आन लगीं। कविवर 'सूरदास' ने मीरझा के अधिक होने के कारण संस्कृत साहित्य से ली गयी सामग्रियाँ उनकी अपनी-सी बना ली हैं किन्तु सूरदास के समस्त जीवन पदों में उन्होंने अपने ढंग से 'मागवत' की कथा ही कही है।

शास्त्रीय दुष्खीशस भी की रचनाओं में संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। उनके रामचरितमानस पर संस्कृत के वाक्यीय रामायण, अभ्यास रामायण, इन्द्रायटक, उत्तर रामचरित, चम्पूरामायण, पागकम्पीति, गर्ग संहिता तथा ब्रह्म रामायण आदि ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है जिनसे एकाग्र उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा।

‘पराये धर्म हन्तारं प्रत्यसे प्रिय वादिनम् ।

बर्बदेत् तादृशं मित्र विषकुम्भं पशुमुलम् ॥’ (पागकम्पीति)

‘आगे कह मुहु वचन बनाई। पाछे अनहित मन फुटिआई।

आकर चित अहि गति सम आई। अस कुमित्र परिहरे मखई ॥’

(रामचरितमानस)

‘मनसि वचसि कथये कागरे स्वप्नमार्गे ।
यदि मम पतिमात्रो राक्षसादन्यपुंसि ।
तदिह ह्य ममांक पावर्क पावकलम् ।
मुल्लिख्य पञ्चमार्गा त्वं हि कर्मकलाधी ।’ (हनुमन्नाटक)

‘ओ मन कम जब मम घर माहीं । तबि खुबीर ध्यान गति नाहीं ॥
तो कृतातु सबकी गति जाना । मो कह होत भीखण्य समाना ॥’

(रामचरितमानस)

इसी प्रकार केदारदास जी की कविताओं में भी वाष्पीक रामायण, प्रसन्नरामयण तथा हनुमन्नाटक आदि संस्कृत ग्रन्थों के प्रभाव देखे जा सकते हैं। ‘हनुमन्नाटक’ के राम पराक्रम संवाद के अन्तर्गत ‘राम’ द्वारा कहे गये ‘पराक्रम’ की प्रशंसा के शब्द कवच की कविता में अपनी स्पष्ट शक्ति मार रहे हैं—

‘जीपु प्रवरि बननी बननी तबैव,
देवी स्वर्ग ममवती गिरिजाउपि यत्नै ।
स्वहर्नयनिकुल विद्याल मुलावच्छेद—
महा-विदीर्ग-हृदया सुहर्षावभूष ॥’ ४३॥ (हनुमन्नाटक)

‘बब हयो हैहय राब इन किन बब छिति मण्डल कन्यो ।
गिरि बेध पटमुख जीति तारक नन्द को जब ज्यो हन्यो ।
सुतमें न जाबो राम सो यह क्यौ पर्वत नन्दिनी ।
बह रेणु का तिम धन्य परबी में सह जा नन्दिनी ॥’ १६ ॥ (रामचन्द्रिका पूर्वार्द)

‘विहारी’ आदि अलंकृतकाल के मुक्तककारों पर भी संस्कृत के मुक्तककारों का प्रभाव पड़ा है। इन प्रभावों की यदि विस्तृत व्याख्या की जाय तो एक ज्यो तूही तैयार हो जाय जिससे बँसा करना सम्भव नहीं जान पड़ता, अतः एकाग्र अंगहरण पर ही संतोष करना आवश्यक होगा—

‘एन्य वासयई विभोक्त्य रायनादुरायाम किञ्चिच्छनै—
निद्राय्मात्रमुपागतस्य सुचिरं निर्यर्थं यत्सुमुत्तम् ।
विमर्शं परिशुभ्यन्त वातपुलकमाश्रयस्य गण्डव्यस्यी
हज्जानम्रमुप्री प्रियेव इतता बाध विरं सुमितता ॥७७॥ (अमरवधटक)

‘मैं मिसहा सोयी समुसि मुह शूम्पा द्विय आय ।
इरयो, तिरसानी, गर गयो, रही गई जगदाय ।’ (विहारी)

ठीक वैसी ही प्रशंसा लक्षण ग्रन्थों के निर्माण में भी रही है। रावणों के दरबार समाप्त हो चुक थे, कवियों की अब अधिकतर मुस्लिम दरबारों में ही आश्रय प्राप्त करना था और मुसलमानों ‘क छिये संस्कृत का खीरना अस्वच्छ’ कहिन था। यह भी एक प्रमुख कारण था जो संस्कृत साहित्य का हिन्दी में खने में सहायक हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि बीरे पीरे धर्म ग्रन्थों का बाद काव्य-शास्त्र ग्रन्थों पर भी प्रभाव हिन्दी काव्यों पर पड़ने

छाया। यदि साहित्य के क्षेत्र में 'नयदेव' के 'प्रसन्नरास' का प्रभाव हिन्दी कविताओं पर पड़ा तो उनके 'चन्द्रासोक' का भी प्रभाव काव्य-शास्त्रों पर पड़ना आवश्यक ही था। काव्य-शास्त्र की पकड़ी-पकाई सामग्री संस्कृत साहित्य में वर्तमान थी जिसका हिन्दी कवियों को उपयोग प्रर ही करना था और उन लोगों ने ऐसा किया भी। संस्कृत काव्य-शास्त्रों की रचना जिस राक्षस संस्कृति में हुई थी वैसी ही स्थिति हिन्दी कवियों के भी सम्मुख उपस्थित हो गयी थी। अन्तर केवल इतना ही था कि संस्कृत कवियों के सामने राजपूती दरबार में और हिन्दी कवियों के सम्मुख मुस्लिम वज्रा उनके आभित रासों के दरबार थे।

मुक्तक काव्य दरबारों की ही देन है। फलस्वरूप हिन्दी कवियों द्वारा मुक्तक साहित्य की प्रभूत मात्रा में सृष्टि हुई। मुक्तकों के स्थले संहारे की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार छायाँ बिना संहारे के ठहर नहीं जा सकती उसी प्रकार मुक्तक काव्यों की भी रचना संहारे के अभाव में सम्भव नहीं होती। इन मुक्तककारों के सम्मुख संस्कृत काव्य शास्त्र का संहारा था जिससे हिन्दी कवियों के द्वारा संस्कृत काव्य-शास्त्र की एक नवीन उद्धारणी हो गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य एवं काव्य-शास्त्र दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी कविता ने संस्कृत ग्रन्थों का संहारा किया।

इतना अवश्य है कि हिन्दी में अलंकृत शैली का क्षेत्र उठना व्यापक नहीं रह पाया जिसना कि संस्कृत साहित्य में। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में हिन्दी गद्य का विकास नहीं हो पाया था और न ही उसमें नाटक और कथा-व्याख्यात्मक एवं ऐसी किसी गई किन्हीं संस्कृत के नाटकों एवं कथा-व्याख्यात्मकता की अलंकृत शैली के दर्शन होते। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में प्रकल्प-काव्य-गीत और मुक्तक जो हिन्दी काव्य के उपरम्य अङ्ग थे उनमें ही अलंकृत प्रवृत्ति अपना अलंकृत रूप का विकास हो पाया है। संस्कृत साहित्य की भाँति हिन्दी प्रकल्प काव्यों में उच्चैः कोटि के महाकाव्य भी नहीं लिखे जा सके। हिन्दी में एक भी ऐसा महाकवि नहीं था जिसने काश्मिर, मारुति, माघ अथवा भाँहर्ष की श्रेणी में रत्ना जा सके। गोस्वामी तुलसीदास को महाकाव्य की प्रतिभा किसी की चिन्तु धार्मिक भावना का प्रभाव अधिक होने के कारण उनकी कृति में मानवीय भावों की वह समीक्षता तथा अलंकृत शैली नहीं आ पायी जो संस्कृत महाकाव्यकारों में मिलती है। विद्यापति और सुरदास का गीतों में स्वस्र अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत शैलीकारों का मुख्य क्षेत्र मुक्तक रहा है। हिन्दी के कवि कबल कवि ही नहीं थे वे आचार्य भी थे, जिससे मुख्यतः मुक्तकों की सृष्टि उदाहरण प्रस्तुत करने के स्थान ही हुई है। संस्कृत की भाँति हिन्दी मुक्तक कवि की आंतरिक प्रेरणा के परिणाम नहीं बल्कि उनके आचार्यत्व के परिणाम हैं जिससे एक ही विषय का विवृण्वय अथवा पुनरावृत्ति उनकी सामान्य विरोधता है। कुछ ऐसे कवि भव्य हैं जो अपने को आचार्य होने से बचा सके हैं, जिससे उनकी कविताओं में मीलित सजायनाओं एवं स्वस्र अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं।

हिन्दी प्रकल्प काव्यों में अलंकार

अलंकृत काव्य की परम्परा संस्कृत साहित्य से चलकर प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी तक पहुँची है। हिन्दी के आरम्भिक काल में कोई भी ऐसा उल्लेखनीय

प्रामाणिक व्यङ्ग्यकार प्रत्य नहीं मिलता जिसे व्यङ्ग्यकार-शास्त्र ब्रजवा काव्य-शास्त्र की कोटि में रखा जा सके। 'चन्द्रबरदाई' के पृथ्वीराजरासो में काव्य-शास्त्र के कुछ उल्लेख मिलते हैं। कथा के मार्मिक प्रसंगों पर कवि-कल्पना की सद्गुण व्यङ्ग्यकारों का सहाय लेकर ही बढ़ती जान पड़ती है। 'चन्द' की रचनाओं से जाना जा सकता है कि वे बीर रस के पोषक थे, किन्तु उनकी रचनाओं में व्यङ्ग्यकारों की कमी नहीं है। उल्लेख के अद्भुत कमलम्बर उनकी रचनाओं में भरे पड़े हैं। जब शशिज्वा को ठठाकर पृथ्वीराज सीढ़ी स्वर्णत हुए भागे बढ़ते हैं तो कवि चन्द की उल्लेखा शक्ति मुखर हो उठती है—

‘गहि शशिज्वा नरिद । सिद्धीलम्बर रहि जोरी ।
कायज्वा करहरि । पेममाकत कच्छोरी ॥
बर सीनी करिवाहि । नैप सर पुछि क्यार्ई ॥
मन सुरज सोइ बल । कंत खयि क्यन सुनार्ई ॥
नृप भयान्ह कचना सुप्रिय । बीर भांय बर सुमर गति ॥

! खगपन-सुहास बीमन्धरिन । मय मयान क्यपथमकुति ॥ १४० ॥

प्रेमीजनो के जीवन में प्रथम दर्शन से अधिक मार्मिक प्रसंग प्रथम स्पर्श का होता है, जिसकी भावस्फुटता का 'चन्द' में 'रासो' में अनुभव किया है। मीठ में ही सहसा आकर पृथ्वीराज शशिज्वा को हाथ से पकड़कर अपनी ओर खींचता है और देर नहीं जाती कि 'चन्द' की कड़कती तपसा निकल पड़ती है—

‘चौहान हम्प नाम गहिम । सो ओपम कवि चन्द कहि ॥
मानो कि लता कज्जन छहरि । मल बीर गबरज गहि ॥ १४१ ॥

इस प्रकार उपमा और उल्लेख का एक ही छन्द में सफल प्रयोग करना 'रासो' पर की अपनी विशेषता है। परन्तु आदि के वर्णन में तो कवि स्पष्ट और उल्लेख से मोचे बात ही नहीं करता; और भी अस्फुटत व्यवस्थान 'पृथ्वीराजरासो' में आये हैं। कहीं-कहीं 'श्लेष' का प्रयोग कवि ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है। पृथ्वीराज के यह पूछने पर कि किस ऋतु में जी, पुरुष को नहीं चाहती, 'चन्द' ने 'ऋतु' शब्द पर बड़ा ही सुन्दर 'श्लेष' किया है। उल्लेख के तो वे सिद्ध-हस्त श्रेष्ठक अवस्था सम्राट ही हैं।

पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त एक और सुन्दर प्रबंधकाव्य नरपति नारद कृत 'बीरसूत्रेय रासो' भी है जो 'सुमान रासो' की अपेक्षा अधिक रोचक में लिखा गया है किन्तु उसमें अलंकृत काव्य के कुछ भले ही हम हैंद हैं, परन्तु अलंकृत काव्य के स्पष्ट दर्शन हमें कुछ प्रबंध काव्य में नहीं मिलता। रासो प्रबंधकाव्यों की परम्परा में 'सुमानरासो' के सर्वप्रथम आने के कारण उसमें काव्य साहित्य का अभाव होना प्रामाणिक ही है।

प्रेममार्गीय कहियो मे—विशेषकर कायरी की अलंकार बनना ता दृष्टनीय है। कायरी कृत 'पद्मावत' मलनी रोचक में लिखा एक प्रबंधकाव्य है जिसे विद्वानों ने 'प्रेमाम्बानक प्रबंधकाव्य', 'पदराज कथाकाव्य', 'महाकाव्य तथा रानीयक महाकाव्य' आदि नामों से पुकारा है। 'मलकृत के अलंकृत महाकाव्यों की मूर्ति 'पद्मावत' में ऋतुवर्णन तथा नरपतिर-विश्रय आदि जिसे प्रसंग भरे पड़े हैं। प्रस्तुत को प्राकृतिक

अप्रस्तुतों द्वारा व्यक्त करने या स्पष्ट करने की प्रवृत्ति आगसी में बहुत अधिक मिलती है। उदाहरणार्थ उन्होंने पद्मिनी को कमल और चन्द्र, रतनसेन का माँरा सूर्य और चन्द्रमा और अम्बावहीन को सूर्य रूप में माना है और इन्हीं अप्रस्तुतों के आधार पर रूपक लहे किये हैं, जैसे—

‘छली देखावहि कमलहि बाहु । तू बस चौंद सुख तोर नाहु ।

छपा न रहे सुख परमासु । बेलि कमल मन मण्ड हुमासु ॥ दो० २७९ ॥

‘कवि न पद्मावत’ क वर्णन में प्रतीकों का सहारा अधिक लिया है जिससे ‘रूपक’ की छान अपने आप उसकी शैली को गौरवान्वित करती है। वियोग काल के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा विरह-ताप के वैदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशदम्बना ही बागसी की विशेषता है। ‘इन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है पर वह अधिकांश संवेदना के स्वरूप में है, परिमाण निर्देश के रूप में नहीं है। संवेदना का यह स्वरूप छप्पेक्षा अलंकार द्वारा व्यक्त किया गया है।’^१

(क) ‘बनहुँ अग्नि के उठहि पहाय । ओ तब आगहि अंग अंगार ।

(ख) बरत बबगनि कद, पिठ, छाहा । आह बुझाऊ, अंगारन्ह माहा ॥

अगिठ, बरे, बरे बस भार । फिर फिर भूजेसि तबित न बार ॥

राजा रतनसेन द्वारा अम्बावहीन पद्मिनी का जो स्वरूप दर्पण में देखता है, उसका वर्णन कवि ने कमलातिशयोक्ति में इस प्रकार किया है—

सिप की छंक कुंमरबल ओक । अंकुमनाग महावत मोक ।

छेहि ऊपर मा चौंक बिगासु । फिर अंसि छिन्ह पुहुप रखवासु ।

हैं लंबन बिष बैठेठ मुषा । इहक क चौंद बनुक छे उषा ।

मिरिग बेलाह गवन फिर किया । ससि मा नाय हुवन मा निया ॥

दोहा ५७२ ।

यह एक ही उदाहरण ‘पद्मावत’ की शैली को अलंकृत शैली प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है और अब ‘बागसी’ कह कहने लग आत है कि—

येहि पंजी के नियर होह, करि विरह के वात ।

छाई पंसी जाह बरि, तरिवर बाहि निपाव ॥

तो अतिशयोक्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ‘पद्मावत’ में बागसी की अलंकार योजना अपने प्रौढ़तरंगरूप में निरकारि पहुँची है। संस्कृत क अलंकार महाकाव्यों की अलंकृत शैली और ‘पद्मावत’ में इतना ही अन्तर है कि बागसी न अलंकारों का बसाल काल का प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि वे उसकी मातृभूता क कारण प्रसंगानुसृत अपने आप आ गये हैं।

१ ‘हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास’, डॉ० राममृणाल सिंह, प्र० १, पृ० ४४० ।

२ पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रियंजी से उद्गम, सं० कृष्णानन्द, पृ० ४३ ।

‘रामचरितमानस’ का संक्षेप कितना साहित्यिक नहीं है उसके कहीं अधिक मार्मिक एवं सामाजिक है। मानसकार मोक्षामी दुष्मन्तीदास, भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के ब्रह्म सो वे ही, साथ ही साथ महाकवि होने के भी सभी उत्तमोत्तम गुण उनमें वर्तमान थे। यही कारण है कि अलंकारवादी न होते हुए भी उन्होंने ‘रामचरितमानस’ में अलंकारों की ऐसी सुन्दर याचना की है वैसे अन्यत्र दुर्लभ है। अर्थ को सुन्दर ढंग से व्यक्त करने, भावों के सौन्दर्य में वृद्धि करने, रूप-चित्रण और वस्तु-वर्णन में समीक्षित उत्पन्न करने तथा सुस्मृति, अगुभूतियों और क्रियाओं को मूर्त-रूपों में उपरिष्ठ करके उन्हें सहज बाधग्रस्त बनाने का किये ही ‘रामचरितमानस’ में अलंकारों का प्रयोग हुआ है न कि कमलार प्रदर्शन के लिये। यही कारण है कि ‘मानस’ में अलंकारसमीक्षा उत्पन्न करते हैं, वे उसके मार नहीं, बल्कि सौन्दर्य का वाहन या साधन हैं। ‘इस दिशा में दुष्मन्ती की सर्वाधिक सफलता साहचर्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना में मिली है। ‘मानस’ में उपमा, उपमेष्टा, रूपक, उष्टान्त, रूपकानुप्रासोक्ति आदि अलंकारों की ही अधिकता है, किन्तु उनमें भी रूपक की वैसे स्वाभाविकता, अधिकता और पूर्णता ‘मानस’ में मिलती है, वैसे हिन्दी के अन्य किसी महाकाव्य में नहीं मिलती। उपमाओं तथा सांग और परम्परित रूपकों के कारण ‘मानस’ में चित्रात्मकता भी बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। नोति और उपदेश-सम्बन्धी वर्णन तथा प्रकृति चित्रण में अधिकतर उष्टान्त और उदाहरण का सहारा दिया गया है और रूप-चित्रण में उपमेष्टा का।’ सीता की कंठजन के मुखर स्वर ‘राम’ को मदन गुंडुमी के स्वर से लगाते हैं जिसका वर्णन ‘दुष्टी’ ने उल्लेख के सहारे तो किया ही है, साथ ही साथ रूपक की भी अपनी अनोखी छटा वर्तमान है—

‘कंजन किंचिनि नूपुर धुनि सुनि । कइत लखन सन राम हृदय सुनि ॥

मानहुं मदन गुंडुमी दीन्ही । मनवा बिस बिस कहि कीन्ही ॥’

‘मानस’ में जब कविद्वार दुष्टी निराकार ब्रह्म की अव्यक्तिकता हृदयंगम करने का चाते हैं तो वे अनजाने ही ‘विरोधमूलक’ अलंकार की सुन्दर याचना कर देते हैं—

‘बिनु पद चरइ सुनइ बिनु जाना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥

आनन रहित सकल रस मोगी । बिनु बानी बचता बड़ बोली ॥’

अपने अन्य कृत्यों के साथ भी रामचन्द्र की जिन गतियों से होकर निष्पत्त हैं, उनमें निरास करने वाले स्त्री-पुरुष भक्ति हो जाते हैं। याथा करते पाछे के कइ का देराकर देखने पाछे के कइ का वर्णन ‘अलंकार’ का सुन्दर उदाहरण है—

‘किन्ह कीकन्ह विहरहि राव भाई । यथिह होहि राव सोय दुगई ॥’

इसी प्रकार ‘रामचरितमानस’ के मार्मिक साथ, अलंकार काव्य के उत्कृष्टतम उदाहरणों से भरे पड़े हैं। किन्तु मानसकार का सम्पूर्ण साहित्य-जीवन से होने के नाते और भारतीय साहित्य-जीवन के बीच ‘रामचरितमानस’ की रचना होने के कारण, इसमें उन तत्त्वों

का अभाव है किन्तु समावेश राबन्ध-संस्कृति के बीच संस्कृत महाकाव्यों में हुआ था। आदिशक्ति वास्मीकि के 'रामायण' की स्वाभाविक अलंकृत शैली के ही दर्शन हमें मेरुवामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में होते हैं, मारुति, माय अथवा श्रीहर्ष के नहीं।

श्रीकृष्ण और बचमयी के विवाह प्रसंग की कथा लेकर बोधपुर के राठौर राजवंशीय पूज्यराज ने 'बेकिफ्रिजन बचमयी री' नामक एक प्रबन्ध रचना प्रस्तुत की है जिसमें अलंकार वर्णन अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। पुस्तक का एक भी ऐसा पद नहीं है जिसमें दो-दो, तीन-तीन अलंकार अपनी छटा के साथ वर्तमान न हों। कवि ने भ्रान्ति, सन्देह, उपमा, रूपक तथा उल्लेख अलंकारों का बहुत प्रयोग किया है जिससे काव्य की सरलता में हानि ही हुई है। अलंकारों की इतनी टूँस-टूँस इस रचना में दिखाई पड़ती है, किन्तु कविता का व्यक्तित्व तथा उसकी रसमयता में किसी प्रकार की बाधा नहीं आन पायी है। शरदागम का बड़ा ही शक्तिशाली अलंकृत वर्णन कवि ने किया है। बर्षाश्रु के समाप्त होनाम पर स्वच्छ शरदूकास में स्थान-स्थान पर पुष्पी पर एकत्रित बस स्थिर होकर स्वच्छ हो गये हैं। मिट्टी या सेवार बस पर से उठी प्रकार छल हो गये हैं जैसे रतिचक्र में नाभिचक्रों की ओरों से उभा छल हो जाती है—

'बरिछा रिह गई सरह रिह बछ्छी । बालापिनु बचमा बचि ॥

नीसर घर बल रहित निबाने । निमुबनि सखा की नबनि ॥२०६॥

(बेकिफ्रिजन बचमयी री)

बसन्त ऋतु में माध्विनी की सुन्दर भ्रान्ति का विषय अत्यन्त व्यक्त बन पड़ा है। माध्विनी के भंग केदार बर्ण के हैं और उनसे केदार की-सी सुगन्ध भी आ रही है। केदार के पुष्प के से ही उसके कोमल हाथ हैं जिससे बन में केदार चीनती हुई वह अपने नलों में अपने शरीर की ही छाया बेलकर केदार के भ्रम में पड़ जाती है—

'तसुरंग बाह तसु बाह रंगतय

कर पसल कोमल कुसुम ।

बनि बनि माध्विनी केसरि बीगति

भूखी नल प्रतिबिम्ब भ्रम ॥ २१७ ॥ (बेकिफ्रिजन बचमयी री)

मदमत्त पुष्प रूपी उनके मधुमानिष्ठ को पुष्पधारण करने वाली स्त्रियों को आसिम्बन प्रदान करने में उसी प्रकार कोई संकोच नहीं होता जिस प्रकार मधुपान करके आया हुआ पुष्प पुष्पवती (कद्रुमती) जियों का आसिम्बन करने में कोई संकोच नहीं करता—जिस प्रकार मदमत्त पुष्प मद पीकर मद का भ्रम करता है उसी प्रकार मधुमानिष्ठ कहीं न बचता हुआ सर्वत्र मद की बपा कर रहा है—

'पुहुपवती सता न परत परैके

बेती भंगि आसिम्बन जान ।

मदबासी पपटार न मणै

पवन ब्रमन करती मधुपान ॥ २१९ ॥ (बेकिफ्रिजन बचमयी री)

‘रामचरितमानस’ का उद्देश्य कितना साहित्यिक नहीं है सबसे कहीं अधिक धार्मिक एवं सामाजिक है। मानसकार भोत्वामी तुलसीदास, भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के द्वाहा सो वे ही, साथ ही साथ महाकवि होने के भी सभी उद्योगोत्तम युग उनमें वर्तमान थे। यही कारण है कि अलंकारवादी न होते हुए भी उन्होंने ‘रामचरितमानस’ में अलंकारों की ऐसी सुन्दर योजना की है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। जय को सुन्दर दंग छ ब्रज करने, भावों के सौन्दर्य में वृद्धि करने, रूप-विशेष और वस्तु-वर्णन में रमणीयता उत्पन्न करने तथा स्वप्नयुक्तों, आसुतियों और क्रियाओं को मूर्त-रूपों में उपस्थित करके उन्हें सज्ज बाधक बनाने के लिये ही ‘रामचरितमानस’ में अलंकारों का प्रयोग हुआ है न कि बसत्कार प्रदर्शन के लिये। यही कारण है कि ‘मानस’ में अलंकाररमणीयता उत्पन्न करत है, वे उसके मार नहीं, बल्कि सौन्दर्य के वाहन या साधन हैं। ‘इस दिशा में तुलसी को सर्वाधिक सफलता सादृश्यमूलक अपस्तुतों की योजना में मिली है। ‘मानस’ में उपमा, उपमेष्टा, रूपक, दृष्टान्त, रूपकालिख्योक्ति आदि अलंकारों की ही अधिकता है, किन्तु इनमें भी रूपक की जैसी स्वाभाविकता, अधिकता और पूर्णता ‘मानस’ में मिलती है, वैसी हिन्दी के अन्य किसी महाकाव्य में नहीं मिलती। उपमाओं तथा सांग और परस्परित रूपकों के कारण ‘मानस’ में चित्रात्मकता भी बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। मोति और उपदेष्ट-सम्बन्धी वर्णन तथा प्रकृति चित्रण में अधिकतर दृष्टान्त और उदाहरण का सहारा लिया गया है और रूप-चित्रण में उपमेष्टा का ‘१’ सीता की के बंजन के मधुर स्वर ‘राम’ को मदन-गुंनुमी के स्वर से छाते है जिसका वर्णन ‘तुलसी’ ने उपमेष्टा के सहारे तो किया ही है, साथ ही साथ रूपक की भी अपनी अनासी छा वर्तमान है—

‘कंजन किंकिनि मधुर पुनि सुनि । कहत व्यक्त तन राम हृदय गुनि ॥

मानहुं मदन गुंनुमी दीन्ही । मनवा बिल बिजय कहं कीन्ही ॥’

‘मानस’ में जब कविकर तुलसी निराकार ब्रह्म की अस्मीकित्वा इदंरूप करन ब्रह्म बाते हैं तो वे अनजाने ही ‘विरोधमूलक’ अलंकार की सुन्दर योजना कर देते हैं—

‘मिथु पद पसर सुनह बिनु बाना । कर बिनु परम करह विधि नाना ॥

आनन रहित सज्ज रस मोभी । बिनु बानी बक्या बह मोभी ॥’

अपने अन्य मनुष्यों के साथ भी रामचन्द्र की बिन गल्पों से होकर निकलते हैं, उनमें निराश करने वाले स्त्री पुरुष अस्मिता ही बाते हैं। माया करने वाले के कह का बेरअर बेरने वाले के कह का वर्णन ‘अर्थवति’ का सुन्दर उदाहरण है—

‘किन्ह बीकिन्ह बिहरहि तब भाई । पछित होहि तब लोग दुगारि ॥’

इसी प्रकार ‘रामचरितमानस’ के धार्मिक स्वयं, अलंकार बाध्य के उत्कृष्टतम उदाहरणों से भरे पड़े हैं। किन्तु मानसकार या सम्पूर्ण लक्ष्य-जीवन से होने के नाते और भारतीय लक्ष्य-जीवन के बीच ‘रामचरितमानस’ की रचना होने के कारण, इसमें उन तत्वों

अथ अमात्र है दिनका समावेश रात्र्यन्त-संस्कृति के बीच संस्कृत महाकाव्यों में हुआ था। आदिश्रुति ब्रह्मगीति के 'रामायण' की सामायिक अलंकार शैली क ही दर्शन हमें गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में होते हैं, मारुति, माध अथवा श्रीहर्ष के नहीं।

श्रीहृष्ण और ब्रह्मणी के विवाह प्रसंग की कथा लेकर जोधपुर के राठीर राजवंशीय पृथ्वीराज ने बेकिरिचन ब्रह्मणी री' नामक एक प्रबन्ध रचना प्रस्तुत की है जिसमें अलंकार वर्णन अपनी पराक्रम्य को पहुँच गया है। पुस्तक का एक भी ऐसा पद नहीं है जिसमें दो-दो, तीन-तीन अलंकार अपनी छटा के साथ वर्तमान न हों। कवि ने भ्रान्ति, सन्देह, उपमा, रूपक तथा उल्लेख अलंकारों का बहुत प्रयोग किया है जिससे काव्य की सरलता में ह्रास ही हुई है। अलंकारों की इतनी टूँस-टोंस इस रचना में दिखलाई पड़ती है, किन्तु कविता का आभित्य तथा उसकी रसमयता में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने पायी है। शरदाग्रम का बड़ा ही क्लिष्ट एवं अलंकारित वर्णन कवि ने किया है। बर्पाकृत के समाप्त होनाम पर स्वच्छ शरदकाल में रवाना-रवाना पर पृथ्वी पर एकत्रित बल स्थिर होकर स्वच्छ हो गये हैं। मिट्टी या सेवार बल पर से उसी प्रकार दृष्ट हो गये हैं जैसे रतिकाल में नायिकाओं की आँखों से जमा क्षत हो जाती है—

‘चरिका रिख गई सरद रिख बळती । बालापिण्ड बनया बपनि ॥

नीसर बर बळ रहित निबाये । निधुवनि छया भी नबनि ॥’ २०६ ॥

(बेकिरिचन ब्रह्मणी री)

वस्तुतः कृत में माछिनी की सुन्दर भ्रान्ति का विषय व्यक्त क्लिष्ट बन पड़ा है। माछिनी के अंग कटार बर्ण के हैं और उनसे केशर की-सी धुगन्ध भी आ रही है। कटार के पुष्प के से ही उसके कोमल हाथ हैं जिससे बन में केशर बोनती हुई वह अपने नलों में अपने शरीर की ही छाया देखकर केशर के भ्रम में पड़ जाती है—

‘तसुरंग बास तसु बास रंगतण

कर पसम्प कोमल कुसुम ।

बनि बनि माछनि केशरि बीजति

मूछी नख प्रतिबिम्ब भ्रम ॥’ २१७ ॥ (बेकिरिचन ब्रह्मणी री)

मदमत्त पुरुष कृपी उनके मध्यानिष्ठ को पुष्पधारण करने वाली छटाओं को आसिगन प्रदान करने में उसी प्रकार कोई संकोच नहीं होता जिस प्रकार मधुपान करके आया हुआ पुरुष पुष्पवती (कटुमती) स्त्रियों का आसिगन करने में कोई संकोच नहीं करता—जिस प्रकार मदमत्त पुरुष मद पीकर मद का बमन करता है उसी प्रकार मध्यानिष्ठ कहीं न कहीं हुआ सर्वत्र मद की बपा कर रहा है—

‘पुटपवती छटा न परस परूके

बेटी अंगि आसिगन दान ।

मदवासी पपटाह न मणै

पवन बमन करतो मधुपान ॥’ २१९ ॥ (बेकिरिचन ब्रह्मणी री)

महाकवि केवल हूठ 'रामचन्द्रिका' की शैली संस्कृत के अनेक प्रबन्ध काव्यों के विस्तृत निष्कर्ष है जिन्हें पूर्ण के कुछ विद्वानों ने रीतिबद्ध महाकाव्यों के नाम से भी पुकारा है। महाकवि केवल कवि मात्र में हैं और आपार्य पढ़ें, जिससे उन्होंने अपनी अभिरुचि रचनाओं अनेकरो को समझाने अथवा धातु सम्पन्नित शून को मुख्य बनाने के लिए ही की है। 'वीरदेव सिंह चरित' तथा 'बहागीर बलचन्द्रिका' आदि उनका प्रबन्धकाव्य है किन्तु रामचन्द्रिका अनेक शैली में लिखी उनकी प्रौढतम रचना है, जिससे उन्होंने मुख्यतः पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए ही लिखा है, मक्ति-मावना से प्रेरित होकर नहीं। रचना का आधार अत्यन्त प्रसिद्ध रामकाव्य ही है, किन्तु 'केदार' के राम दुष्टी के मार्ग पर पुनर्पुनर् नहीं रह पाये हैं क्योंकि कवि बहुत तो निमित्त मात्र है जिसका सहारे कवि को अपने अनेक पाण्डित्य का प्रदर्शन करना था। यही कारण है कि उन्होंने उपमा देते समय भीक्षित और अनौचित्य का विस्तृत ही ध्यान नहीं रखा है। उन्होंने वनवास का प्रवेश करने वाले समय रामचन्द्रजी की उपमा 'चोर' से दी है—

‘चतुर चोर से घोरित मये । धरणीधर वनवास गये ।’

इसी प्रकार एक स्थान पर उन्होंने 'राम' की उपमा उलूक से दी है—

‘बाहर की सम्पत्ति उलूक क्यों न चितवत ।’

रामचन्द्रिका के अनेक स्थानों पर उन्होंने इसी प्रकार का अनौचित्यपूर्ण वर्णन किया है। शीता की उपमा बाबू पत्नी से^१ तथा राक्षसों की उपमा कमरे से^२ देना ऐसे ही उपहासास्पद प्रयोग हैं जो केदार के पाण्डित्य एवं समतत्कार प्रदर्शन प्रवृत्ति के लोचक हैं। सादरमूलक अनेकरो, उपमा-उपेक्षा आदि का प्रयोग करते समय उन्होंने समतत्कार प्रदर्शन की धुन में कुछ स्थानों पर ऐसे अप्रसुत-विधान किए हैं कि जिससे प्रसुत विधान का स्पर्श न होने का कारण अप्रसुत विधान बड़े अस्वस्थ हो गये हैं ऐसा कि पचास में लिखे हुये 'कमल' के वर्णन-प्रसंग में देखा जा सकता है—

‘सुन्दर सेत सरोवर में कर हाटक हाटक की बुति कोरे ।

तापर मीर मनी मनरोचन लोफ-विद्योचन को बलि रोरे ।

देति दई उपमा बस बैकि दीरघ देवनि के मन मोरे ।

केदार 'केदारदास' मनो कमलासन के धर उपर लादे ।’

—रामचन्द्रिका पूर्वाह्न छ. सं. ४९

उपरोक्त छन्द में कवि ने ब्रह्मा के धार पर विष्णु के बैठने की कल्पना की है जो अत्यन्त उपहासास्पद है। विविध अनेकरो के प्रयोग का बिठना आग्रह 'रामचन्द्रिका' में पाया जाता है उठना हिन्दी का किसी प्रबन्ध काव्य में नहीं। 'अनेक स्थानों पर तो कवि ने

१. 'विद्वक्त पत्र घूरे भट्टि क्यों बाज जीवे ।

सिबधिर शक्ति थी का राहु बीच सु लीवे ।' रामचन्द्रिका ।

२. 'कई देवदातो महे म्मोति गाये । मनो इस रोपाधि में काम लाये ।' रामचन्द्रिका ।

पमा, च्छेष्टा तथा सन्नेह आदि व्यङ्ग्यकारों की छड़ी-सी छगा दी है। इस रचना में प्रयुक्त व्यङ्ग्यकारों में रूपमा, रूपक, च्छेष्टा, प्रतीप, व्यतिरेक, व्यपमृति, विभाजना, व्यतिशयोक्ति, सहोक्ति, स्वभावोक्ति, श्लेष, परिसंख्या तथा विरोधाभास मुख्य हैं। इनमें भी जितना अधिक प्रयोग च्छेष्टा व्यङ्ग्यकार का हुआ है, किसी अन्य व्यङ्ग्यकार का नहीं हुआ^१। 'रामचन्द्रिका' के उत्तरार्ध में राममहल के वर्णन-प्रसंग में मध्यम का वर्णन करते हुए 'केदार' ने बड़ी ही सुन्दर च्छेष्टा की है—

‘मध्यम सेत लखे अठिमारी। सोहत है छतुरी अति कारी।

मानहु ईश्वर के सिर सोई। मूर्ति राख को मन माई ॥’ १२॥

चमत्कारवादी होने के कारण श्लेष, परिसंख्या तथा विरोधाभास आदि चमत्कार प्रधान व्यङ्ग्यकारों का बहुत प्रयोग आचार्य कवि ‘केदार’ ने ‘रामचन्द्रिका’ में किया है। बनकपुरी का वर्णन करते समय कवि श्लेषाव्यङ्ग्यकार की सहायता लेता है—

‘विन नगरी तिन नागरी प्रतिपद ईसकहीन।

बल्लभहार शामित न बहै प्रकट पयोधर पीन ॥’ १३ ॥ (पूर्वार्ध)

परिसंख्या व्यङ्ग्यकार के सर्वोत्तम उदाहरण हमें ‘रामचन्द्रिका’ में मिल सकते हैं। कम्ता है, यह व्यङ्ग्यकार कवि को सबसे अधिक मिय है। बनकपुरी का वर्णन करि परिसंख्या व्यङ्ग्यकार में ही करता है—

‘मूखन ही की जहाँ अयोग्यति क्यार गाह्य।

होम हुआघन भूम नगर एकै मस्तिनाह्य।

दुर्गति दुर्मेन ही छ कुटिल गति खरिन ही में।

भीरुछ की अमिषाय प्रग कविकुल के भी में ॥’ १४ ॥ (पूर्वार्ध)

राम की कुटिल चकुरि का भी प्रभाव सुर-नर तथा राक्षसों में सुन्दर दिखलाकर ‘केदार’ ने सुन्दर विरोधाभास की छवि की है।

‘बदलि चकुरि खुनाय की, कुटिल देखि बलि बोलि।

उदलि छपसुर मरन की निरखि छुड़ गति होलि ॥’ १८ ॥ (पूर्वार्ध)

कुछ व्यङ्ग्यकारों का तो बड़ा ही सुन्दर एवं यथानित प्रयोग रामचन्द्रिका में पाया जाता है। जैसे—कुदापयन्त राम के अयोग्यता छोड़ने पर चरनों पर गिरने के लिये रीढ़ते ‘मल’ की जो उम्मा ‘केदार’ ने गीरे से की है, वह बड़ी ही खटीक एवं सुन्दर बन पाई है—

‘आगत बिसोकि खुबीर खुबीर तबि,

अपम गति भूतक विमान तब आहया।

रामपद पद्म मुल तब कह बन्धु मुग,

दौरि तब पद पद समान मुल पाहयो ॥’ (रामचन्द्रिका उत्तरार्ध)

रूपक व्यङ्ग्यकार के भी सुन्दर प्रयोग रामचन्द्रिका में हुए हैं—

‘बड़ो मगन सब धाय, दिनकर बानर अरुन मुक्त ।

— कीन्हो छकि सहयब, सकल तारक कुसुम बिन ॥’ १३ ॥ (पूर्वार्ध)

चमत्कारवादी होते हुए भी केशव ने स्वभावोक्ति अलंकार तक का प्रयोग किया है—

‘कैये उर बानि बने बर डीठि लखाविकुने मति बेतकुये छी ।

नबै नबमीव बक गति ‘ब्रज’ बाउक से रँगही रँग लेखी ॥

छिये सब आधिन आधिन रँग बरा अब आवे आव की सहेछी ।

मये लख देह दशा, मिय-साय रहै नुरि दोरि कुरसा अछरी ॥’ १४ ॥ (उत्तरार्ध)

इसी प्रकार रामचन्द्रिका के पूर्वार्ध के छन्द १७, ४१, ४२, २५, ४६ तथा उत्तरार्ध के छन्द ४ में क्रम से रूपक, प्रतीप, अप-कुटि, अतिशयोक्ति, सहाति तथा विभाजना के सुन्दर नमूने मिलते हैं ।

हिन्दी के उक्त मध्यकाल में प्रचल्य काव्यों की विशेष उन्नति नहीं हो पाई । ‘खिले तो अनेक कथा प्रबन्ध गये, पर उनमें से जो ही चार में कवित्व का ध्येय आकर्षण पाया जाता है । सबसंसिंह का महाभारत, छविंसिंह की विजय-मुक्तावली, गुरुगोविन्दसिंहजी का चण्डी चरित्र, छाल कवि का छत्रप्रकाश, जोधराज का इन्मीरराखी, गुमान मित्र का नैपथ्यचरित, सरयूराम का जैमिनीपुराण, सुहन का सुजानचरित्र, बेबीदच की पैताल-पथीसी, हरनारायण की भावबानस काम कन्दला, ब्रजबासी दास का ब्रजविजयस, गोकुलनाथ आदि का महाभारत, मुधुसूदनदास का रामायणमेघ, कृष्णदास की भाषा-भागावत, नवसंसिंह छत्र भाषा-सप्तशती, आह्नारामायण, आह्नारामहाभारत, मूछ टोला तथा चन्द्रसेखर का इन्मीरहठ, मोहर का जंगमनामा, पद्माकर का रामरसायन ये इस काल के मुख्य कथात्मक काव्य हैं ।^१ किन्तु रचनायें अत्यन्त साधारण कोटि की हैं, जिनमें हमें स्वयं अलंकृत शैली का दर्शन नहीं होत । संस्कृत साहित्य में अलंकृत प्रबंध काव्यों का विप्लव आदि कवि बाल्मीकि तथा काशीदास की स्वाभाविक अलंकृत शैली से आरम्भ होकर भीरुप के ‘नैपथ्यचरित’ तक जिस प्रकार क्रमशः अलंकरण की भार बढ़ता ही गया और अपनी परकाश को प्राप्त कर पाया, उस प्रकार की स्थिति हिन्दी प्रबंध काव्यों का क्षेत्र में नहीं रही । केवल ‘रामचन्द्रिका’ ही हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में एक ऐसी रचना है जिसे पूर्वोक्त अलंकृत अथवा ऐतिवृत्त प्रबंध काव्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है ।

हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में अलंकरण प्रवृत्ति का विकास प्रवृत्ति रूप में नहीं बल्कि अनुकरण रूप में हुआ है, जिससे अनुसूच परिधिस्थि में मुख्य काव्यों का महत्व बढ़ जाने के कारण अलंकृत शैली का विकास प्रबन्ध काव्यों की भार से हटकर ‘मुख्य’ काव्यों की भार आ गया । यही कारण है कि ‘रामचन्द्रिका’ के पश्चात् खिले जाने वाले प्रबंध काव्यों में न तो भावबला है और न तो अलंकृत शैली का निर्वाह ही । प्रबन्ध काव्य छिगने की परम्परा ही कुछ मात्र तक का स्थिर स्थायित्व ही गयी और जो कुछ छिगे भी गये हैं

ऐसे कवियों द्वारा किये प्रबन्ध काव्यकार की विशुद्ध प्रतिमा नहीं भी और वे कथा किरने के मोड़ में पड़कर प्रबन्ध काव्यों के नाम से बोझ-सोझ ही मिल रहे थे। कुछ कवियों की छारी की छारी प्रतिमा मुक्तक काव्यों के माध्यम से नाविका-येर अपना स्वयं प्रबन्ध के रूप में स्थिती खाने वाली अलंकृत कविता की ओर लग गयी और कविता के इस क्षेत्र में कुछ अत्यन्त भेद अलंकृत रचनायें हुईं भी हैं। बाद के सिखे खाने वाले प्रबन्ध काव्यों में बोलचाल कृत हम्मीररावों ही एक ऐसी प्रशस्त रचना है जिसमें मार्मिक स्थलों पर अलंकृत शैली के कुछ दर्शन मिल जाते हैं। बेगम और सेख के ध्वज में मिलन प्रसंग की कविता करते समय कवि ने कहीं ही सुन्दर उत्प्रेषण की है :—

‘महा मोद मन बखो परस्पर उन मन कुस्त्रि ।
मिठिय बक मन संक निरंक है आसन सुस्त्रि ॥
मानो कोक पकोर बन्द छम्बरा एविके ।
बन शामिनि मनु मिथिय कामरति पति मुख फेके ॥
हुँ और और स्वातिक भुनो, गाढा आखिनि दिय ।
नल लौं नाहि परसे लपटि, सकल कोक कछी किय ॥’ २१० ॥

(हम्मीररावों)

महमूदशाह कवि कृत ‘रमास्वमेव’ भी अन्य परवर्ती प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा साहित्यिक रचना है।

गीति और मुक्तकों के व्यङ्ग्य

हिन्दी कविता में अलंकृत शैली का विकास मुख्यतः दरबारी साहित्य के मुक्तक कवियों के काव्यों में ही हुआ, प्रबन्ध काव्यों में उसका अस्तित्व तो नाम मात्र का ही है। मीर और मुक्तक काव्यों में कोई साहित्यिक अन्तर नहीं है, वे दोनों ही मुक्तक काव्य ही हैं। किन्तु मीर काव्य अपनी कविपद्य विशेषताओं के कारण मुक्तक काव्य से दृढ रूप से पड़ता है। गीति काव्य की गेयता उसकी प्रमुख विशेषता है जो मुक्तक काव्य से उसे अलग करती है। इसके अतिरिक्त मीर काव्यों में अधिकांश कवियों को ही अलंकृत काव्यमयी शैली में लिखित किया जाता है, प्रमाण स्वरूप कवि (सुरास) के गीतों को से सकते हैं। मुक्तकी शास की मीठाबखी तथा कविताबखी इसी कोटि की रचनायें हैं जिनमें से कवियों को निश्चय कर काव्यरस का आनन्द प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। स्वतन्त्र मुक्तकों में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि वे जीवन के सख्त-भिन्नों का लेकर किसी अपने में पूर्ण रूप माने होती हैं। ऐसी स्थिति में गीति काव्य को यदि हम प्रबन्ध मुक्तक और मुक्तक काव्य की स्वतन्त्र मुक्तक के नाम से पुकारें तो अनुचित न होगा।

प्रबन्ध मुक्तक

प्रबन्ध वेय मुक्तकों की भी १५ कोटियाँ दिसलाई पड़ती हैं जिनमें से एक का सम्बन्ध शौकिक श्रृङ्गारिक कविताओं से है और दूसरे का अधिकतर गीतों से। सम्पदाधीन हिन्दी साहित्य के अधिकतर गीतों का अर्थ या मूल वैयर्थ अंगवस्त्रि में है, उदाहरणों में

नहीं। ये गीत न तो भाट और चारण की सृष्टि है और न भोग-विभ्रमिता की उपरस, वास्तव में इनका स्वर राधा-धन्य, नटवर भीकृष्णधन्य की की सीमाओं से प्रस्तुतित हुआ है, जिन पर भीमनागकृत तथा बिदम्बास का सबसे अधिक प्रभाव है। सूर तथा नन्ददास आदि अष्ट छाप के कवियों पर यह प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है किन्तु विदेशी मुस्लिम संस्कृति के संपर्क में आने के कारण फारसी साहित्य की कोमल प्रेम भावनाओं ने उनके स्वर को भी कोमल बना दिया था, जिससे उनमें पूर्ण के संस्कृत वैष्णव कवियों की ही कर्तृता नहीं रह पाई थी।

मक्तिपरक गीतों के साथ ही साथ स्वल्प छोक जीवन से अभिमूढ ऐहिकतापरक गीतों की भी सृष्टि हो रही थी। मक्त कवियों ने जिस खेत से मक्ति मानना प्रारम्भ किया वही से स्वल्प छोक जीवन के मधुर गायक कवियों ने भी प्रेम परक प्रेरणायें ग्रहण कीं। भागवत के इष्टम स्वरूप में छोटिकता और अछोटिकता दोनों विद्यमान है और मध्यकालीन हिन्दी कवियों के पूर्ण भी जिस को छत्स करके ऐहिकतापरक, रचनायें हो रही थीं। जब इस्लाम धर्म भारतवर्ष में आया, तब तक इस प्रकार की रचनायें, वहाँ क्यूसी मिली या बुझी थीं एवं भारतीय साहित्य में एक ऐसी बाध बहने लगी थी जिसमें धर्म और परलोक की चिन्ता नहीं, जीवन के भोग कर्मों का सरस बसान था। इसके भीतर छिपे-छिपे एक प्रकार की मातृकता भी पकती आ रही थी जो व्यक्तियों की अशाओं पर न्यायावर होती थी, जो प्रेम के ऐहिक कर्मों पर कुरबान थी, जो बिरह के दाह से सुरस्ताने लगती थी एवं मिन्न की बर्षा में मींगकर सम्मान में ही हो जाती थी।^१ जिसकी मातृकता पूर्ण प्रभावमयी होती ने मक्तिपरक गीतों तक को भी प्रभावित किया है और आगे चलकर शृंगारिक मुक्तकों में तो इसका चरम विकास ही हुआ है।

प्रथम गेय मुक्तकधरो में महाकवि सुरदास और कवि चित्तेमणि गोरखामी तुलसीदास का नाम प्रमुख है, जिनमें अशंकृत रोमी के सुन्दर नमूने दिखाई पड़ते हैं। महाकवि सुरदास एकमात्र ऐसे कवि हैं जिनके समान सामाजिक अशंकृत रोमी में अस्थित रचना करने वाला कवि सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं हुआ। 'सूर का काव्य भावों का समझता हुआ सागर है, जिसमें रस की बाढ़ नहीं पायो जा सकती। मक्ति और वास्तव्य के भावों को रस की कोटि तक पहुँचाने का भोग्य सूर को ही प्राप्त है, क्योंकि इन भावों का ऐसा तीव्र एवं व्यापक अभिव्यञ्जन, जो रस के सार शास्त्रीय अंगों से पुष्ट है, सूर के अतिरिक्त किसी कवि से नहीं हो पाया। जिस प्रकार हमझती हुई सरिता अपने बूझ-निपमित सरसपथ में प्रवाहित होने में असमर्थ होकर लकीर-नवीन मार्ग खोज लेती है, उसी प्रकार अनुभूति और भावुकता के चरमविकास की स्थिति में कवि के कण्ठ से निकलते हुए भाव-रस-धारा सीधी सरस भाषा के बूझों में न समाती हुई चमत्कारपूर्ण बह कवनों के विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती है, यह स्वाभाविक है।'^२ इनके मधुर गीतों की चमत्कार

१ राधमाती सिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार आयाम', प्र० सं० पृ० ३५०।

२ डॉ० हरिवंशदास शर्मा, 'सूर और उनका साहित्य', प्र० सं० पृ० ३६८।

में देखी तथा बान्धव्य सहृदयता से आतपोत्त है जिससे उनमें अलंकारों के प्रयोजन के रान नहीं होत और वे अपने रूप-चित्रण में सर्वत्र संवेदनशील दीक्ष पढ़ते हैं। अलंकारों का प्रयोग सुवास ने विरोधकर सौन्दर्य बोध के लिये किया है।

महाकवि 'सु' की सौन्दर्यानुवृत्ति अब सदा हो उठती है, उनका हृदय अब तस्मिन् तो बाठा है, तो उनकी कल्पना उस वस्तु के सौन्दर्य का और अधिक हृदयग्राही तथा भावोत्साहक बनाने के लिये अप्रसुत व्यापार योजना का संश्लेष करने का जाती है, जिससे उस समय कवि की रचना में अलंकारों का समावेश अपने आप हो जाता है। परिणामस्वरूप 'सु' की रचनाओं में उपमा, रूपक, उल्लेख, रूपकातिशयोक्ति तथा प्रतिवस्तुमादि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'सुवास की यहाँ सांसारिकता से ऊब कर केवल मन से ऐसा स्थान खोजने को प्रयत्नशील होते हैं, जहाँ ऐहिक राग-विराग, मानापमान, सुख-दुःख आदि दुष्टों का अभाव हो, जहाँ स्वामाविक रूप से ही प्रत्योक्ति अलंकार आ गया है।' उन्होंने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का अधिक और स्वामाविक प्रयोग किया है। अर्थालंकारों द्वारा रूप-सौन्दर्य-चित्रण के साथ-साथ उसके द्वारा भाव-सौन्दर्य को ही विशेष रूप से प्रस्तुत करना सरल होता है। यही कारण है कि चमत्कार प्रदर्शन के लिये यदि हम 'साहित्य सङ्घी' को उनकी रचना मान लें तो, शब्दालंकारों का बहुत प्रयोग हुआ है, जिसमें यमक, अनुमास, श्लेष, बीप्सा और व्योक्ति का विशेष प्रयोग किया गया है। दृष्टक पदों के लिये श्लेष और यमक अलंकार सबसे अधिक उपयुक्त भी होते हैं। अर्थालंकारों का प्रयोग 'सुवास' के पदों में अपनी पराक्रम्यता को पहुँच गया है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार का जितना सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित पद में है उसका उल्लेख एवं सटीक उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है :—

‘तमसे इन सबहिन लख पायो।

अब ते हरि सन्देश सुनारो सुनत तांबरो आयो ॥

फूले व्यास डुरेते प्रगटे पवन घेट मरि लायो।

फूले मिरग चींकि बलन से डूते को बन बिसरयो ॥

निजसि कंदरा डूते केहरि मार्गें पूछ दिसायो।

गहर ते गहराव आय अंग अंग प्रीत गर्भ बढ़ायो ॥

तँजो पैठि बिहंग समा में सुक बनराय कहायो।

किमकि किमकि कुल सहित आपन कोकिम मंगल गाया ॥

अब बनि गहर करो हा माहन को चाहत हा क्याया।

‘सु’ बहुरि है राधा का सब देखिनि का माया ॥’

‘सुवास’ के पदों में अप्रसुत व्यापारों का आयाजन करने के कारण सादरप्रसूत अलंकारों की प्रचुरता ता है ही, सांगरूपक का प्रयोग उसमें सबसे अधिक हुआ है। पठितन का राधा सु का सांगरूपक अलंकार का सहार वर्जन द्रष्टव्य है :—

‘हरि हीं सब पतिवन को रखा॥

निन्दा पर मुल पूरि रखो जग, यह निधान निव बाबा॥

रुप्ता बेष बर सुमन मनोरथ, हन्त्री खल। हमारी ।

मन्त्री काम कुमति दीपै की, क्रोध रहस्य प्रतिहारी ॥

गज बर्हकार चञ्चली दिगबिजयी, सोम छत्र करि छीत ।

क्रोध अतत-संगति की मेरै, ऐसी हीं मैं ईस ॥

मोह-मया बन्दी गुन गावत, मागव दोष अपार ।

‘सु’ पाप को गढ़ हढ़ कीन्ही, सुदृक्म बह किवार ॥’ (सुखागर १४४)

अनिष्टा अवस्था माया को ग्राह्य मानकर सु ने केवल गाय उपमान का ही वर्णन ‘माया’ उपमेय के गुणों की ओर संकेत करते हुये इस प्रकार किया है कि अप्रसृत वर्णन के द्वारा प्रसृत का प्रवेदन हो जाता है जिससे अप्रसृत प्रबंधा अलंकार को सुन्दर योचना हुई है—

‘मायो बूढ़ मेरी हक गाह ।

अन आन हैं आप आगे दई, कै आइवे बपई ।

यह अति हर्षाई, हटक्य हूँ बहूँत बमारय चाति ।

फिरति बेद-वन-ऊख, उल्लासति, सबदिन अरु सबराति ।

हित करि मिलै रेहु गोकुल पति, अपने गोपन मोई ।

मुल सार्द्ध मुनि बचन प्रहारे, वेहु कृपा करि बाई ।

निबरक रही सु के स्वामी, बनि मन बानी फेरि ।

मन-ममता बधि हीं रखवारी, पहिलै छिहु निवेरि । (सुखागर ५१) ना० प्र० समा

श्रीकृष्ण की मुल छवि का वर्णन करते समय सुदास ने उल्लेख अलंकार की बड़ी ही सुन्दर योचना की है—

‘मुल छवि कहीं बनाई ।

निरखि निशि पति बदन-सोमा-गयो गगन दुपार ।

अमृत अखि मनु पिबन आए, आहरै। प्रमाह ।

निफति तरलै भीन मानौ, अरु और छुपह ।’

जनक-कुण्डल-खनन विभ्रम कुमुद निशि लकुबाह ।

सूर हरि की निरखि सोमा काटि काम लबाह ॥ (सुखागर ९७ ना० प्र० समा)

कवि जब कृष्ण व सुन्दर नेत्रों की उपमा हँसकर बतलाता है या निरपेक्ष हाकर उसका विह्वल मन ग्राह्य धारितरेक अलंकार की संहति करता है :

‘उपमा नैन न एक रही ।

कवि जन कहत कहत सब आए, मुनि करि नाहि कही ॥

कहि प्रकार विभु-मुण विभु बीकत, भ्रमर नहीं उड़ि जात ।

हरि-मुरा कमल-कोष निगुरे हैं टाटे कत टहलत ॥

ऊपी बधिक आप हवे आये, मृग सम क्यों न पछात ।’

(सुखागर ४१९०) ना० प्र० समा।

इसके अतिरिक्त नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर के पद संख्या १२५४, १४३१, १२६०, १२४४, १२५८, १२६१, १४७३ तथा ४१२६ में क्रम से ठल्लेख, प्रतीप, सन्देह, अतिशयोक्ति, मेदकातिशयोक्ति, चम्पावनी, उपमा आर-अप-हुति अलंकारों के सुन्दर प्रयोग देखे जा सकते हैं।

मागवान् कृष्ण के यद्य-धीर गुणवर्णन में 'सुरदास' ने अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति और विरोधामास अलंकारों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है यहाँ-तहाँ अर्थान्तरन्यास और उदाहरण अलंकार भी आये हैं। चकई, मृगी, सूत्रा आदि के प्रति गाये पदों में अन्योक्ति अलंकार के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। 'मगवान् अकारण हो मत्को और दीनवनों पर कृपा करते हैं, ऐसे भावों के प्रकाशन में विभावना अलंकार है। प्रेमगोपन के लिये सन्देह, विरसयोत्पत्ति के लिये असंगति, असंभव और विपम आदि अलंकारों का आशय लिया गया है। शिव और कृष्ण के रूप वर्णन में सांग रूपक और श्लेष के साथ-साथ, अपगुति का भी प्रयोग हुआ है। राधा और कृष्ण के सौन्दर्य वर्णन में अपेक्षा और सांगरूपक का तथा संसार को असारता, जीवन की क्षणमगुरता, भगवत्प्रेम आदि के वर्णन में उपमा के साथ-साथ अर्था-न्तरन्यास का विशेष प्रयोग हुआ है।' सूरसागर के पदों में इतने अलंकारों के होते हुये भी जो उनकी सरसता एवं स्वाभाविकता अनुभव रही है, उसका एकमात्र कारण महाकवि 'सूर' के भावों की तन्मयता और अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही है।

तत्पूर्व मध्यकावीन हिन्दी कविता में स्वाभाविक अलंकार शैली का यदि कहीं उच्छन्न निर्वाह हो सका है तो महाकवि 'सुरदास' के प्रकृत योगमुख्यों में ही। वे जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो भावों-अलंकार शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पोछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लग जाती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं-बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में-इस तन्मयता के साथ शारीरिक पद्धति का निर्वाह बिरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि ज्ञान-भूषण अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइये केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, स्रक्षण और व्यंजना का पसकार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, बार बार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी बाधित नहीं हुआ। काव्य गुणों की इस विशाल बनसारी में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय बगान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माछे के कृतिस्व की पाद दिखाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम बनमूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है^१। सुरदास के अन्तिम पद निखन्देह अलंकार कविता का सर्वोत्तम नमूने हैं।

१ डा० हरिवंशदास शर्मा—'सूर और उनकी साहित्य', प्र० सं० ५० पृ० ४३८।

२ डा० इन्दरीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य', प्र० सं० ५० पृ० १८४-८५।

महाकवि सुरदास के गेय पदों को इतनी यथाति मिथी कि तात्कालीन समस्त उत्तरी भारत उनकी मधुर रागिनी से गूँब उठा और उनके धीमाप्रभु कृष्ण के प्रति सिंसे गये उस पद बेबाक्यों से छेकर कुठियों तक तन्मयता के साथ गाये जाने लगे। अन्य सम-कालीन कवियों ने भी इस की बीजा के साथ स्वर मिथ्याकर गाना आरम्भ किया और यहाँ तक कि मर्यादावादी गोस्वामी तुलसीदास को भी 'भीकृष्ण गीतावली' लिखने के लिये बाध्य होना पड़ा। रामचरितमानस की अपेक्षा गीतावली, कवितावली तथा विनयपत्रिका आदि प्रमुख गेय अथवा अगेय मुक्तकों में तुलसी का कवि-इन्द्र अथि क सुलभकर व्यक्त हो सका है। यहाँ कहीं भी श्रीरामचन्द्र जी के मनोहर रूप का वर्णन नहीं करना पड़ा है, वहीं निधरे छेत्तनी में माध-विह्वलता की भाषा उठती है जिससे अलंकारों का स्वाभाविक रूप प्रयोग अपनेआप होता गया है।

एकदा कदायु को गोद में लेकर आत्यन्त करुणमाय से निवृत्ति को कोठते हुये श्रीदापुण्यात्म राम की भावविह्वलता की मृमिका में 'तुलसी' स्वयं उतरते बान पड़ते हैं। अनुपूर्व राम के नेत्रों का वर्णन करते समय कवि की सहायता के लिये उष्मा और उद्येष्टा लंकार अपनेआप आ गये हैं :

‘रघुबी गीब योद करि झिन्हो ।

नयन-सरोव सनेह-सल्लि सुचित मनहुँ करब बस झिन्हो ।

धुनहुँ छयन । लगपतिहि मिले बन मैं पितु मरन न जान्यो ।

सहि न तक्यो सो कठिन विषाठा बड़ा पपु आनुहि मान्यो ।’

तुलसीदास की अन्यकृतियों से अधिक अलंकारबोझना कवितावली और गीतावली में है। उन्होंने 'रूपक' अलंकार पर अपना अनुपमेय अधिकार दिखाते हुये उसका प्रयोग अपनी कृतियों में परा-पर पर किया है। छोटे-छोटे निरुद्ध और परम्परागत रूपों का जो कहना गया, बड़े-बड़े और बेजोड़ सांगरूपक के भी एक से एक बढ़कर उदाहरण 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' प्रभृति प्रबन्ध कृतियों में अवलगाते हैं। उन्होंने अपने इन लम्बे-लम्बे सांग-रूपकों में मनास नहीं है कि सादृश्य और साधर्म्य का आद्योपान्त निर्धार न किया है, साथ ही उसकी पूर्ण प्रमत्तिपुता न निर्धार हो?। अनुमति का अवसर पर 'गीतावली' में तुलसी जी ने सहायि अलंकार का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

‘गहि करतल, मुनि पुष्टक सहित, कोनुकहि उठाय किया ।

रूपगनमुगनि समेत नमित करि सबि सुग सयहि दियो ॥

आचरण्यो सिध-मन समेत हरि, हरणा जनक-दियो ।

भोग्य भगुरति-गर्भ सहित, तिहुँ साक किन्ह किया ।’

(गीतावली बालपर्व गीत ८८)

तुलसी 'गीतावली' बाल्य० गीत १३ ।

डा. राजशिव द्विवेदी—‘तुलसीदास और उनकी युग’, प्र० सं० पु० १९३१ ।

उल्लेख और अतिशयोक्ति अलंकार, अथर्वसांस्कृतिक अलंकारों के अन्तर्गत ही आते हैं। तुलसी ने अपने गीतों में इन अलंकारों का भी प्रयोग विरल लोभकर किया है। उपमाओं और रूपकों की भाँति उल्लेखों की भी भरमार उनके गीतों में देना या सकती है। जानकी-र और रामचन्द्र की की कब से सुन्दरता का वर्णन करने लग जाते हैं तो एक नहीं बनेक अलंकार सहायता के बिना दौड़ पड़ते हैं :

‘जानकी-र सुन्दर माई ।

इन्द्रनील-मणि स्वाम सुमग अँग अँग मनोबनि बहुलधि छाई ।
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नलपुति रैत कहुक अरुनाई ।
कंद इक्षनि पर मनहुँ मोम इस धैठे अक्स सु तरसि बनाई ।
पीत ज्ञानु उर पाव बटिख मनि मूपुर पद कळ मुसर साह्राई ।
पीत परग मरे अखिान बनु क्लृप्त बसब छलि रहे खेमाई ॥
किंकिन कनक कंद अरुखी मृदु मरकट सिखर मध्य बनु बाई ।
गई न ऊपर समीठ नमित-मुख, बिचलि चहुँ दिशि रही खेनाई ॥
बज्रोपवीत विचित्र हेममय, मुक्तमाळ उरसि माहि भाई ।
कंद तदित बिज बनु सुरपति बनु-रविर बखस पाँति पलि भाई ॥
कंद कंद चिबुकापर सुन्दर, क्वों कहौ दसनन की रचिपाई ।
पहुम कंठ मेंह बसे बज्र मनो निब सँय तदित-अरुन-रवि भाई ॥
नासिक पाव, ललित अञ्जन, मू कुटिल, कचनि, अनुपम छवि पाई ।
रहे बेरि राखी उर्मय मना चंचरीक कहु हृदय बेपाई ॥

(गीतावली बासकांड मीत १०६)

एक ही गीत में उपमा, उल्लेख तथा अनुप्रास जैसे अलंकारों की सुन्दर याचना बिल प्रकार तुलसी ने उपरोक्त रचना में की है अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी की समन्वय वाली प्रतिभा ने रामा और अर्थालंकारों का भी कहीं कहीं अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया है। तुलसी अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के कवि थे जिससे उन्होंने रामालंकारों पर विशेष दृष्टि नहीं रखी है किन्तु फिर भी वे स्वाभाविक रीति से उनकी रचना में आ ही गये हैं। रहे अर्थालंकार, जिनमें से कदाचित् ही कोई ऐसा अलंकार छूट गया हो जो इस कवि की रचना में न आया हो, नहीं तो प्रायः सभी अर्थालंकारों के सुन्दर उदाहरण उनके गेय अथवा अगेय मुक्तकों से उद्धृत किये जा सकते हैं।

स्वतंत्र गेय मुक्तक

मछिपरक प्रवच गेय मुक्तकों पर भी जिस कविता की कोमलता का प्रभाव पड़ा है, वह है सरल गद्य कविता जो सीस प्रभु भीकृष्ण और ब्रह्माग्नाओं के निकट तथा ब्रह्म भूमि के आस-पास तो जाती रही किन्तु जिसमें मानव-मन की श्रृंखलित इच्छा की ही अभिव्यक्ति अधिकतर हुई है। मछि परक स्वतंत्र गद्य पद स्थित होने के कारण, जिनपर मागवत् सहज चार्मिक श्रव्य का प्रभाव होता है किन्तु उनकी कथाओं को ही वर्णन का प्रयत्न नहीं किया, उन स्वतंत्र गेय मुक्तकों से सर्वाधिक प्रभावित हैं जो ‘विद्यापति’ के फण्ड

से फूटे थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में भागवत-धर्म की उत्पत्ति हो रही थी, परन्तु मछिमार्ग के वैष्णव सम्प्रदाय की प्रवृत्ति थी, 'जिनके भाव मनुष्यों के हृदयों को आन्दोलित कर रहे थे, जिनका विकास आगे बढ़कर हिन्दी कवियों की अमृतमयी भाषा में हुआ है। ब्रजभूमि में 'पद्मचक्र वैष्णव धर्म में और भी बल प्राप्त किया जहाँ पर इसपर एक विशेष रङ्ग भी पड़ गया। ब्रजनायक श्रीकृष्ण चन्द्र के जीवन-परिण का प्रथमोक्त नहीं देख्य गया था और बड़ी रहस्य ज्यों के निवासियों के हृदय में प्रतिबिम्बित हो रहा था। अतएव उनकी रचि और भक्ति उस भाव और कला की ओर विशेष रूप में झुक गयी। 'ब्रज-भूमि तो पूर्णकला-प्रवीण सुरसी-अमोहर की अंगस्थली ही थी, उसका कहना ही क्या। वंग और बिहार के बयारब, बिद्यापति ठाकुर और अण्डीदास भी इस भाव से उन्मत्त होकर सम्मग्न हो गये थे। उनके गीतों और पदों की अपेक्षित्य महाप्रभु नेत्रों में आँसु भर कर गाते थे।' यही कारण है कि मछ-हृदय कवियों एवं मनुष्यों को अपने अधिकाधिक आकर्षित किया किन्तु वे गीत उनकी अन्तर्दृष्टियों से फूटे थे। बिद्यापति के गीतों में तो मानवीय भावों की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है।

विराट्ट प्रचार के साहित्य के बीच से हिन्दी कविता का विकास हुआ, उसमें गान करने योग्य पदों का बहुत अधिक साहित्य था, यद्यपि वह बहुत ही बेका हो बच पाया है। 'बौद्ध सिद्धों के कुछ गेय पद बच रहे हैं। परन्तु इसकी परम्परा हिन्दी साहित्य में भी रही है। कबीर, सुरदास, दादू, मुकसीदास आदि महाकवियों की रचनाओं के गेयपद हमके समूह हैं'। बिद्यापति का रचनाकाल एक प्रकार से अपरंप्र कविता का समाप्ति और हिन्दी कविता का आरम्भ काल था। अपरंप्र साहित्य में शृंगारिक कविताओं की घूम थी, जिसकी सत्ता के प्रभाव सन्देशवाचक के पद तथा हेमचन्द्र के दादे हैं। बिद्यापति का इस स्वल्प साकशात का स्वाभाविक प्रभाव से अछूता रहना कठिन हो था। इनके भी पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमें नायिका और नायक रसा-कृष्ण हैं। इन पदों की रचना बबरेब क गीतकाल के अनुकरण पर ही आधार की गयी है। इनका माधुर्य अछूत है। बिद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काल की दृष्टि से की है, मछ के रूप में नहीं। जिससे इनको कृष्ण-मछों की परम्परा में न समझना चाहिये। बार के हिन्दी मुकक-कालों पर बिद्यापति का स्पष्ट प्रभाव तो नहीं दितलाई पड़ता किन्तु रसा कृष्ण का केवल नाम छेकर नायक-नायिका का मित्र-कामनी कीटिक शृंगारी साहित्य की ओर परम्परा मध्यमकीन हिन्दी साहित्य में विकसित हुई निमित्त ही उन पर बिद्यापति की शृंगारिक अनुभूतियों का प्रभाव है किन्हीं अंग भ्रम से बर्गीकृत मान बैठत है।

बिद्यापति के गीतों की प्रयुक्ति पर अर्जुन काव्यो का सम्पूर्ण वैभव प्रकाशित हो जाता है। अनुप्रासों की अछूत छटा उनके गीतों में सर्वत्र विद्यमान है। जहाँ कहीं भी

१ डा० रामप्रसाद त्रिपाठी—'ब्रजभाषा का काव्य और गद्य', सरस्वती पत्रिका
लुकाई १९२० ई० पृ० २७०।

२ डॉ० रामचन्द्र झा—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० २००३ वि पृ० ५०।

नई नारी-सौन्दर्य का विषय करना पड़ा है उन्होंने उल्लेख अलंकार का सहारा लिया है।
एन करती हुई नायिका का उल्लेखपूर्व वर्णन दर्शनीय है—

‘कामिनी करण छनाने । बैरिठहि हृदय ५ इनए ५ पंचषामे ।
चिहुर मरण बस धारा । बनि मुख-ससि-जर मय होअय अंधारा ॥
तिठक बसन लगु लगू । मुनिहुक मानस मनमय बागू ॥
हुब मुग बाब पकेबा । निब कुल बानि मिळावस देबा ॥
ते लहे मुब पासे । बाधि बयस उठि बायत अकसे ॥
कवि कियपति गाबे । गुनमति बनि पुन तम बन पाबे ॥’

(विद्यापति पदावली)

विद्यापति द्वारा प्रयुक्त अलंकार उनकी रचनाओं की सरसता में ऐसे कुछ मिल गये हैं कि ध्यानपूर्वक देखने पर ही दिलकाई देते हैं। ऊपर ही स्पष्ट कर दिया गया है कि विद्यापति के गीतों की परंपरा हिन्दी गीतों में नहीं आ सकी जिसका एकमात्र कारण प्रबंध-मुक्तधर्म का विकास ही है जिसकी चर्चा की जा चुकी है। किन्तु छुरदास के अतिरिक्त महात्मा के अन्य कवियों तथा रसिक-मंडल-भाषकों में भी सीख-प्रभु के गान गाये हैं तथा ही छोड़कर उनकी सुपमा का वर्णन किया है, परन्तु उनमें कथा का आधार मजे हो लिया गया हो, कथा कहने की प्रवृत्ति नहीं मिलती। इस प्रकार के सेष पदों में अलंकार बोझा ही अपेक्षा माध्यमकता की ओर आग्रह अधिक दिखलाई पड़ता है, नन्ददास, परमानन्द-दास, हितहरिवंश, लामी हरिदास तथा रत्नान आदि की रचनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। उनमें नन्ददास, महाकवि सुरदास की परम्परा के अधिक निष्ठा पड़ते हैं किन्तु ‘भ्रमरगीत’ सुरदास के भ्रमरगीतों के आधार पर ही लिखा जान पड़ता है। नन्ददास की भी अलंकार-पैली बड़ी ही परिमाणित है। उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध छक्ति ‘जीर सब बड़िया नन्ददास बड़िया’ अक्षरशा उल्लेख है। हितहरिवंश के गीतों में अनुप्रास बोझा और उल्लेख अलंकारों का कुछ प्रयोग दिखलाई पड़ता है।

‘ब्रज-नव तरनि करैब मुकुटमनि स्वामा आसु बनी ।
नख-सिल छी अंग-अंग मासुरी मोहे स्वाम बनी ॥
सो रसाति कबरी गूँपति कष बनक-कंद-बदनी ।
चिहुर चन्द्रिजन बीब अबर बिधु मानो प्रसित बनी ॥
सीमा रस सिर सखत पनारी पिय सीमित ठनी ।
मुकुटि धाम-कोदंड, नैनदाद, कजस-रेल अनी ॥
माळ तिठक, ठाठक गंड पर, नासा जछब मनी ।
इतन कुँद, सरसापर पडब, पीतम-भन-समनी ॥
हित हरिवंश प्रससित स्वामा की रति बिषद बनी ।
माबत भवननि मुनत मुलाकर बिष दुखि-रवनी ॥

(हितहरिवंश-हितपौराणो)

‘रत्नान’ कवि के सदैव अनुप्रास की सुन्दर छत्र के छिये हिन्दी साहित्य में आप्णत प्रसिद्ध हैं।

‘या छकुटी भर कामरिया पर राखतिहूँ पुर को तबि डारौ ।
 आठहु विद्धि नयौ निधि क मुक्त नंद की याव चराव बिसारौ ॥
 नैनन सा रस्तान बने ब्रज क बन बाग बड़ाग निहारौ ।
 फंछक ही कछ भौत के बाम करीछ के कुंजन ऊपर नारौ ॥’ (रत्नान)

दरबारी साहित्य का विकास और मुक्तकों के सहारे अलंकार योजना

दरबारी साहित्य

निवेदन किया था चुका है कि हिन्दी के अलंकृत काव्यों का विश्वस एक सामा-
 यिक प्रवृत्ति के रूप में न होकर संस्कृत साहित्य के अलंकृत काव्यों के आधार पर विदेशी
 मुस्लिम संस्कृति के येल से हुआ । दरबारों में किसी बहुत-सी मुक्तक रचनाएँ तो ऐसी हैं जो
 अलंकारों के प्रदर्शन के लिये अथवा अलंकारों के उदाहरण स्वरूप ही लिखी गयी हैं । राजा-
 भव में किसी अभिषेक कविताएँ इसी शक्ति की चोतक हैं जिनमें प्रबन्ध शम्भुको की
 स्वामाविष्ठा नहीं रह पायी है । किन्तु जिन रचनाओं में अलंकारों पर से आमाह हरकर
 शृंगारिक वृत्तियों पर आ गया है, उनमें स्वामाविष्ठा का अभाव है, ऐसा भी नहीं
 कहा जा सकता । आरम्भ ही में जिस राकन्य संस्कृति की चर्चा अलंकृत काव्यों के सम्बन्ध
 में कर आये हैं, ठीक वैसी ही स्थिति हिन्दी के अलंकृत मुक्तक काव्यों के समय उपस्थित
 हो गयी थी, जिसके विभिन्न राजसी एवं बिलासी तलों ने अनेक दृष्टियों से हिन्दी के मुक्तकों
 को अलंकृत बनाने में योग दिया है ।

मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत काव्य का निम्न मातृतीय लोक-जीवन द्वारा नहीं बरिक्त
 दरबारों के द्वारा हुआ था । अफसर के शासन काल से लेकर औरंगजेब के शासन काल तक
 की हिन्दी रचनाओं में जिस विरासत एवं वैभव के हमें दर्शन मिलते हैं उनका सम्बन्ध दर-
 बारी, सामन्तों तथा नगरों के कुछ बुने बुनावे शमीरों से ही है । भारत की राजारण बनवा
 की स्थिति उसके मिला थी । बनवा में अलंकरण की प्रवृत्ति थी किन्तु उनके पाठ शपनों का
 अभाव था । ‘इस काल में अनेक बार दुर्मिष्ट पड़े । अफसर के समय में सन् १५५५
 ५६ में पहला दुर्मिष्ट पड़ा । दिल्ली प्रायः बीरान हो गयी और अनेक लोगों की
 मृत्यु हो गयी । वशायुनी लिखता है कि मैंने स्वयं देखा था कि मनुष्य मनुष्यों को
 खा जाते थे और मूल से वृद्धपत लोगों को देखना भी एक चरणा थी । प्रायः सबत्र
 क्षेत्र बीरान हो गया था । सन् १५७३-७४ में गुजरात में दुर्मिष्ट पड़ा उसके पाठ
 महामारी भी फैली । शाहजहाँ के काल में सन् १६३०-३१ में एक दुर्मिष्ट पड़ा ।
 जिसका प्रभाव दक्षिण में गोलकुण्डा और अहमदनगर तथा उत्तर में माडवा और
 गुजरात पर पड़ा । अष्टुक्त इसीदशादेरी लिखता है कि लोग एक पपाती के छिप
 जान देने को तैयार थे परन्तु पपाती देने बाका नहीं था । लोगों का यह इतना बढ़
 गया कि वे सभी कुछ खान लगे । कुत्तों की पारी पहले आई । इसके बाद अन्य
 जानवर मारवाले गये । अन्त में लोग अपने बच्चों का मांस भी खानपर लगत हो
 गये ।’ एक ओर तो देश की यह दायत थी दूसरी ओर ताम्रमह और मयूर विहावन का

निर्माण हो रहा था। मुगल दरबारों की रीनक इन्जासन को भी भाव कर रही थी तथा कदियम-विस्म-सिताएयें गद्गार के गीत गा रहे थे, छलम-झन्मों एवं नायिका मैदों का निर्माण हो रहा था और झोग-झमनियों की अशायी तथा उनकी भीहों के बाँकपन से खसमे गम तीर से बिछ कर बेदिह हो रहे थे। ऐसी कविताओं का मूक सात मुगल बादशाहों के दरबार तथा छाम्पन्तों की बैठके हैं। संस्कृत साहित्य के अनेक कालों की परम्परा किसी न किसी रूप में पड़ते से ही खसी आ रही थी। जिसे विकसित होने का पूर्ण अवसर इस मध्ययुगीन दरबारी संस्कृत में मिला। यदि हम देखें तो स्वाधीन और अर्द्धस्वाधीन भारतीय राज्यों में स्वयं ही जायगा कि संस्कृत साहित्य का फलन-पाटन पहिले के ही समान हुआ रहा और काव्य, अर्द्धकार-धनि, व्याकरण, तत्त्वज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि पर अनेक नवीन ग्रन्थ छिरे गये, मुक्तमानी राज्यों में भी भारतीयों ने संस्कृति का बिलना-पटना बन्द नहीं किया परिणाम स्वरूप पण्डित राज-बगदाय न अपना प्रसिद्ध शास्त्र ग्रन्थ संस्कृत में मुगल सम्राट् साहजहाँ के शासन काल में ही लिखा। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की प्रचुर सामग्री हिन्दी कवियों के सम्मुख वर्तमान थी जिसका उन्हें उपयोग कर करना था।

मध्यकाळीन अर्द्धकृत कविता की वृद्धि का कारण राजस्थान के मेवाड़ देश की उत्पत्ति भी है। इससे हिन्दु कवियों के हृदय व्याधान्वित होकर माव-पूर्व कविता लिखने की आरम्भ हुई। 'राणा संग्राम सिंह की हार से कविता की उत्पत्ति में ठेस लग जाती यदि राज के समीप आगरे में सहृदय सम्राट् अकबर राजधानी का न बठा छाते राजधानी और राजदरबार का प्रसन्नपण्डित के निकट आ जाना प्रसमाप की उत्पत्ति के लिये दृढ़ कारण हो गया। अकबर के राजदरबार और दरबारियों में साहित्य की श्रेष्ठी चर्चा तथा कवियों और काव्य की खाली चर्चा पड़ रही। साहित्य सेवा की इच्छा से फारस और अन्याय्य देशों से आ आकर सहृदय कवि राजधानी में बस गये।' फारसी भाषा-विचार माव और काव्यशैली की उत्पत्ति हिन्दी कविता के लिये भी सहायक हुई। प्रबन्धी सहृदय, प्रसी सौन्दर्य के उपासक, गद्गार के रसिक और माधुर्य के स्तुभर थे। फारसी प्रेमियों की भी स्थिति वीक ऐसी ही थी जिससे दोनों के बीच एक प्रकार की मित्रता हो गयी। सम्राट् और कुछ मुख्य सचिव, सेनानायक जैसे कविबर रहीम एवं राजकवि प्रबन्धी में कविता करने लग। इनकी देखा-देखी औरों में भी हिन्दी कविता के प्रति आदर बढ़ा।

दरबार की देखा-देखी छोटे-छोटे राज्यों और नगरों के दरबारों में भी हिन्दी कविता की पहुँच हो गई क्योंकि बड़े दरबारों की नकलें ही तो छोटी बैठकें हैं। 'छाम्पन्तों और नराशों की बैठकें मुगल दरबारों की नकल होने पर भी कभी-कभी छान-चोरत में उनसे बढ़ जाने की भी हम्मा रखती थी। इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिणाम हमें अब समय मिल जाता है जिस समय संस्कृत में अर्द्धकृत कालों का परम विकास हुआ था। उस समय की देखी स्थिति हा मयी थी कि 'कभी कभी रईसों का विलास समसामयिक राजाओं से भी बढ़कर होता था इस बात का प्रमाण मिल जाता है। राजाओं को मुद्र, पिसह,

राज्यसंवादनः आदि-अनेका-कठोर-कर्म-भी-करने-पड़ते। ये, पर मुराब्ब से। मुराब्ब सयूद्धशाही मांगरिकों को हम-शमलों से कोई सरोकार नहीं था। वे धन और जीवन का सुख-निमित्त होकर-मोगतें थे।^१ इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त मनोरञ्जक कहानी भी प्रचलित है कि 'महाराज-मोव' के दरबार कवि 'माय' एक बार अतिथि होकर गये और राजा के पूर्ण सम्मान करने पर भी उन्हें उक्त सम्मान से कुछ न मिला तथा, जिसका कारण जानने के लिये महाराज-मोव ने स्वयं कवि 'माय' का अतिथि बनना चाहा। महारज में प्रवेश करते ही कवि 'माय' को भीनात्म से आती हुई घृण-चन्दन आदि की सुगन्ध को देखकर राजा को पूछा यह का क्या हुआ था। मुगल सम्राट् अकबर ने मुगल साम्राज्य की नींव इतनी दृढ़ कर दी थी कि बाहरी आक्रमणों की कोई शंका ही नहीं रह गई थी और उक्त सुन्दर-प्रसन्नों के कारण मोव विखर कर-चामणियों शुक्ल हो गई थी जिससे अमीन राजा को और नज्दों का-ठाट-बाट तथा मोव-विषय दिखी दरबार से भी आगे था। 'सम्राट्' के ही अतुल्य अमीरों ने अपने को बाधा। राजपूत राजाओं के द्वारा इस दरबारी सम्पत्ता का प्रचार राजस्थान में भी हो गया था। योरोप का एक यात्री लिखता है कि 'जितने ठाट से भारत के कुछ अमीर रहते हैं कबने ठाट से योरोप के शासक भी नहीं रहते'।^२ इस लक्ष्य के लम्बाव में किसे हम दरबारों अपना नगरे का ही समान कहेंगे, बाहरी लटक-मड़क तथा अलंकृत-जघामूपण को अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। 'औरंगजेब' को छोड़कर सभी सम्राट् आभूषणों का साज-जुगार पसन्द करते थे। शाहजहाँ के समय में यह अपने चरम उत्कर्ष पर था। सम्राट् स्वयं मयूर सिंहासन पर बैठता था जो सुवर्ण का बना हुआ था तथा जिसमें अनेक पद्ममूष्य रत्न सरुषि और सुन्दर कलम-कला के साथ बड़े हुए थे।^३ स्वयं एक असीब यति, एक असीब अदा दिखलाई पड़ती थी। यहाँ तक कि बटना-फटना आदि लक्षणों एक विशेष स्वीकृति थी जिसका पावन करना आवश्यक हो गया था। परम्परा तथा अन्य अतिथि कर्मों को प्रथम मुगल दरबारी, सम्मनों की बैठकों तथा नगर के अमीरों के यहाँ ही मिलता था। रीति-कला-अलंकृत-कर्म के अधिकार कवि दरबारी थे जिससे उक्त कला की कविताओं में दरबारी-सम्पत्ता तथा संस्कृति ही भुलकर हुई है। मुगल दरबारों की विजातिता तथा हृदय-कोटपता और कथमियता आदि मध्यकालीन दरबारी सम्पत्ता के मुख्य लक्ष्य थे जिन्होंने उक्त कला की अलंकृत कविताओं को प्रभावित किया है।

दरबारी रीतिक पर विदेशियों का प्रभाव

मुगल कालीन दरबारों की रीतिक पर बहुत कुछ फारसी सम्पत्ता का प्रभाव पड़ा हुआ था। दरबारों में बराबर विदेशी अमीर भी रहा करते थे। बा-घरिया का अन्य दरबारों का विवरण सम्राट् को सुनाते थे और सम्राट् उनके कुछ आकर्षक अंशों को अपने दरबारों जीवन में भी सम्मिलित कर लेते थे। विदेशी मंदिर, विदेशी कला, विदेशी बहूमूल्य वस्त्र,

१. इब्राहिमसाद द्वितीय—'प्राचीन भारत का कलात्मक विमोच', पृ. १०५ पृ. १।

२. जयचरित्तारी पाण्डेय—'मध्यकालीन भारत', पृ. १०५ पृ. १९९।

३. यही पृ. १९९।

विदेशी कालीन आदि प्रचुर भाषा में यहाँ भी विद्यमान रहते थे। विदेशों के चतुर रसोद्भवे झाड़ी रसोई घर में विद्यमान थे जो विशेष अवसरों पर अपनी कच्चा का प्रदर्शन करके खाने वालों को हैरत में डाल देते थे। 'कमी-कमी एक हजार प्रकार के व्यञ्जन परोसे जाते थे। इनमें विदेशी व्यञ्जनों की ही अधिकता रहती थी। खाने के सुन्दर वर्धन भी मित्र मित्र देखो से मगाये जाते थे। अनेक सोने-चाँदी की कसमपूर्ण रक्षाभिर्या, प्याले, कटोरियाँ आदि सरकारी कारखानों में भी तैयार की जाती थी। विशेष व्यवसरों पर इस समस्त भाण्डार का वैभवपूर्ण ढंग से प्रदर्शन किया जाता था।^१ विदेशी वृत्तों का सम्मुख मुगल सम्राट् यह दिखाना चाहते थे कि विदेशों में जो वस्तुएँ अंश-अंश में मिलती हैं वे सब उनके पास एक साथ प्रस्तुत हैं और उनके अविरक्त उनके पास मात्रवर्ष के भी साधन उपलब्ध हैं। तात्पर्य यह कि दरबार और सबमहल का संयोजन इस प्रकार से किया जाता था कि विदेशी अमीर और राजपूत चकित रह जाय।

वैभव तथा ऐश्वर्य की प्रधानता

कुछ को छोड़कर प्रायः सभी मुगल सम्राट् वैभव एवं ऐश्वर्य पूर्ण जीवन पसन्द करते थे। 'बर्नियर, ट्रेवर्नियर, मैमूची आदि विदेशी यात्री सम्राट् शाहजहाँ के दरबार का ऐश्वर्य देखकर स्तब्ध रह गये थे। उसका दरबार वैभव और ऐश्वर्य से जगमगा था।^२ जिसका अनुकरण दरबार के अमीर और कर्मचारी भी करते थे। बिनकी देसा-देसी अपिकृत राजा भी अपनी बैठकों में इनका समा जोड़ते थे। बर्नियर ने मुगलकावीन बहुमुख्य व्यञ्जनों तथा बड़ाऊ बखामूपकों का विस्तृत वर्णन किया है। जिसके अनुसार 'एक शब्द में बेगमों का सारा शरीर जवाहिरातों से ढका हुआ होता था। इनकी पोशाकें बहुमुख्य और इन में बसी होती थी। रीति काव्य की शासकसखाओं को इनसे सीधी प्रेरणा मिलती होगी।^३ सभी व्यवसरों पर ही खाने वाली स्त्रियों बहुमुख्य कपड़ों और सोने-चाँदी की बरी के काम की होती थी। बड़ाऊ तख्ताएँ, कटारें तथा भाभूपकों को भी उपहार या इनाम के रूप में दिया जाता था।

व्यक्तित्व तथा इन्द्रिय कोलुपता

बखना, फिरता, बेखना, ईठना बोलना, खाना, पीना, मेट करना, मेट खेना, स्वीकार करना, इन्कार करना सबकी एक विशेष अंश थी जिसे तत्कालीन दरबारी संस्कृति ने स्वीकृति प्रदान की थी। इसका स्पष्ट हम तत्कालीन कविताओं में देख सकते हैं—

'बतरस क्षमस खाम की मुरली बरी कुधाय।

छीह करे मीहनि हँसे देन की नटि चाय।' (बिहारी)

इस प्रकार यों वीराना पढ़ता था, जिससे अपरिचित व्यक्ति को दरबारी स्वेग बंगाली, प्राम्, असम्भ अतएव देय और अपहासास्पद समझते थे, जिसे भी वे शयने द्वारा

१ व्यवविविहारी पान्थेय 'मध्यकावीन भारत', प्र० सं० पृ० ७५६।

२ डा० जोगेंद्र, 'रीतिकाम्य की सूचिका', प्र० सं० पृ० १३।

३ वही।

नहीं बसिक आकृति की संवत् माव-भगियों द्वारा ही व्यक्त करते थे। सेवक-सेविकाओं की संख्या तथा उनके विभिन्न देशों से एकत्रित करने में भी प्रदर्शन की प्रशंसनीय कार्य करती रहती थी। सेविकाओं का वेतन उनके रूप, जीवन, धर्म आदि के आधार पर निर्भर किया जाता था। दरबारी वैभव ने विष्णुसिंहा को चन्म दिया। 'सम्राटों के रनिवासों पर प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च किये जाते थे। विधिवत् विवाहित रानियों की संख्या हमेशा बहुत बड़ी नहीं होती थी। परन्तु रक्षिताओं को मिलाकर उनकी संख्या कई सौ हो जाती थी। अकबर के राजमहल में कुछ मिलाकर ५००० स्त्रियाँ थी और मानसिंह कसबाहा के विषय में कहा जाता है कि उसके १५०० पत्नियाँ तथा ४००० छद्मके थे।' बर्नियर के शास्य के अनुसार राजमहलों में विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों की २००० स्त्रियाँ रहती थी। जो बादशाह और छाहवादियों की सेवा करती थी। 'शिक्षा प्राया आश्रिकाना गजलों, फारसी की अदुलील प्रेम कहानियों आदि की ही होती थी। इनमें से कुछी स्त्रियों से जासूसी का काम लिया जाता था। ये छुटनियों स्वान-रमान से सुन्दरी स्त्रियों को चोले से या छाछण से मछलों में डे जाती थी। रीतिकाव की दूतियाँ बहुत कुछ इनका ही प्रतिरूप थीं।'

इस काल में मारी आदर की नहीं विकास की वस्तु बन गयी थी। उसके बंध और शुभों का छटना महत्व नहीं था जितना कि जीवन और रूपकमय का। राजकुमारों तथा सम्राटों को वैध तथा अवैध ढंग से अनेक स्त्रियों द्वारा अपनी भोग-वासना चरितार्थ करने की इच्छा थी परन्तु राजकुमारियों का बहुधा एक पुरुष से भी विवाह होना शुद्ध हो जाता था। रनिवास का वातावरण संकम और स्तरीय का प्रत्येक क्वापि नहीं था। विष्णुसिंहा अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी और मतिराम का यत्नस बह निकलता था। दरबार 'विकास की अगणित स्त्रियाँ ब्रह्माण्डों का संघय था—अव-पुर में छतरख या पठर-धारी सरह-सरह के पल्ल-पल्ली, कपूतर, छाब, तोता, मैसा आदि के स्वरो से रनिवास गुंजते रहते थे। अकबर के जमाने की हाथी और चीतों की छड़ाई का स्थान अब पान और सिकरों की छड़ाई ने ले लिया था।' बिहारी के अनेक दोहों में इनका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पड़ता है—

‘उदत गुड़ी लीन भाग की अंगना अंगना मोह।

पौटी लो दीदी किरि, पुतलि लपकी छौह ॥’

‘ऊँचे चिते सगदियत, गिरह फभूतर छेउ।

शयनप्रति डग पुमचिउ बडनु, तनु पुमचिउ किदि टेउ ॥’ (बिहारी)

कल्पमित्र

चाम्प-कल्प एवं सखिया कलाओं का विकास के लिये वैभव-विकास ही उपयुक्त साधन है। यदि राज्य का बहुत कुछ धन भोग-विलास की वस्तुओं पर व्यय किया जाता था तो उनके

१. अकबरबिहारी पहिल, मध्यकाव्यीय भाग, प्र० सं०, पृ० ४९०।

२. डा० जगन्नाथ 'रीतिकाव की मूर्ति', प्र० सं० पृ० १२।

३. वही।

अविच्छेद्य कवियों, संगीतज्ञों, विद्वानों, चित्रकारों तथा अन्य कलाकारों को प्रभय देने में भी लक्ष्य होता था। मुगलशासकों ने यह कार्य भी मुख्यतः दरबार की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये ही किया, किन्तु इससे देश का क्षय पहुँचा। 'कलाप्रिय मुगल सम्राटों ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विद्यासंपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया जिसकी छाया तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण आलेखन आदि खंडित-कलाओं—और बहादुरात—सोने चाँदी के काम, चढ़ाई-युनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का कसास है। स्थापत्यकला का चरम विकासकाळ शाहजहाँ का शासनकाल था—उसके दृढ़ रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम संगमरमर की रेखामी कठोरता ही हो सकती थी। उसने आगरे में मोखी मसजिद और ताज महल का निर्माण किया और अपने राजतकाल के उत्तरार्ध में दिल्ली के छाकड़िल के स्वर्गिक शासकों का। काळ के कपोल पर स्थित नयन बिन्दु ताजमहल और पृथ्वी के एक मात्र स्वर्ग हीवाने शास की कलारमक समृद्धि अपरिमेय है।'^१

स्थापत्य-कला की मूर्ति चित्र-कला भी फारसी और हिन्दू कलाओं के संयोग से निर्मित है। 'इसमें फारसी कला की कड़ी, रूप रेखा, सूक्ष्म अवयवों की नक़्क़ाशी के साथ भारतीय कला की गोलाई, छाया-प्रकाश का उचित प्रयोग तथा रङ्गों की चटक का सुचारु सम्मिश्रण है। सम्राट् अकबर ने कलाओं की अरपचिक प्रोत्साहन दिया जिससे बनेक उत्कृष्ट कृतियाँ तैयार हुईं। इसकी प्रेरणा से फारसी साहित्य की गद्य और पद्यमय रचनायें चित्रित हुईं। जिससे इन दोनों कलाओं का एक दूसरे पर सम्यक् दृष्टि से प्रभाव पड़ा। चित्रों को कविताओं में और कविताओं को चित्रों में बदलना मुगलकाळीन भारत में एक अलग कला ही बन गयी थी।'^२ वास्ती कृत प्रभाव की एक ऐसी प्रति मिळती है जिसके एक पृष्ठ पर चित्र बने हुए हैं और उन्ही के सामने दूसरे पृष्ठ पर उन्ही चित्रों का मात्र प्रकट करने वाली कविताएँ हैं। कविताओं के ही आधार पर इन चित्रों का निर्माण इसी काल में हुआ है। प्राप्त सूचना के अनुसार यह प्रतिक्रिया इटाली आइटेरी कन्दन में सुस्थित है। इसी प्रकार के चित्र बिहारी के रोहो के भी प्राप्त होत हैं और कहा जाता है कि—

‘कहछन एकठ बसत आदि मयूर घुम बाध।

बगल तपोवन वा किया होरष बाध निदाध।’

१ डा० बनेन्द्र — ‘शैलिकाम्य की भूमिका’ पूर्वीय, प्र० सं०, पृ० २२।

२ फारसी की गद्य और पद्य रचनायें चित्रित की गईं। इस प्रकार के चित्रों की संख्या बहुत बढ़ गई। हुमायूँ के किरसे के चित्र बाद में दिल्ली में तैयार हुए। चतुर चित्रों में इसमें के बीरह सी प्रसंगों के अनुरूप चित्र तैयार किये। बनेन्द्रनामा अकबरनामा, आइव अकबरी, रजमनामा, महाभारत, रामायण, नकुलमय इत्यादि भी चित्रित किये गये।

(‘भारत की चित्रकला’, राधकृष्णराम, प्र० सं०, पृ० १२२)

का सोल तत्कालीन एक चित्र है जिसे उन्होंने रोहे में उतारा है। कविवर मतिराम के प्रसिद्ध नायिका-भेद-ग्रन्थ 'रसराज' की एक सवित्र प्रति भी मिली है जो इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

मुगलकालीन चित्रों का तत्कालीन कविताओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसका मुख्य कारण मुगल सम्राटों की विश्व कलाप्रियता ही थी। जहाँगीर को विश्वकला का तो इसना हान था कि चित्र देखकर वह चित्रकार का नाम बता देता था। रमो का खान तो इस कला के चित्रों में उस प्रौढ़ता को पहुँच गया था मिथना कमी भी न था। किंतु स्थान पर कौन-सा और चित्रना रंग खाने पर सौन्दर्य बदेगा इसका पूर्व खान चित्रकारों को था। वे जहाँ-जहाँ जो-जो रंग अपेक्षित होता है उसे दो-दो तीन-तीन बार ख्याते हैं। इसे गड़करी करते हैं। इससे आँख के सिया बहाकत भी आ जाती है और चित्र मीनाक्षरी जैसा जान पड़ता है तब रूपरेखा (सज्जद) से आकार और अंग-प्रत्यंग का निर्णय करते थे। इसे झुझाई कहते हैं। साथ ही जहाँ जहाँ रंग सौन्दर्य-वर्धक रंग खाने की आवश्यकता रहती है (जैसे आँखों के कोपे में खनायपन) उसे भी ख्याते खाते थे। उस समय के प्रचलित सभी आभूषण एवं श्रृंगार प्रसाधनों को यदि हम चाहें तो मुगलकालीन चित्रों के चित्रों में देख सकते हैं और उनकी कही चित्रों को बिहारी तथा मतिराम आदि कवियों ने नायिकाओं की मुद्रा में उतारा है। बिहारी न तो अपनी नायिका का चित्र ही उतार पाते हैं और न तो उनकी नाइन नायिका क पावों में महाभर खगान में ही समर्थ हो पाती है। बिहारी यदि अपनी नायिका क मल्लक पर आँख बिन्दी लगाकर उसकी शोभा 'अव्यक्ति' करते दिखलाई देते हैं तो 'मतिराम' की नायिका 'बंदन तिलक छिन्नर' में शीघ्र की बगमगाती अवाधि ही हो गई है। इसके अतिरिक्त नायिका क नाजुक शरीर की माप-बोख का मध्यकालीन हिन्दी कविता में प्रधान रूप से पायी जाती है उसके मुख में भी मुगलकालीन चित्रों का ही प्रभाव है। जितने भी नारीचित्र इस युग क मिलेंगे सबकी नयनमणिमा और कटि का घीन होना उनमें अत्यन्त ही साधारणी के साथ दिखलाया गया होगा। यही कारण है कि इस काल क सिद्ध कवि अपनी कलाकला का इससे ऊपर न उठ सके। उनकी आँखें इन चित्रों में चौंधिया गईं। वे जन-जीवन की समस्याओं को अपने काल का विषय बना ही न सके। घरी की घरी उनकी कल्पना कविताओं में नायिकाओं का चित्र इसलिये सीधे ही रहो कि वे अपनी रचनाओं द्वारा चित्रकारी की मात बेकर दरबारों में अपनी भाँक बना सकें।

किलनि बैठि आँखी सजो गहि यहि गर्व गहर ।

भए न केतु अगत क जगुर पिठरे कूर ॥ (बिहारी)

पारै महाभर दैन को नाइन बैठी आह ।

किरि किरि जानि महाभरी एको मोदति जाह ॥ (बिहारी)

बंदन तिलक छिन्नर मे देखी मुग छवि दाति ।

रूप भीन में बगमगे मना शीघ्र की अवाधि ॥ (मतिराम)

मुगलकालीन भारत में नृत्यकला का यह स्तर तो नहीं दिखलाई पड़ता जो हिन्दू कालीन भारत में था किन्तु संगीत को आध्यात्मिक सज्जता मिली। बहुत से ऐसे कलाकार

मिलते हैं जो संगीतज्ञ होने के साथ ही साथ अच्छे कवि भी थे। अकबरीदरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन अपनी रचनाओं को बीणा के स्वर पर गावता था। कहा जाता है कि आचार्य कवि केशव की 'रामचरितमानस' में उद्धृत जनकपुर में गाबी गयी गणिकाओं उनकी शिष्या 'प्रवीण राव' द्वारा रची गयी हैं। यह समझ रहे कि इस समय जो सांस्कृतिक एवं कलात्मक भी उत्थति हुई वह प्रधानतः नगरी और विशेष कर राजधानी में ही कन्द्रित रही। राजपरिवार की अनेक महिलायें भी बहुत परिष्कृत रुचि वाली थीं और स्त्रीमा बेगम, बहो आरा, रीछन आरा, मूरबहो, जेजुअला आदि अनेक महिलायें ऐसी थीं जिन्होंने कविता और साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि ऐश्वर्य, वैभव, हास-विषय, साह-शृंगार एवं कलात्मकता से पूर्ण नयनवीचन में जिस कविता का खजाना एवं विस्तार हुआ वह पूर्वतः दरबारी सम्प्रदाय से प्रभावित है। उसमें उन तत्वों की छाया प्रमुख मात्रा में विद्यमान है जिसमें मध्यकाळीन मुगल दरबार तथा उनके आश्रित राजा आकण्ड रूप लुके थे।

अलङ्कृत मुक्तक काव्य की परंपरा

जिस समाज में और जिसके छिपे कविगण अपनी कविता रच रहे थे वह एक नहीं बल्कि अनेक कालों से अपना मनोरंजन करता था, कविता उसमें से एक थी। ऐसी स्थिति में मुक्तक काव्यों के माध्यम से ही कविगण अपनी सम्यक्पूर्व उत्थिओं द्वारा वश और कीर्ति के अधिकारी बन सकते थे। इसके व्यतिरिक्त उन्हें दरबारों में प्रवेश पाने वाली 'पद्यों' और 'दोहों' के साथ भी जोड़-तोड़ मिलाना था।

सम्पूर्ण मुक्तक काव्यों का देखते हुए उसे रीतिबद्ध, रीतिविह्व और रीतिमुक्त तीन भेदियों में रखा जा सकता है किन्तु अलङ्कृत शृंगार योजना सबकी सामान्य विशेषता है। रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में अपेक्षाकृत अलङ्कार प्रयोग का आग्रह कम दिखलाई पड़ता है किन्तु शैल्य का सहाय उन लोगों ने भी पयाप्त मात्रा में किया है।

रीतिबद्ध मुक्तक काव्यों में अलङ्कार

मध्यकाळीन हिन्दी कविता के सत्तराहें काळ की अधिकांश रचनायें जिसे अलङ्कृत काव्य भी कहा जाता है, दरबारों में रची गयी हैं और उनमें भी रीतिबद्ध रचनायें तो पूर्वतः दरबारी हैं। 'दरबारी कहने का तात्पर्य यही नहीं है कि उसका रचयिता किसी दरबार के आश्रय में रहता था और वहाँ से वृत्ति पाता था। बसका तात्पर्य यह भी है कि वह अपने आश्रयदाता की रुचि का ध्यान रखकर उसका निर्माण करता था और उसके मनोरंजन में सहायक होता था'।^१ रीतिबद्ध रचनाओं के दो स्पष्ट रूप हैं एक काव्य की कविताओं में विभाजित पद्यों से एक तो अलङ्कार वादियों द्वारा निर्मित हो रहा था और दूसरा रसवादियों द्वारा। अधिकांश कवि ऐसे हैं जिन्होंने रसवादी और अलङ्कारवादी दोनों ही प्रकार की रचनायें की हैं। रसप्रदाय के अनुकरण पर श्रुति देने वाली कविताओं में गायक-नायिका मेर आदि प्रसंगों का ही विशेष रूप से वर्णन किया गया

हे भीर अलंकार सम्प्रदाय का अनुगमन करने वाले कविगण अलंकारों के छल्ले और उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं। ऐसा स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी के कवि आचार्य भीर कवि दोनों एकताय बनने के कारण एक ही नहीं बन पाये हैं। संस्कृत कवियों की भाँति हिन्दी के कवि वैयर्थ्य कविता ही नहीं करते थे, वे छल्लों का निर्माण भी करते थे। ऐसी स्थिति में झिलने में अलंकार ग्रन्थों की सखि हुई है उनके उदाहरण छल्लों को सामने रखकर रखे गये हैं, जिससे उनमें काव्यत्व की अपेक्षा अलंकार प्रयोग की ओर विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में जनक अलंकृत एवं समस्कारपूर्ण वर्णन की रचना करनी आवश्यक ही होगी क्योंकि उनकी तो सखि ही अलंकार प्रदर्शन के लिए हुई ही है किन्तु नखचित और नायक-नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए लिखी गयी कविताओं की भी मुख्य प्रवृत्ति अलंकरण की ही रही है। उन कविताओं में भी अलंकारों का ही सुन्दर प्रयोग हुआ है, नायिका भेद वर्णन को उपचार मात्र ही जान पड़ता है। जिस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र की नवीन उदात्त प्रवृत्ति करने की प्रवृत्ति हिन्दी कवियों में कम उठी थी उसका अनुसार नायक-नायिका भेद का झिझना भी आवश्यक समझा गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु तत्पश्चात् दरबारी समाज की समस्कारवादी प्रवृत्ति का ही प्रदर्शन अलंकारों के सहारे उनमें भी हुआ है, यह निश्चित है।

केशवदास

रीतिबद्ध कवियों में सबसे पहला नाम आचार्य केशव का आता है। 'रसिकप्रिया' की रचना केशवदास ने रस की शिक्षा देने के लिये की थी। किन्तु समस्कारवादी होने के नाते उनकी रचना में अनेक ऐसे रसक वर्तमान हैं जिनमें कवि ने पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा उच्छिन्न-वैयर्थ्य एवं पूर की सखि का पत्र में पढ़कर कविता के वाक्य को विविध अलंकारों से विभूषित किया है। नायक-नायिका भेद तथा नख-छिल विषय के लिये लिखी गयी रचनाओं में केशव ने अलंकारों का बहुत प्रयोग किया है। राधा के मुखमण्डल का वर्णन करते समय कवि ने प्रतीप अलंकार की सुन्दर वाक्यांश की है :

‘ग्रहनि में कीन्थो गेहु सुनि है देख्यो रेहु,
खिद सौ किया सनेहु बन्धा हुग पान्धा है।
तपनि में तप्यो तपु ब्रह्मि में बप्यो बपु,
‘किसोदास’ बपु-भास भास प्रतिगान्या है।
उदगन-ईसु खिब-ईसु औपचीप मयो,
बपि बगत ईस सुपा सौ सुबान्यो है।
सुनि नैद मंद-न्यारी सरे मुख पर राम,
चन्द पे म मया कीटि छन्द करि हान्यो है १।’

अपने भीर उपमान में किसी प्रकार का शास्त्र न रगता हुए अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करने के लिये केशवदास ने नायिका के हृदय भीर वातरेय की वाणी का बड़ा ही सुन्दर रूपक बौंदा है—

१. ‘केशव प्रणवाचकी’, खण्ड १। ‘कविप्रिया’, ७३ सभा विहरवाच प्रसाद मिश्र।

प्रिय मय भूप रूप सखि सकोच सोच,
विरह विनोद पीछ पेसियत पञ्च के ।
तरछ तुरंग वसिष्ठोक्त अनंत गति,
रम मनोरम रहै प्यादे गुन गति के ।
हुइ ओर परी ओर ओर मन केसादास,
होई भीत कीन की को हारे बिय छवि के ।
देखत मुहैं गुणाक तिहि कास छहि नाथ,
छर छतरन कैसी काजी राखी रचि के ॥^१

कण्वर्चन मुख्यतः भावमयना का ही क्षेत्र है किन्तु इन रचनों पर भी केशव ने भावमयना के स्वीकरण की अपेक्षा विशेषतः चमत्कार प्रदर्शन ही किया है। यहाँ तथा शब्दकण्ठ के वर्णन के प्रसंग में केशव ने सन्देह तथा स्तेपाईकार के सहारे अनेक रूपक बोधे हैं :

‘क्याक बने कि बहै धपका नम धूम बनो कि पनो बनबुरो ।
लेखर लेखन के औंठुवा बरु बूँद किषो बनो मति सरो ॥
केबो कहे इह कीकई ‘कितव’ गौ बरि ओर बसायी छमूरो ।
मागहु रे विरही बन मागहु पावक काक कि पावक पुरो ॥’^२

छोकर जान से निकले राधा और कृष्ण के शरीर की तुलना पर केशव ने कहीं ही सुन्दर उल्लेख की है :

‘हरि राविका मान छोकर के तट छोड़े री हाथ सो हाथ दिये ।
प्रिय के तिर पाग प्रिया मुक्ता हर राखत माछ बुझन दिये ॥
कटि ‘कितव’ काछनी झेत कटे सबही तन पन्दन चित्र दिये ।
निकसे बनु और समुद्र ही ते संग श्रीपति मानहु श्रीहि स्मिने ॥’^३

केशवदास की कविताओं में उपमा, रूपक, उल्लेख, अपन्वृत्ति, विभावना, प्रतीप, अतिशयोक्ति, सन्देह, स्वभावोक्ति, लोकोक्ति, पर्यायोक्ति, समाहित तथा परिसंख्या आदि सभी अलंकारों का प्रयोग हुआ है किन्तु विशानगीता जैसी कुछ रचनाओं में कतिपय प्रमुख अलंकारों का ही प्रयोग दिखलाई पड़ता है और कुछ रचनाओं में अलंकारों की बख्तर खाने का भी आभार दिखाई पड़ता है ।

चिन्तामणि

सम्पन्नसौन्दर्य अलंकार कविता के प्रमुख आचार्यों में चिन्तामणि की भी गणना होती है । उन्होंने कई सुन्दर छंदों की रचना की है । उन्हें महाकवि मतिराम के मार्ग होने का सीमाव्य प्राप्त का जिनकी कर्षा बिंदोरूप से आग की गई है । विरहिणी नायिकाओं के

१. ‘रसिकप्रिया’ छं० सं० ३५, पृ० सं० १३८ ।

२. ‘विशान-गीता’, छं० सं० ६, पृ० सं० ७८ ।

३. ‘रसिकप्रिया’ छं० सं० ३७, पृ० सं० ८७ ।

छिये पन्नोदय अत्यन्त सुकरार होठा है, जिसका बिना कवि चिन्तामणि ने मध्या-दीप, नामिका क मसज में किया है। कविता भाषों की अविच्छिन्न के साथ कवि ने नामिका से नामक क प्रति बिन व्यंग्यपूर्ण उल्लिखों का कथन करना है उससे कठोर और विराहामास की सुन्दर छवि हुई है।

‘सौंन ते पन्द कछेक ठप्यो, मन मेरो छै साथ रहे शुभ न्यारे।

बैठ बची मनि-मन्दिर बीच, छगे सब दीप प्रकाश अन्धारे।

प्रातहि पाइ सुषामय पारनी, नैन-बझोर छके, मे सुखारे।

क्यों न अनुप-कथा प्रगटी, अचर्यक कल्पनिधि मोहन प्यारे ॥’ (चिन्तामणि)

एक स्थान पर कवि ने कहना चाहा है कि जीवनमग्न से शरीर की शोभा में शार्दूल्य का बाधा है, जिसके लिए उसने उदारता की गज्जला बना रखी है।

‘सरद ते बलछी ज्यो दिन ते कमल की ज्यो,

बन ते ज्यो पल की निपट सरसाई है।

पन ते सावन की ज्यो ओष ते रतन की ज्यो,

गुन ते सुकन की ज्यो परम सुसाई है।

चिन्तामणि कहै आते अप्पठनि छन्द की ज्यो,

नितागम पन्द की ज्यो हय सुकराई है।

नगते ज्यो कंचन कंठ ते ज्यो बनछी,

यो जीवन ते तन की निचाई अधिचाई है ॥’ (चिन्तामणि)

भूपण

‘शिवराजभूपण’ महाकवि भूपण का सद्यः ग्रन्थ है जिससे उसकी अलंकारिता का सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि ‘भूपण’ वीररत्नपूर्ण काव्य के सहा पक्षे और ललितकार बाह में हैं। वीर अधिक सम्भव है कि उन्होंने समसामयिक कवियों की देखा-देखी ललितकार बनने के लिये अपनी रचनाओं को जगज्जगत् के मध्य में समा दिया हो, क्योंकि सभी अलंकारों को वीर शिवाजी के मद्यवर्धन पर ही पटाया गया है। शिवराजभूपण को यदि हम छोड़ दी हैं तो हमें उनकी अन्य रचनाओं में वैसी ही अलंकार योजना मिलती है वैसी कि ‘शिवराज भूपण’ में पाई जाती है। वीर रत्न की धारा में निमग्न होकर कीर्ति-मग्न और ललितारों का गान करने के कारण इनकी रचनाओं में अनु-प्रासिक योजना तथा अतिशयोक्ति का समरकार देखाते ही बन पड़ता है। प्रमाणस्वरूप ‘दाण्डिशोह’ का सम्बन्ध में कहे गये उनके एक छंद को हम यहाँ लकते हैं।

‘ईश्वर क दिये ते बस डंवर उमर्यो,

उदमर्यो उद-भेटत छीं गुर की गार है,

बर्दा शरासाह बहादुर के पदत पैद,

पैद में मदत मारुनाग बग्न नर है।

‘भूपण’ मनत पने धुमना हरीष वारे,

किमउ अमोह बहु दिमउ डुल है,

इहन छपइ महि भइ फनइ होत,
॥कहन मनइ लो पखइ हख बरइ है॥^१

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण 'मृपण' द्वारा की गयी महापद्य 'छत्रवाल' की प्रशंसा के छन्दों में मिले पाये हैं।

देव

महाकवि देव की गचना हिन्दी के प्रथमकोटि के आचार्यों एवं कवियों में होती है। इन्होंने अपनी प्रतिभा का समस्कार काव्य के दोनों क्षेत्र रस और अलंकार में दिखलवाया है। रसविद आचार्य तो देव से ही किन्तु अनेक स्थलों पर तो उन्होंने अपनी सुन्दर अलंकार-योजना का द्वारा हिन्दी के सभी समस्कारवादी कवियों को पीछे छोड़ दिया है। 'वसन्त' का बाह्य रूप में वर्णन करके देव ने समक अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत किया है—

‘बार हुम पछना, बिछीना नब पखन है,
सुमन सिंहास छोड़े तन छवि, मारी है।
पवन, छुछावै, केकी और बहरावै देव,
कोकिल हँसवै हुछावै कजारी है॥
पूरित परग लो उठारो करे राई छेन,
कंजकली-नायिका छयानि सिर सारी है।
मदन महीप न को बाहक बसंत, शाहि,
मातहि बगावत गुलाब कजारी है॥’

उपरोक्त छन्द में मदनमहीप के बाह्य वर्णन का वर्णन समक द्वारा तो किया ही गया है, इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण छन्द में अनुप्रास की सुन्दर छत्र विद्यमान है। चन्द्रासंस्कार और उसमें भी अनुप्रास और समक की बितनी सुन्दर योजना 'देव' की चनासरियों और कवियों में पाई जाती है उसनी अन्य किसी कवि में नहीं। अनुप्रासों की तो ऐसे कवि उपेक्षा ही नहीं कर पाता। नायिका स्वयं में नामक का साक्षात्कार करके फूटती नहीं समाती और क्यों ही उठकर उसके साथ 'सुम्न' झुलने के लिए जाने को उत्पन्न होती है क्यों ही उसकी नींद टूटकर उसे उसकी बाह्यबिछटा का ज्ञान करा देती है। नायिका को बाग़घर उसके माय का सुम्न देने में कवि ने 'विरोध' का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है और साथ ही साथ सुम्न रूपना तथा आनुप्रासिक योजना का समस्कार तो है ही—

‘सहरि सहरि लीनी नूँ है परति मान,
बहरि बहरि बरा बेरी है गगन में।
आनि बसो स्याम भी लोपही सुखि की भाव
दूखी नो समानी भई ऐसी ही भगन में॥
बाहल ठठरेई ठठि गई छ निगोड़ी नींद,
साय गये माय मेरे बागि का बगन में।

आँख लोकि देखीं तो न धन है, न धनस्यम,
 बेई छाई बूँदें मेरे आँखु है इगन में ॥

बरसाने से कुलधर नन्दमाम में आई राधिका के चरस प्रसंग का विषय करते समय
 'देव' कवि की सक्रिय भावकृत होती दर्शनीय है—

‘आई बरसाने से कुलधर नन्दमाम गुता ।
 निरखि प्रमानि प्रमा मातु की अये गयी ॥
 चक्र चक्रान के चक्राये चक्र पोटन सो ।
 चीकट चक्रोर चक्रचीपी सो बहै गयी ॥
 रेश नन्द नन्दन के नैनन अननमयी ।
 नन्द बूँद मन्दिरनि चंदमयी छै गयी ॥
 कंकन कलिन मयी कुंकन नलिनमयी ।
 गोकुल की गछिन अनिल मयी है गयी ॥

कुलपति मित्र, सुलदेव मित्र, श्रीपति, मिस्तारीदास तथा बेनीप्रवीन

कुलपति मित्र, सुलदेव मित्र, आचार्य श्रीपति, मिस्तारीदास तथा बेनीप्रवीन की
 रचनायें रीतिकरमुक्तक-कविताओं की ही श्रेणी में आती हैं। अलंकृत काव्य के सुन्दर उदाहरण
 उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं, किन्हीं नमूने के रूप में नीचे उद्धृत किया जाता है—

‘ऐसिब कुँब बनी छवि पुन रही बसि गुंथत यों सुल लीबै ।
 नैन बिठाऊ छिए बनमास बिलोचत रूप-सुधा मरि पीबै ॥
 जामिनि-नाम की कौन कहै कृप अथ न जानिए क्यों छिन छीबै ।
 आनंद बों उमपोई रहै, पिय मोहन को सुल देखिना कीबै ॥’ (कुलपति मित्र)
 ‘बोहे बहौ मगु नंदकुमार तहाँ बसो चंदमुखी तुकुमार है ।
 मोतिन ही को किमो गहना लग भूँसि रही बसु कुँर की डार है ॥
 मोतर ही को कली ता कली, अब बाहिर बाहिर हाति न डार है ।
 बान्ह ही बोन्हे गई मिखि बों मिखि जाति क्यों बूष में बूष की डार है ॥’
 (सुलदेव मित्र)

‘बल्लभरे हूँ, मनो भूँ परलत आह,
 दठहूँ दिखान धूँ, राधिनी छप-अप ।
 धूम धारे, धूतर से, धुरबा, धुपारे, धारे,
 धूँ पान धारे धारें छँडि तो छप-छप ॥

‘श्रीपति’ सुमान करे परी-परी परपठ,
 तापत अवन तन ताप तो छप-छप ।
 छाय बिन बैले छाब-बारर रहेगी बर ।
 बारर करत माहि बारर नप-नप ॥’ (श्रीपति)

'ज्ञान-छमे जब मेरी जम्मे, तब पाव है बैठत आनि अगाऊँ ।
नायक हो न राखे धनक, मो कहि हौं छितनी समझाऊँ ॥
'दास' कहा कहाँ पै निज हाथही बैठ, न हौंहु खजौन पाऊँ
मोहिं ती साब महा उर में, जो महातर नाइन सोखो दिखाऊँ । (दास)
'काहि हौं शूँचि बसा कि सीं में गन्धमोतिन की पहिरी अति आका,
आई कहाँ ते यहाँ पुकाराव की संय गई अमुना तब बाका ।
न्यात उठारी हौं 'बेनीमवीन' हँसे सुनि बेनन नैन रखाका;
बानति ना भय की बरखी सकसों बरखी बरखी कहै माका ॥'
(बेनी मवीन)

आचार्य मिहिरादिदास और भीपति की ख्याति आचार्य रूप में बितनी अधिक है
उतनी कवि रूप में नहीं ।

पद्माकर

रीतिवद्ध मुद्रक-कवियों को अनुप्रास प्रयोग का प्रायः मोह सा रहा है । वह मोह
अपनी चरम सीमा पर पद्माकर की रचना में दिखायी पड़ता है । किन्तु कुछ ही छन्द ऐसे हैं
जिनमें पद्माकर की व्यङ्ग्य-सोचना अव्यङ्ग्यरूप सीमा तक पहुँची है, आर कवि ने उनमें बान
बूझकर अपना छन्द-चमत्कार प्रकट करना चाहा । बहामपुर कल्पना का बीच सुन्दर कोमल
भाव-तरंग का सन्धन है, वहाँ की भाषा बहुत ही सज्जी, स्वाभाविक और साफ सुथरी है—
वहाँ अनुप्रास भी है ता बहुत संयत रूप में । महाकवि मतिराम का सा ही स्वाभाविक
अङ्गकार-प्रयोग इनकी कविताओं में मिश्रित है । इन्होंने शृंगार रस के प्रथम में अनुप्रासों,
हासों, और अन्य अंगव्यङ्ग्य अङ्गकारों की बजा ही सुन्दर याचना की है—

'आरस सो आरस सम्हारस न सीस पट,
गजब गुबारस गरीबनि की बार पर ।
कहै पद्माकर सुमध सरवार बैठ,
विपुलि विरहै बार हीरन के बार पर ।
साबत छरीछे छिति कहारि छप के छोर,
मोर उठि आई केछि मन्दिर के बार पर ।
एक पग मीतर छु एक देखी पै भदे,
एक कर कंठ एक कर है कितार पर ।'

बैरानी के रिलक नामे तथा एकान्त में नायक को पक्षी बार पाकर खत्री सेव से
कर्म के कारण नायिका के सरक जाने का बजा ही स्वाभाविक एवं मनोरम विषय
छायाहरण 'पद्माकर' में प्रस्तुत किया है । स्वाभाविकता का बीच अङ्गकारों का इत
प्रकार का प्रयोग 'पद्माकर' की अपनी विशेषता है—

'छात्रि सिंगारिन सेव पै पारि भई मिस ही मिस ओट छितानी ।
सो 'पद्माकर' आहवा पंथ हकैत बने निज तंत में जानी ॥

सो बलि सुंदर सुंदर सेज । तें भी सरकी थिरकी यहानी ।
पाठ के खगे नहीं ठहगत है ज्यों बलमात के पाठ पे पानी ॥

‘हिम्मत बहादुर बिरुदावली’ में संग्रहित ‘पद्माकर’ के कवियों में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भरे पड़े हैं । हिम्मत बहादुर जब सेना सभाकर चलने लग जाता है तो ‘झांसी’ ‘कासी’ तथा ‘कपासी’ आदि विरोधन सृजक शब्दों के माध-भाषारों की तात्त्विक योजना कर कवि अतिशयोक्ति, अलंकार और सहोक्ति अलंकार की एक ही साथ योजना कर देता है—

‘तीले सेम बाही जे तिपाही बटें मोहन पे,
झाही बटें अमित अरिइन की ऐक पे ।
कहै पद्माकर निवान बटें हाथिन पे,
भूरि भारैं बटें पाकखानन क ऐक पे ॥
सावि चतुरंग समू संय बीतिवे के हेत,
हिम्मत बहादुर बहत कर ऐक पे ।
झांसी बटें गुल पे, बहासी बटें बाहन पे,
कासी बटें सिंह पे, कपासी बटें बैक पे ॥’

उचित अलंकृत पदों की रचना में पद्माकर के समुत्त हिन्दी के कुछ ही कवि उदरते हैं । इनकी रचनायें अलंकृत काव्य की उत्तमात्म कोटि में रखी जाने योग्य हैं और ये हिन्दी अलंकृत काव्य के अन्तिम श्रेष्ठ कवि हैं । इनके बाद भी अलंकृत काव्य की रचनायें होती रहीं किन्तु उनमें हमें किसी प्रकार की नवीनता एवं मोदता के दर्शन नहीं होत । केवल ‘मठापठाहि’ ही एक ऐसे कवि मिलते हैं जिनकी काव्य-कला एवं अलंकार-भावना कुछ-कुछ पद्माकर के निकट तक पहुँच सकी है ।

मठापठाहि

इनकी जो सबसे बड़ी विशेषता रही है वह यह कि अनुमात्रों का उधार लेते हुए भी इन्होंने अपनी रचनाओं को कहीं भी अदक्षिण नहीं होने दिया है, जो दोष कहीं-कहीं पद्माकर जैसे छंद कवि की रचनाओं में भी आ गया है ।

‘उक्रे छविठा चहुँ ओरन तैं, छवि छाई समीरन की बहरें ।
मदमाते महाभिरि श्यन पे, गन मंडु मयूरन के बहरें ॥
इनछे करनी बरनी म परे, मगरु गुमानन सो गहरें ।
धन ये नम मंडल में छहरें, बहरें कहुँ जाय कहुँ उहरें ॥

इनके कवियों का अन्तिम परत की माया बहुत ही गठी एवं स्वाभाविक होती है जिससे प्रभाव उत्पन्न करने में ये पूर्ण समर्थ हुए हैं ।

रीतिसिद्ध मुक्तककाम्यों में अलंकार

रीतिसिद्ध मुक्तक रचनाओं की मूर्ति रीतिसिद्ध कवियों ने अलंकार-कवियों के निर्माण का आग्रह तो नहीं किया है किन्तु उनकी रचनाओं से नावक-नाविका-भेद तथा भंडारों के

सुन्दर उदाहरण ईद निकासना कठिन नहीं है। रीतिबद्ध रचना की सारी विशेषताओं पर उन्होंने सफ़रता प्राप्त कर ली थी किन्तु सभ्य-ग्रन्थों के रूप में उसका उपयोग नहीं किया। ऐसे कवि सभ्य-ग्रन्थ लिखने वाले रीतिबद्ध कवियों की भाँति रीति की शास्त्र-प्रियत बातों का पूरा पालन नहीं करते थे। शास्त्र कथित-संपादन मात्र इनका लक्ष्य नहीं था। कहीं तो चमत्कारविद्यम के छिये वे उक्तिर्माँ बाँधते थे और कहीं रसामिम्बिक के छिये रीतिशास्त्रों में भिन्नार्थ हुई सामग्री का त्याग करके अपने अनुभव और निरीक्षण से प्राप्त उपलब्धि, सामग्री या सूत्रनवा का संक्षिप्त करते थे।^१ सभ्य ग्रन्थ लिखने वाले कवियों की अपेक्षा इनमें कल्पना-विभव तथा कल्पनात्मकता अधिक है। वे अधिकांश कवि मौ दरबारी हैं। इन रीतिबद्ध कवियों में प्रथम श्रेष्ठ रहीम पर उदाहरी है।

कविबर रहीम ने दोहों के अतिरिक्त बरवै छन्दों में नायिक-भेद के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जिससे स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि सभ्य ग्रन्थ लिखने की पूर्ण समता इनमें थी। किन्तु उन्होंने केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं, सभ्य किसी और कवि ने जिसकर इसका सम्पादन किया है। यही कारण है कि हमने इन्हें रीतिबद्ध मुक्तक कवियों में न रखकर रीतिबद्ध कवियों में रखा है क्योंकि यदि हम से बिहारी आदि रीतिबद्ध कवियों की रचनाओं को भी उदाहरण दिया जाय तो वे भी रीतिबद्ध मुक्तककारों की श्रेणी में आ जायेंगे। 'रहीम' के बरवै इतने सरस एवं कलात्मक हैं कि उन्होंने सभ्यकालीन कवियों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है। कहा जाता है कि कविबर मतिराम ने अपने कुछ दोहों के साथ इसका संग्रह भी तैयार किया था, जिसकी एक प्रति का उल्लेख हिन्दी खोज रिपोर्ट में भी है। (उसकी चर्चा मतिराम के ग्रन्थों के साथ की जायगी।) बाद में नायिक-भेद लिखने वाले कवियों ने रहीम की रचनाओं को आदर्श रूप में सामने रखा है। बर्ष बलू को जिस सफ़ाई से रहीम ने अपने बरवै में व्यक्त किया है उसनी सफ़ाता मध्यकालीन साहित्य के मुक्तककारों में कम मिलती है।

‘बनि मर रोह दुखदिया, करि मन उन ।

सघन कुंज समुदरिया, ओ पर सत ॥’

‘सीस नवाह नवेलिया, निजवा बाद ।

छिति छनि छार छिगुनिया, सुमुखनि राह ॥’

— ‘जली जियाह नवेलियाही, सति सब संग ।

जस दुखसत गो गोंदवा, मस मरग ॥’

‘बिहसत भँठह बदाये, बनुर मनाह ।

आपत तर उपटनवाँ, ऐँठि उरोब ॥’ (रहीम)

कहा जाता है कि रहीम के बरवै छन्द से प्रभावित होकर ही दुखदीश ने अपने असेहत बरवै छन्दों की रचना की है—

‘अपक हरवा भंग मिलि अधिक सोदाह ।

जानि परे तिय हियरे जब कुझिलाह ॥’ (दुखदीश)

१. ‘बिहारी’, बिहारीय प्रसाद मिश्र, पृ. ४० ।

‘अब जीवन की है कवि आठ न फोय ।

फनगुरिया की सुंदरी कंकन होय ॥’ (तुलसीदास)

रहीम के दाहे अधिकांशतः उपदेशपरक हैं जिससे कवि ने उनमें कमलधर खन्ने का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु कहीं-कहीं अन्वाष्टि की सुन्दर सृष्टि हुई है :

‘भनि रहीम बस पैक को, छु भिब पियत अपाय ।

उरभि बड़ाई कौन है, अगत पियासा जाय ॥’ (रहीम)

इसके अतिरिक्त वहाँ कहीं स्वाभाविक रीति से अलंकारों का प्रयोग उचित मान पड़ा है रहीम ने अनुमास तथा उदाहरण आदि अलंकारों की सृष्टि की है—

‘कुटिलन -संग रहीम कहि, साधू बनते माहि ।

ज्यो नैना सेना करें, उरब उमेठे चाहि ॥’ (रहीम)

अनेक दोहों में विरोध अलंकारों के भी सुन्दर प्रयोग रहीम में मिलते हैं ।

गंगा कवि

कवि गंगा अकबर-दरबार के प्रसिद्ध कवि थे जिनका अकबर के सेनापति कवि रहीम खॉ खानखाना के यहाँ बड़ा आदर था । कहा जाता है कि रहीम खॉ खानखाना ने प्रसन्न होने पर इन्हें एक छप्पय पर छठीस खाल रुपये दे डाले थे । वह प्रसिद्ध अतिछयोधिपूर्ण छन्द रहीम की प्रशस्ति में लिखा अनुमास, उपमा आदि अलंकारों की छटा से युक्त है—

‘वकिट भंवर रहि गयो, गमन नहि कल कलखन ।

आहि फन मनि नहि छैत, सेब नहि बहत पवन बन ॥

इस मानसर तम्यो पक्ष बल्ली न मिछे अति ।

॥ सुन्दर पछिनी पुरुष न लहे, न करे रति ॥

सकमसिष्ठ सेब कवि गंग मन अमित सेब खिरय रास्या ।

खानान खान बेरम सुवन बबहि कोष करि तंग कस्यो ।’ (गंगा)

आचार्य मिरासीदास ने काव्यकला की प्रवीणता में गंगा का नाम तुलसीदास के साथ केते हुए इन्हें कवियों का सरदार कहा है । बलुठा व्यंग-सङ्कट पर विरह-ताप का बड़ा ही अतिछयोधिपूर्ण वर्णन गंगा की कविताओं में प्राप्त होता है । शृङ्गार रस का समशीलता का साध-साध इनकी कवितायें वाग्देव्यपूर्ण उक्तियों के सुन्दर नमून हैं—

‘बैठी थी छटिन तंग, पिय को गजन तुन्दो,

मुल क समूह में विप्रेम-आगि भरकी ।

गंगा कहे विविध मुगप से पवन मयो,

छागत ही ताक तन भई बिया बरकी ॥

प्यारी को परति पीन गया मानसर पई,

छागत ही भीरे गति भई मानसर की ।

बकबर जरे ब्या सैवार बरि छार मया,

सख बरि गया, पैक लुप्या, भूमि बरकी ॥

(गंगा)

सुधारक अम्बी

सुधारक अम्बी उन इने-गिने कुछ भेद्य सुसम्मान कवियों में हैं जिन्होंने हिन्दी की उत्तमोत्तम रचनायें प्रस्तुत की हैं। नायिका के अङ्गों का इन्होंने बड़े विस्तार से वर्णन किया है और एक-एक अङ्ग लेकर उन्होंने 'तिलकचतक' और 'अलकचतक' जैसे सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। रूपक और उल्लेख का तो इन्होंने बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। नायिका के मुख पर छापी बसणों को देखकर कवि को ऐसा भान पड़ता है मानों 'मदन' कपी मुग्धी ने 'कौंच' कपी मुख पर उर्ध्व का सुन्दर 'काक' बाहर स्थित दिया है—

‘अलक सुधारक तिल मदन छाक परी यों छाक।
सुघ नवीन मुनशी मदन छिन्नी कौंच पर काक ॥

इसी प्रकार नायिक के तिल का वर्णन देखिये—

‘गोरी के मुख एक तिल सो मोहि करो मुहाव।
भानहुँ पंकज की कम्भी मौर बिस्मयिओ आव ॥’ (सुधारक अम्बी)

सेनापति

कविवर सेनापति के कृतवर्णन को देखकर ऐसा भान पड़ता है कि इन्होंने किसी न किसी प्रकार का नायिक भेद अथवा कृतवर्णन-संरक्षणी ग्रन्थ अवलम्बित किया होगा जो किसी कारणवश अब प्राप्त नहीं होता। ‘कवित रत्नाकर’ में संग्रहीत इनकी रचनाओं में अनुप्रास और समक अलंकार का सुन्दर प्रयोग देखलाई पड़ता है। श्लेषालंकार का प्रयोग अधिक और सुन्दर प्रयोग कवि सेनापति की रचनाओं में मिलता है उतना हिन्दी के कम कवियों में पाया जाता है। नीचे दिये गये कवित में कवि ने ‘समक’ और श्लेषालंकार की सहायता से कवित में सुन्दर समकाल उत्पन्न किया है। कवित का पूरा अर्थ ‘मित्र’ और ‘सुख’ दोनों पक्षों में समान लग जाता है—

‘बाकी जोति पाई जग रहत बगमपाई,
पाहन पदमिनी समूह परसत है।
जाके बेरी अंतर कमल विगतत धन,
पाह के सुख नैन सुग सरसत है ॥
बाम की हे निधि जाके आगे पंद मंद कुति
रूप है अमृत मय अंतर सरसत है।
मूर्ति सरस सब बार है सरसि बाकी
साई मित्र सेनापति पित में सरसत है ॥’ ७३ ॥

(कवित रत्नाकर, पहली तरंग)

कवित के आशयन पर प्रकृति की श्रद्धा निरस्त कर सेनापति का मन में बस कविता करने का भाव उमड़ता है या उनकी अनुभूति करपना का सहाय लेकर अष्टकृत शब्दों में व्यक्त होने लग जाती है—

‘केतिक, अशोक, नव चंपक, बहुल फुल,
 फौन चीं बियोमिनी की ऐसी बिकराळ है।
 सेनापति लौहरे की, सुरति की सुरति की,
 सुरति कराह करि आर्य विहाळ है ॥
 दक्षिण-पवन एही ताहू की दहन बल,
 धुता है मदन परबेस प्यारी आल है।
 आल है प्रवाल फूले देखाव बिहाळ, धल
 फूले और साळ पै रताळ सर-साळ है ॥५॥

(कविच रत्नाकर—‘तीसरी तरंग’)

विशालंकारों के भी सुन्दर प्रयोग कविच रत्नाकर में पाये जाते हैं। एक छन्द में ‘कमल बहोसर’ का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये कवि ने दस प्रश्न प्रस्तुत किये हैं, जिनमें अन्तिम प्रश्न का उत्तर ‘अन्त एक माधव सरन’ है और इसी उत्तर में शेष नौ प्रश्नों के भी उत्तर मिल जाते हैं—

‘कहा कसत आचार ! कहा आचार मान कर !
 कहा बसत बिनु मय ! हीन बिनत कह भर भर ! ॥
 कहा कसत तिम रुति ! कहा बाधत बाधक बन ! ॥
 कहा बसत मृगदास ! कहा कागर कीं करन ! ॥
 धीर धीर हरपत कहा ! सेना पति आनन्द बन !
 प्यारि बेद गावत कहा ! अन्त एक माधव सरन ॥५॥

(कविच रत्नाकर, पौंचवीं तरंग)

उपरोक्त छन्द के प्रत्येक उत्तर का अन्तिम वर्ण दसवें प्रश्न के उत्तर का अन्तिम वर्ण (अर्थात् ‘न’) रहता है। इसमें ‘अर्थात् ‘न’ में दसवें प्रश्न के उत्तर के पहले, धूरे, लौहरे—आदि वर्णों को छोड़ देने से क्रमशः पहले, धूरे तथा लौहरे—आदि प्रश्नों के उत्तर (अर्थात् अन, उन, धन, आदि) मिल जाते हैं।

बिहारी

बिहारी के दोहों में शब्द और अर्थ दोनों अलंकारों का सुन्दर प्रयोग मिलता है किन्तु इनमें स्वतंत्र रूप से अलंकार-भोग्य की प्रशंसा नहीं पाई जाती, जिससे हमोंने भाव या तथ्य-बोध के लिये ही पर्याय या सहायक रूप में ही अलंकारों का प्रयोग किया है। यहाँ कहीं भी अलंकार-कार का रहने का प्रयोग किया है यहाँ परमेश्वर नाम के लिये ही—

‘ही पर चारों उरखी, मुनि राखि के मुमान।

तू मोहन के उर बली, है उरखी समान ॥’ (बिहारी)

की विशिष्टता या बोध कराने के लिये बिहारी ने अलंकार-अलंकार का वह काव्य-रस में ऐसा सुलभ किया है कि ऊपर से निपकसा पड़ता—

‘इग उल्लस, दूटत झुट्टम, झुलत अतुर-चित प्रीति ।

परति गांठि बुरबन-दिये, परै गई यह रीति ॥’ (बिहारी)

इसी प्रकार धनुष, साम्यमूलक तथा उल्लेखा आदि के उल्लेखन उदाहरण बिहारी के दोहों में मरे पड़े हैं—

‘अथर परत हरि के परत, ओठ-जीठि-पट जोति ।

हरित नांव की बांधुरी, इंद्रधनुष-रंग होति ॥’ (बिहारी ‘धनुष’)

‘छोहत ओढ़े पीत पट, स्वाम सखीमे गात ।

‘मनौ नील मनि-सैक पर, आतप परपौ प्रभात ॥’ (बिहारी ‘उल्लेख’)

इसी प्रकार ‘रसलीन’, सैफर गुलाम नबी बिख्यामी, रसनिधि, पृथ्वीसिंह तथा ‘विक्रम’ और रामचतुर्दई के दोहों में भी अलंकरण-प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। संक्षेप बिहारी की सी कल्पमत्तता, बाणैचिम्ब तथा सुन्दर अलंकार-बोझना इन कवियों की रचनाओं में नहीं मिलती फिर भी अलंकार कुछ रचना करने की प्रवृत्ति के दर्शन हो जाते हैं, जिसे उदाहरणों द्वारा देखा जा सकता है —

‘अमिब, हल्लहल मद मरे, सेत स्वाम, रजनार ।

बिकत मरत, झुकि झुकि परत बेहि पितकत इकबार ॥’

(रसलीन)

‘कुमति बंद प्रति सौत बदि, भात भात कदि आय ।

हुप मुल मधुराई कसे, फीको परि पटि आय ॥’

(रसलीन)

‘सुन्दर बोकन रूप जो, चतुपा में न समाइ ।

इग तारन तिस विचति है, नेही परत झुफइ ॥’

(रसनिधि)

‘मन गयै छवि मद उनके तौर बंजीरन बात ।

दिव के जाने तार सौ, सहै ही बधि बात ॥’

(रसनिधि)

‘जलि देसी बुझि रामिनी रिपति मनौ बुझि रूप ।

मंडु मंडुपोषा मरै जोषा बगल अन्ध ॥ १२५ ॥ (विक्रम चतुर्दई)

‘ते प्रसन्न पूबत सिवा, भेटन विरह करैव ।

सौल मुठी जित अकित है, देत बदाइ मदेव ॥ १२७ ॥ (विक्रम चतुर्दई)

‘अपक में नहि बंद में, नहि वपका मैं छल ।

नहि फँसन में पावता, रही यही तन भाल ॥ १३० ॥’ (राम चतुर्दई)

‘मन-स्येस्वर तन-अय नव, उडत रंग रस डोर ।

बूँदहि डोर बगेर बब, अब पारे लव डोर ॥ १३४ ॥ (राम चतुर्दई)

‘रीतिमुक्त’ मुक्तक कान्यों में अलंकरण की प्रवृत्ति

रीतिबद्ध रचना करते वक़्त कवियों ने काव्य के पद्य-पद्य को ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और रीतिविह्व कवियों में कथा तथा भाव-पद्य पर तमाम आग्रह निरस्त हो पड़ा है, किन्तु रीति-मुक्त कवियों में भाव पद्य की ही प्रधानता पाई जाती है। जिससे इस कौटि की

रचनाओं में शब्द-प्रयोजन की अपेक्षा भाषागाम्भीर्य पर विशेष ध्यान दिया गया है और अपेक्षाकृत अर्थोपकारों का ही अधिक प्रयोग मिळता है। अर्थोपकारों का प्रयोग इन कवियों ने अर्थोपकार प्रयोग की दृष्टि से नहीं बल्कि स्वाभाविक रीति से भाषा में उभरता अपने के लिए ही किया है। इस प्रकार सत्तरवीं शताब्दी के बाद के साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग रीतिमुक्त साहित्य का है, किन्तु इस प्रकार की कवितामें हिन्दी में इसके पूर्व भी होती रही है जिनमें केवल शृंगारी-साहित्य ही नहीं बल्कि भक्ति तथा वीर रस-प्रधान साहित्य भी लिखा गया है। इन कवियों पर किसी प्रकार का न तो शास्त्रीय-कन्यन ध्यान पड़ता है और ये आत्म-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से न तो प्रेरणा प्राप्त करते ही ध्यान पड़ते हैं। इन कविताओं की शृंगार, वीर वीर दो मुख्य प्रवृत्तियाँ रही हैं। रस से कुछ इनकी रचनाओं में भी अर्थोपकार की प्रश्रुता पाई जाती है।

शृंगार-परक रीतिमुक्त-काव्य

‘आख्य’ कवि ‘रसज्ञान’ की भाँति ही सङ्कस्य कवि थे। इन्होंने एक सुखदमान कवियित्री ‘रोक’ के प्रेम में पड़ने के कारण अपने आसन्न धर्म की तिष्ठति छोड़कर मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया था किन्तु इनके हिन्दू संस्कार जो रहे वो उनकी कविताओं में प्रकटित हुए हैं। वे पति और पत्नी दोनों ‘आख्य रोक’ के नाम से हिन्दी कविता करते थे। इन्होंने शृंगार-रस की बड़ी ही मनोहारी रचनाएँ अलंकृत बीबी में की हैं—

कैहीं मोर सोर तबि गले री अनत भावि ।
कैहीं उठ दावुर न सोखत है ए दर्द ।
कैहीं पिछ पातक बलिह काहू मारि जारे ।
कैहीं बकपाति उठ अंतगति है गई ।
आख्य कहत आखी अबहुँ न आवे स्वाम ।
कैहीं उठ रीति विपरीति विधि ने ठई ।
मदन महीम की दुहाई फिरने ते रही ।
बसि गये मेघ कैहीं बीसुरी सती गई ॥

(आख्य)

‘कवि नेनाम’ के छन्दों की भाषा परिभाषित, व्यवस्थित तथा मनोपसुक्त है। इनकी रचनाओं से ध्यान पड़ता है कि ये शृङ्गार-रस के अच्छे कवि थे। संयोग-शृङ्गार में इनका मन इतना रमा है कि कहीं-कहीं अस्वीकृता तक भी पहुँच गये हैं—

‘आने ली कीन्ही अगामी सोयन, कैते छिये अबहुँ जो छिपावति ।
तू अनुपम को रीति कियो, ब्रज की बनिया लज जो उदयवति ॥
कोन संकोच रखी है नेनाम, जो तू तरलै, उनहुँ तरलावति ।
बावरी । जो ये कसक छयो ली निरंक है क्यों नहि अंक अग्यावति ॥ (नेनाम)

वियोग-काव्य की अन्तर्बुधियों का कितना मार्मिक एवं दुःख-हारी पित्र कविद्वय वनानन्द की रचनाओं में मिळता है उतना सुन्दर कर्न मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के विरले कवियों ने ही किया है। रीतिबद्ध रचना में भी संयोग और वियोग की वरम दशा

वसुन मीन की और मिथुन पतंग की के द्वारा घोषित की जाती थी। प्रेम में मर मिटो ही इनका मूक मन्त्र है। विरह सहने का साहस उनकी शारीरिक सुसुमारता नहीं बग़ेर प्यारी। मन का बस उनके पास उठना नहीं होता, पर रीतिमुक्त कवि प्रेम में मर जाने को बेतावनी का नहीं, बढ़ता का अर्थ मानते हैं, बेतन तो साहस पूर्वक बीता है।^१

‘हीन मय जल मीन अभीन कहा कसु मो अकुलानि समाने।

नीर समेही को सम्य कसंक निरास हे कसर स्याम्य माने।

प्रीति की रीति सुक्यों समुसे बढ़ मीत क पानि परे को प्रमाने।

या मन की सु दशा ‘वन आनंद’ बीब की जीवनि जानही जानै ॥’ (वनानंद)

‘वनानंद’ ने रीतिविद्ध अथवा रीतिबद्ध कवियों की भाँति विरह-ताप को बाहरी मान नहीं मापा है और न तो बाहरी उच्छ्वस-हृद ही दिखलाई है। इनकी हृत्पत्रक भीतर ही है जिसे उन्होंने हृत्तम कल्पना के द्वारा साधना की भूमि पर अत्यन्त असंकुच रौखी में उपाय है—

‘मरिचो बिसराम गने यह तो यह बापुरो मीत तम्यो तरसे।

यह रूप-छटा न सहारि सके यह तेज सबै चित्तवै बरसे।

वनआनंद कीन अनोखी दसा मति आवरी बाहरी हे परसे।

बिछुरे मिठे मीन-पतंग-दसा कहा मो बिष की गति को परसे ॥’ (वनानंद)

उपरोक्त छन्द में ‘तपना’ और ‘बरसना’ का एक ही प्रसंग में प्रयोग कर कवि ने सुन्दर विरोध की सृष्टि की है। इसी प्रकार उन्होंने ‘सुखान’ शब्द पर लक्ष्य करके अनेक कवित्व भीर सँवैये कहे हैं—

‘ऐरे बीर पौन। तेरो सबै ओर मीन, बारि,

तो सौ और कीन मनै दरकीही जानि है।

कलक क प्रान, ओछे बड़े को समान, वन

आनंद-निधान सुखगान बुलियानि है ॥

जान उबियारे गुन मारे अति माहि प्यारे

अब है अमोही बैठे पीठि पहिचानि है।

विरह किया का भूरि औठिन में राखो पूरि,

पूरि तिन्ह पौकन की हा हा। नैकु आदि है ॥’ (वनानन्द)

उपरोक्त कवित्व में सुखान शब्द क किये पदों ने ‘जान’ शब्द प्रयुक्त किया है जिसके दो अर्थ निकलते हैं। शृङ्गार प्रधान स्वप्न कवियों में ‘बेधा’ और ‘ठाकुर’ का भी महत्व पूर्व स्थान है जिनके एक-एक उदाहरण नीचे दिये जात हैं —

‘कबहुँ मिथियो कबहुँ मिथिया

यह धीरज ही में धरेशा करे।

उर से कदि आवै गर त धिरे

मन की मनही में धिरेषा करे।

कवि बोवा न नाव सरो करहुँ
निठहुँ हरवा से हरयो करे।

छातेह को कहते न को
मनही मन पीर पिरो को। (बोवा)

पिय प्यार करे बेहि पे सक्नी।
ठेहि की सब मौलिन सेकत है।

मन मान करी तो परी प्रम में
फिर पाछे परे पछतैकत है।

कवि ठाकुर कौन की कासो कहाँ
दिन बेसि रवा बिठैकत है।

अपने बरके सुन एरी मरु
निब सीत के मायके बैसत है। (ठाकुर)

बीर रस-प्रधान रीति मुक्त काव्य

प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत 'पृथ्वीराज' की बिल्कि कृष्ण सम्मती री की अलंकृत शैली का वर्णन पहले किया जा चुका है। जिससे उनकी अलंकृत शैली का पूर्व परिचय मिल चुका है। उन्होंने बीर रस की भी अलंकार पूर्ण रचनायें की हैं। इतिहासकार कर्नल 'यंग' ने पृथ्वीराज की कविता में इस प्रकार पोशों का बड़ा बतलावा है, जो अस्तरणा ठीक है। उन्होंने अपनी एक कविता में यह भाव प्रकट किया है कि पुत्र माता से निवेदन करता है कि हे माता! ऐसे पुत्र को कन्म दे बैसा राधाप्रताप है, जिसको अकबर सिरहाने का चाँप समझकर लेता हुआ बाँक पड़ता है—

‘माई पड़ड़ा पूत बण, बेइसा राधाप्रताप।

अकबर खुतो जोइके, बाण सिरहाने चाँप। (पृथ्वीराज)

इसी प्रकार एक दोहे में उन्होंने अबाह समुद्र का रूपक बाँचा है। बीरता स्त्री बल से भरा अकबर अबाह समुद्र है, परन्तु येबाह का राधाप्रताप उसमें कमल के फूल के समान है। अर्थात् किस तरह कमल पर बल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार प्रताप पर अकबर की बीरता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

‘अकबर समुद्र अबाह, लतापन मरियो सबल।

येबाहो विष मौह, पमेष, फूल प्रताप ली॥ (पृथ्वीराज)

‘पृथ्वीराज’ की मौलिक ही ‘हुयुंवा’ की भी कवितायें बीरता तथा देश प्रेम से ओत-प्रोत हैं। अन्व हिन्दू राजाओं का अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेना कवि ‘हुयुंवा’ की के हृदय को अप्रियत बू बना है। उनकी उक्ति कि मुल-भाग के हिन्दू अन्व हिन्दू राजा गीदकों की मौलिक अकबर के आधीन हो गये, पर कोपी सिंह की मौलिक राधाप्रताप ही उसकी अधीनता स्वीकार नहीं करता—

‘सुबहित स्वाक समाज, हिन्दू अकबर बल हुआ।

ये लो की मूरदाब, पमै न राधाप्रताप ली॥ (हुयुंवा की)

बौद्धिदास की भी गलोंकियों उसी भेषी में आती हैं जिसमें धृष्यीराज और दुरास
भी थी। रामपुर का चन्द्रावत राज दुगादास पहले मेवाड़ के महाराजा का विश्रामपात्र
और बाद में बाकर राज अकबर से मिल गया जिसपर 'बयमल' और 'पता' करते हैं कि
हे दुर्ग ! तू अटक हो कर रह। कयर कमी मैल के निष्कल जाने से स्वर्ग-दुर्ग की व्यति
नद गई है—

‘प्रगन करै बैमल-पतो, अपल अपल कर अंग।

कायर रेहल बड़ गया, दीपि कनक दुरंग ॥’ (बौद्धिदास जी)

कविराजा सूर्य मल्ल ने ‘वीर सतसई’ नामक एक व्योमपूर्ण दाहों का सुन्दर संग्रह
सोद रखा है। ये महाराज कवियों का बड़ा आनर करते थे वीर स्वयं भी सुन्दर रचनायें
करते थे। ईशमास्कर नामक ग्रन्थ की भी उन्होंने रचना की है। ‘वीर सतसई’ उनकी बड़ी
ही सुन्दर अतिशयोक्तिपूर्ण रचना है। उपमा और रूपकों का भी यथाचित प्रयोग उन्होंने
बड़ी ही कुशलता से किया है। राजपूतानियों ने इतिहास में अकस्मिक को भी सम्मिलित
कर दिखाना है। सती होती हुई एक वीरगंगा कहती है कि हे सखी ! पति के वीरित
रहते शत्रुओं ने कमी धन नहीं पाया और अब बसते समय मैंने इन्हें गोद में ले रखा
है तो भी इनकी मूँछ नहीं मुड़ रही है। अर्थात् इस दशा में भी ये शत्रुओं को दुखी
कर रहे हैं—

‘सती नयी बब जीवतों, अरियों पायो धन।

बसतों कीयो गाद में, ती भी मूछ झरेन ॥’ (वीर सतसई)

इसी प्रकार एक नायिका का कथन है कि हे सखी ! मैं तुझे एक आश्चर्य की बात
‘कहाती हूँ वे (मेरे पति) घर में तो (मेरी) मुखाओं में समा जाते हैं’ परन्तु मुझ
का घर मुनते ही वे मरक-श्रेणी इतने पूछते हैं कि कवच में भी नहीं समाते—

हूँ देखी अपरब कहुँ, घर में जाय समाय।

हाके सयता हूछते, मरयो कीज न माय। (वीर सतसई)

इस प्रकार स्पष्ट हा जाता है कि अलंकारों की प्रशंसा करके गृहणी मुक्तकों तथा
छन्द ग्रन्थों में उद्धृत कविताओं में ही नहीं बल्कि अन्य स्वच्छन्द-मुक्तकों में भी पाई
जाती है।

मध्यकाशीन हिन्दी साहित्य में काव्य शास्त्र

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दि तक हिन्दी में प्रभुत सुन्दर रचनायें का चुड़ी थीं। महा
कवि ‘दूर’ और गारुडामी तुलसीदास की अमर कृतियाँ हिन्दी संसार को धन हा चुड़ी थीं।
ऐसी स्थिति में भेद शास्त्रेय ग्रन्थों का अभाव एक किना नहीं रह सकता। साहित्य-मनो,
साहित्य प्रेमियों तथा जन-साधारण को काव्य-कला के ग्रन्थों की आवश्यकता दात हुई जिससे
हिन्दी साहित्य में इस और भी कुछ कार्य आरम्भ हुआ। जिस प्रकार व्याकरण भाषा का
अनुगमन करता है, उसी प्रकार शास्त्रीय ग्रन्थों की सृष्टि भी साहित्य ग्रन्थों के निमाय के दाद

ही होता है। वैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी के सौम्याम्ब से उसके सामने संस्कृत के शास्त्री ग्रन्थों की अतुल्य-परम्परा वर्तमान थी, उसे उसका अक्षय कोष मिश्र गया जिससे इस ओर कार्य करने में हिन्दी-भाषावादी को किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव तो नहीं हुआ किन्तु वे इस क्षेत्र में कोई मौलिक देन भी नहीं दे सके।

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल के कविगण संस्कृत के भी ज्ञानभर से जिससे हिन्दी में छन्द-ग्रन्थ के न होने पर भी उस विषय के संस्कृत ग्रन्थों के कारण काम्य-शास्त्र के मर्मज्ञ थे। संस्कृत साहित्य और काम्य-शास्त्र से हिन्दी कवियों का सम्पर्क बराबर बना रहा और यहाँ तक कि पंडितराज कनकाश का प्रसिद्ध काम्य ग्रन्थ 'रसमार्गदर्श' संस्कृत में छत्रहठी शताब्दि में ॥॥ लिखा गया जबकि हिन्दी में अविच्छादित छन्द-ग्रन्थों की खोज हो रही थी। हिन्दी काम्य-शास्त्र का प्रथम आचार्य जिसे माना जाय इस सम्बन्ध में बिहान् एकमत नहीं हो पाये हैं। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक-ग्रन्थकार 'पुष्प' नाम का एक कवि था जिसने सातवीं शताब्दि में काम्य-शास्त्र पर एक अलंकार-ग्रन्थ हिन्दी में लिखा था। यद्यपि प्रमाण का अभाव में कुछ तथ्य किसी आलोचक की स्वीकार्य नहीं, फिर भी विचार करने से यह असम्भव भी नहीं जान पड़ता कि सप्तमशती में हिन्दी भाषा में काम्य-शास्त्र की कोई पुस्तक नहीं लिखी गई होगी। कम विष्णवास का तथ्य यह है कि सप्तमशती में, निरान्त साधारण जनता में ही सही, सिध भाषा का व्यवहार होने लगा था, ॥॥ अपभ्रंश की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है।^१

प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में संस्कृत से स्वतंत्र काम्य-शास्त्र नहीं हैं। हिन्दी में संस्कृत के अनुकरण पर ही सही, काम्य-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य का खनन होने लग गया था। ऐसी स्थिति में ऐसी भाषा में काम्य-शास्त्र पर एक पुस्तक लिखी गई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के पूर्वार्द्ध में जिसे सच्चिदानन्द भी कहा जाता है, कुछ रचनायें काम्य-शास्त्र के कुछ अंगों पर लिखी जा चुकी थी। 'पुष्प' कवि की रचनाओं के प्राप्त न होने के कारण 'कृपाराम' की 'हितवरगिणी' ही उस रीति पर लिखी सर्व-प्रथम काम्य-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तक है जो उपलब्ध है।

सं० १५९८ वि० में कृपाराम ने 'हितवरगिणी' में रसों का कुछ निरूपण किया और अपने पूर्ववर्ती कुछ कवियों की ओर भी संकेत किया किन्तु कुछ फटा नहीं चढ़ता। हित-वरगिणी में सब पौष्ट तरंग हैं जिनमें नायिका मेघ का पूर्ण विवरण किया गया है किन्तु सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण ही है। इस पुस्तक का आधार मुख्यतः 'मरुत का नाट्यशास्त्र' ही जान पड़ता है। इन्होंने स्वाधिन पवित्र आदि नायिका के ८० मेघ माने हैं जब कि 'मरुत' में ८ प्रकार की ॥॥ नायिकायें स्वीकार की हैं। जिससे ज्ञाता है कि इन्होंने 'मानुस' से भी प्रभाव ग्रहण किया है क्योंकि उन्होंने इस प्रकार की नायिकाओं की संख्या दस मानी है।

मोहनराज भी मिश्र के पूर्व एक कवि गोपा का नाम लिखता है। जिसका 'रामभूषण' राम के मध-वचन के साथ-साथ सम्भवतः अलंकार-ग्रन्थ भी है तथा इन्होंने अलंकार चन्द्रिका

में स्वतन्त्र रूप से व्यङ्ग्यकारों का विवेचन भी किया है किन्तु इनके भी विशेष विवरण के न मिलने के कारण 'मोहनदास' भी मिस्र ही दूसरे काव्य-शास्त्रकार ठहरते हैं। इन्होंने सन् १९१९ में 'गुंजार सागर' नामक बड़ा ग्रन्थ रचकर नायक-नायिका भेद तथा व्यङ्ग्यकार आदि का साधारण विवेचन किया। नन्ददास की 'रसमञ्जरी' भी नायिका भेद ग्रन्थ है, जिसमें नायक-नायिका भेद, हाव, भाव तथा हेछादि का वर्णन है। इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने ग्रन्थ निर्माण में रसमञ्जरी (मातृवत् कृत) का अनुसरण किया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहे और चौपाई में ही लिखा गया है। कस्यत्र मिस्र की नलछिल पर, अलुरहीम लौ लाना की बरबे नायिका-भेद तथा 'करनेर' की 'करनामरण', भुविभूषण और भूपभूषण व्यङ्ग्यकार पर लिखी गयी रचनाएँ हैं, जिन्हें हम कस्यदास के पूर्व की काव्य-शास्त्र पर उपलब्ध सामग्री के अन्तर्गत रख सकते हैं। 'रसम' के बरबे नायिका भेद में छन्द न प्रस्तुत करके केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किये गये हैं।

कस्यदास की हिन्दी के प्रथम आधार हैं जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया है। इसके बाद प्रायः पचास वर्षों तक काव्य-शास्त्र पर कोई अच्छा रीति ग्रन्थ नहीं लिखा गया। इन्होंने संस्कृत की आधार-परम्परा का हिन्दी में आरम्भ किया। कस्यदास की चमत्कारवादी वे जिससे व्यङ्ग्यकारिक सिद्धान्त पर गहरा रखते थे अन्तः इन्होंने प्राचीन संस्कृत के व्यङ्ग्यकारिकों—मामह, दण्डी तथा उद्भट आदि को ही अपने विवेचन का आधार बनाया है। इनके द्वारा आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा विचनाथ आदि के ग्रन्थ आधार नहीं बन सके। इनकी यह काव्य-शास्त्र की परम्परा आगे के आधारों द्वारा स्वीकृत नहीं हो सकी और इनके पश्चात् मतिराम और चिन्तामणि के साथ जो परम्परा काव्य-शास्त्र ग्रन्थकारों की कभी उनके किये 'चन्द्राञ्जक', 'कुवलयानन्द', 'काव्यमञ्जर' तथा साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थ ही आधार माने गये। कस्यदास में 'साधारण' और 'विशिष्ट' नाम के व्यङ्ग्यकारों के दो वर्ग बनाये किन्तु उन्होंने न तो उनकी परिमाणा ही दी है और न विवेचन ही किया है। जिस शैली में कुछ रसों का वर्णन हो उसे उन्होंने कौटिल्य, आरमरी, तात्परी तथा भारती आदि कृषियों को कह डाली है पर उनकी परिमाणा नहीं दी है। यदि 'विश्व' के अनुसार रसवर्णन की ही शैली मान ली जाय तो 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' इनके प्रमुख शास्त्र ग्रन्थ हैं जिनमें क्रम से उन्होंने रस और व्यङ्ग्यकारों का वर्णन किया है। रसवादी दण्डि ने 'कविप्रिया' में भी नहीं त्याग पाये हैं।

विषादी बन्धुओं में मतिराम, चिन्तामणि तथा भूषण के उत्तम ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। मतिराम के भीतर कवि आधारों दोनों का बहुत समन्वय हुआ था जिसकी वजह से हम आगे विचार रूप से करेंगे। चिन्तामणि सन् १७०७ में 'रसिकप्रिया' नामक काव्य शास्त्र पर ग्रन्थ किया तथा इसका सिद्धांत इन्होंने विंगत पर 'रस विचार' नाम से एक ग्रन्थ और किया। काव्य विवेक तथा चमत्कारमञ्जर भी इनके ग्रन्थ कहे जाते हैं। साथ ही रसमञ्जरी नामक एक रचना का और पता लगा है। भूषण ने 'विश्वरूप भूषण' के नाम से व्यङ्ग्यकारग्रन्थ लिखा है।

मधुसूदन का 'भाषाभूषण' व्यङ्ग्यकार ग्रन्थ है जिसे उन्होंने रखा है अन्त्य करने के

क्षिप्ते सिद्धा है। तोपनिधि ने सं० १६९१ वि० में 'सुधानिधि' नामक एक बड़ा ग्रन्थ ५६० छन्दों में लिखा है। कुम्भसिद्धि ने 'रस रहस्य' नामक ग्रन्थ सं०-१७१७ वि० में लिखा। इस ग्रन्थ में कहीं कहीं गद्य में टीका भी दी गयी है। 'नलधिर' पर भी इनका एक ग्रन्थ मिलता है। सुलदेव ने सात-आठ ग्रन्थ लिखे। इनका वृत्ति विचार, छन्द विचार, रसवर्ण आदि काव्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपने दो ग्रन्थों में सं० १७२८ (वृत्ति विचार) तथा सं० १७३९ (छन्द विचार) रचना काय्य दिया है। काश्मिरास का ग्रन्थ 'बरबू विनोद' प्रसिद्ध है जिसमें नायिका मेघ का वर्णन है और उदाहरण भी भक्ति रस के बहुत अच्छे दिये गये हैं।

'देव' का खान कवि और आचार्य दोनों शक्तियों से बहुत ऊँचा है। इन्होंने 'माध विद्यार', मरानी विद्यार, सुधानविनोद, सुलसागर तरंग, काव्य रसावन, कुशाब्ध-विद्यार आदि अच्छे काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। इनके ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों से कुछ विशेष-ताएँ हैं। इन्होंने विभिन्न प्रकार की छंदी व्यक्तियों, वृत्तियों आदि का वर्णन किया है केवल प्रचलित नायिकाओं का ही नहीं। इन्होंने मरानी विद्यार में कहा है कि वह कहना कि रस ९ है असम्भव है, वचार्थ में शृंगार ही मूल रस है। इन्होंने केदार के पाँच भागों को रस-निष्पत्ति के क्षिप्ते छः माने हैं और काविक संस्कारियों को ही इन्होंने साविक माध मानकर उनकी संख्या आठ मानी है। कवि देव संयोग को विरोग के बाद मानते हैं। इनकी ही स्पष्टता अन्य आचार्यों में दुर्लभ है।

सुरसिद्धि ने सं० १७५८ में 'अर्द्धकार माझ' नामक अर्द्धकार ग्रन्थ लिखा। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'रसरत्न' वा 'रसरत्नमाळा' नाम से रसों पर नायिका मेघ ग्रन्थ लिखा। इनकी विशेषता यही है कि इन्होंने एक ही शोध में अर्द्धकारों के अर्थ और उदाहरण दोनों प्रस्तुत किये हैं। श्रीपति ने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर लिखा है। इनका 'काव्य सरोवर' सं० १७१७ वि० की रचना है और इसमें इनका कल्पद्रुम का भी उल्लेख है। इसके सिवाय अर्द्धकार रंग तथा विक्रम विद्यार भी इनके लिखे ग्रन्थ माने जाते हैं। 'मिलारीदास' की प्रथम श्रेणी के आचार्यों में माने जाते हैं। इन्होंने आठ-नी ग्रन्थ लिखे जिनमें 'छन्दार्णव' वा छन्दोर्णव (सं० १७९९), काव्य निर्णय (सं० १८०३) तथा 'शृंगार निर्णय' अत्यन्त महत्त्व के हैं। इन्होंने रस सारंग (सं० १७९१) में शृङ्गार का प्रधानता तथा अन्य रसों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है।

सं० १७९४ में सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि' नामक एक बड़े ग्रन्थ की रचना की जिसमें काव्य-कव्य के प्रायः सभी अंगों का वर्णन है। रघुनाथ सं० १७९६ वि० में अर्द्धकारों पर 'रसिक मोहन' तथा सं० १८०२ वि० में माध, रस, तथा नायिका मेघ पर 'काव्यकलापर' नामक ग्रन्थों की रचना की है। पूछ—का 'कविकुल कंठामर' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बन्ना-सोकर' के आधार पर लिखा अर्द्धकार ग्रन्थ है। जेनी प्रवीण ने 'नवरत्नसरोवर', 'शृंगार भूषण' तथा 'नाना रासप्रकाश' ग्रन्थ लिखे। प्रथम ग्रन्थ माविकायेट, रस, माध आदि पर लिखा गया है और अन्य दोनों में भी प्रायः यही विषय रखे गये हैं। पद्याकर का 'पद्यामर' सं० १८७७ वि० में लिखा गया जिसमें अर्द्धकारों का वर्णन है। काव्य की दृष्टि से भी वह ग्रन्थ बड़ा

सुन्दर बन पड़ा है। प्रतापसाहि का स्थान आचार्यों में बड़े महत्त्व का है। इन्होंने काव्य-शास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी 'व्यङ्ग्यार्थ कोशमुदी' शब्द शक्तियों पर सं० १८८७ वि० में तथा सं० १८८९ वि० में मुद्रण 'नलदिल' और 'काव्यविमर्श' ग्रन्थों की रचना की। इसका अतिरिक्त इन्होंने 'गुणारण्यवर्षी' (सं० १८९२), 'गुणार धिरोमणि' (सं० १८९७) तथा 'अर्धकारचिन्तामणि' (सं० १८९९ वि०) की रचना की है। काव्य के प्रायः सभी भंगों पर इन्होंने प्रकाश डाल्य है और काव्य शक्ति के साथ ही साथ इनमें व्यापारसत्त्व की कमी नहीं थी। इसका अतिरिक्त सेवक का नायिका भेद पर 'वामिस्वयं' और बरतै छन्द में नलदिल, गिरधरदास का अर्धकारों पर लिखा 'भारती मूषन' तथा 'सरदार' का ऋतुओं पर ऋतुविन्यास ग्रन्थ 'वाहिन्युवाकर' आदि काव्य-शास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इस प्रकार रूपाराम से लेकर 'पद्माकर' के बाद तक हिन्दी काव्य-शास्त्र ग्रन्थों का निर्माण होता रहा है। हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा को स्पष्ट करने के लिये कालक्रम की सूची दे देना अनुचित न होगा।

संवत् (रचनाकाळ)	आचार्य कवि	संवत् (रचनाकाळ)	आचार्य कवि
१५९८	रूपाराम	१७०७ के लगभग	चिन्तामणि
१६१६	योग	१७१६ "	मतिराम
१६१६	मोहन लाल	१७३० "	मूषन
१६२०	मनोहर	१६९५	बचनवर्षिह
१६२०	संयामसाद	१६९१	दीपनिधि
१६३७	कनैस	१७२७	कुछरति मिश्र
१६४०	कम्मट्र मिश्र	१७४६	रेव
१६४०	रहीम	१७६८	सुरति मिश्र
१६५०	केदारदास	१७१७	धीपति
१६५०	मोहनदास	१७९९	मिरासीरास
१६५१	हरिराम	१७९४	छोम्नाप
१६५७	बाणभूषण	१७९६	खुनाप
१६६	मुबारक	१८७८	बेनीप्रवीण
१६७६	सीतापार	१८९७	पद्माकर
१६८८	सुन्दर	१८८९	प्रतापसाहि
१७००	सेनापति		

हिन्दी काव्य-शास्त्र का स्वरूप

पूरुब में ही कहा जा चुका है कि हिन्दी का काव्य एकदम-एकदमी इसमें में किसी प्रकार की मधीन उन्नापनायें नहीं की गयी हैं, बल्कि संस्कृत काव्य-शास्त्र के आधार पर

शास्त्रीय ज्ञान को सुलभ बनाने का प्रयत्न हिन्दी भाषावाची द्वारा हुआ है। यही कारण है कि हिन्दी में व्याचार्य और कवि का भेद मिटकर दोनों वर्ग एक ही व्यक्ति में आ गये जिससे हिन्दी का भाषावर्ग, कवि और व्याचार्य दोनों हैं। हिन्दी में काव्य-शास्त्र सम्बन्धी किसी भी सामग्री प्राप्त होती है उन्हें सुस्पष्टता भावपूर्णता में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो वे हैं जिनमें काव्य-शास्त्र के समस्त अधिकांश, या एकाग्र अङ्गों का वर्णन मिलता है। इन्हें ही वास्तविक काव्य-शास्त्र ग्रन्थ समझना चाहिये। किन्तु स्वल्प शास्त्रीय परम्परा के अभाव में दूसरे वे भी ग्रन्थ हैं जो केवल अर्थकार पर ही लिखे गये हैं। तीसरे प्रकार के ग्रन्थ केवल रसों के वर्णन के लिये लिखे गये हैं और चौथे वे ग्रन्थ हैं जिनमें केवल रङ्गार रस यानी नायिका अथवा दोनों का वर्णन पाया जाता है। हिन्दी के प्रत्येक शास्त्रीय साहित्य के कवियों एवं भाषावाची की प्रवृत्ति नायक-नायिका भेद तथा अर्थकार ग्रन्थ प्रस्तुत करने की ओर ही विशेष रही है। जिससे इन्हीं विषयों से सम्बन्धित अधिकांश रचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

नायक-नायिका-भेद सम्बन्धित ग्रन्थों की अधिकाधिक रचनाएँ इस काल में हुई हैं जिनमें अधिकांश ग्रन्थों में सहाय यश और कृष्ण का किया गया है, किन्तु वर्णन में प्रकीर्ण स्वीकृति ही है। इस प्रसंग की विस्तारपूर्वक चर्चा आगे मतिराम के नायिका-भेद प्रसंग में की जायगी।

अर्थकार शास्त्र

हिन्दी में काव्य-शास्त्र के नाम पर मुख्यतः अर्थकार शास्त्र की ही रचना की गयी है। अर्थकार शास्त्र के सम्प्रदाय का भी जहाँ तक हो सका है। यहाँ तक हिन्दी अर्थकार शास्त्र के ऐतिहासिक विकास का प्रश्न है उसे जानने के लिये अर्थकार शास्त्र के वास्तविक इतिहास को जानना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि हिन्दी में इस शास्त्र का मौखिक रूप से विकास नहीं हुआ है, बल्कि संस्कृत के अर्थकार शास्त्रों के आधार पर ही इसका विकास हुआ है। इस प्रसंग की चर्चा मतिराम के अर्थकार वर्णन के साथ की जायगी।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के प्रत्येकाल का आरम्भ ही एक प्रकार से अर्द्धकृत काव्यों का भी आरम्भ है। अपभ्रंश अथवा प्राचीन प्रयोगों से मुक्ति मिलने ही हिन्दी कविताओं का स्वाभाविक हृदय संस्कृत साहित्य की ओर हुआ जिससे प्रभावित होने के कारण संस्कृत के अर्द्धकृतकाव्यों का भी प्रभाव उसमें प्रत्यक्ष किया। कवियों की इस प्रवृत्ति कि संस्कृत साहित्य में अत्युत्तम सामग्रियों को हिन्दी कविताओं के माध्यम से सर्वश्रेष्ठ बनाया जाय, संस्कृत के साहित्य-शास्त्र ग्रन्थों को भी हिन्दी काव्य-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया। मुख्यतः दरबारी तथा सामन्तों की फेरकों में हिन्दी प्रबन्धकाव्यों तथा प्रबन्धमुक्तियों में पाई जाने वाली अर्द्धकृतकविता को अधिकाधिक प्रस्तावित देखकर अनेक अर्द्धकृत मुक्तियों की प्रवृत्तमात्रा में सुविधा होने में पूर्ण श्रम दिया और परिणामस्वरूप इस काल में हिन्दी कविताओं के माध्यम से जितनी भेद एवं संख्या में अधिक अर्द्धकृत काव्यों की सृष्टि हुई उसनी अर्द्धकृत कविताओं की सृष्टि आज तक सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में सब दिखकर नहीं हो सकी है।

काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों को ध्यान करके भी ग्रन्थ लिखे गये जिनमें कविशिक्षा, नामक-नायिका मेरू तथा अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण प्रमुख हैं। आचार्यत्व की अपेक्षा काव्यत्व की ओर आचार्य कवियों का ध्यान विशेष रहा जिससे कविशिक्षा अपभ्रंश नायिका मेरू के उदाहरणों में भी अलंकारों का ही प्राधान्य दिखाई पड़ता है। सहज स्वाभाविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का अभाव तो इस काळ में अवश्य दिखाई पड़ता है किन्तु मतिराम तथा घनानन्द आदि कुछ कवि ऐसे हैं जिनमें इसका निरन्तर अभाव नहीं है। महाकवि मतिराम में तो ग्रीढ़ आचार्य एवं सरस्व कवि के गुणों का अद्भुत सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है।



मतिराम ने अपनी रचनाओं में नहीं भी अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है और न ही ग्रन्थों में रचनाकार ही विधा है कि उसके आधार पर उनके जन्म तथा रचना-काल के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर सकें।

कवि की कृतियों से जब उसके जीवन-परिचय के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिल पाती तो हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि उसके समकालीन कवियों तथा कृतियों का अध्ययन करें क्योंकि अधिक सम्भव है कि दूसरे कवियों की रचनाओं में समकालीन होने के नाते हमें कुछ ऐसे प्रसंग मिल जायें जो उस कवि के जीवन पर प्रकाश डालते हों। इसके अतिरिक्त एक और भी महत्वपूर्ण स्रोत यह रहता है जिसके द्वारा कवियों के जीवन परिचय जाने जा सकते हैं, वह है राजाओं और सामन्तों का दरबार जहाँ हिन्दी के सम्प्रदायी कवियों को आश्रय मिलता रहा। कुछ को छोड़कर हिन्दी साहित्य के सम्प्रदायी प्रमुख कवि किसी न किसी दरबार की उपस्थिति में ही अपनी कृतियों का प्रकाशन करते रहे हैं और उनमें से अधिकांश ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ग्रन्थ भी रचे हैं। महाकवि मतिराम को भी आश्रय मिला था, जिसका परिचय उनकी कृतियों से मिलता है। उनके समकालीन कवियों की एक ही रचना ऐसी नहीं मिलती जिसमें कि मतिराम के जीवन पर प्रकाश पड़ता हो और जो मिलती भी है उनकी प्रामाणिकता पर अब तक सन्देह बना हुआ है। हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों को प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्न हो रहे हैं और हो सकता है कि भविष्य में कोई ऐसी रचना मिल जाय जिससे मतिराम के जीवन-सम्बन्ध में कुछ अधिक निश्चय का साथ कहा जा सके।

विद्वानों द्वारा उल्लेख

मतिराम की काव्य प्रतिष्ठा के कारण विद्वान् इस ओर आकर्षित अवसर रहे हैं इसमें सन्देह नहीं। जब कभी भी किसी विद्वान् ने हिन्दी के सम्प्रदायी कवियों अथवा इतिहास के सम्बन्ध में कुछ लिखा है तो 'मतिराम' का सम्मानपूर्वक नाम दिया गया है। मतिराम का सर्वप्रथम उल्लेख प्रसिद्ध कवि के रूप में 'गार्गा-व-ताली' ने अपने 'हिन्दी' के इतिहास में किया है।¹ 'ताली' के बाद का सबसे प्राचीन उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' का है जिसे आपत

MATIRAMA

Excellent poete Hindl a qui on doit le Race-Raja ouvrage cite par war-
rd et par colobrooke, et dont je possede un exemplaire en caracteres
Devanagari que je dois a l'antiquaire du savant et Zale secretaire de la So-
ciety de Calcutta M J Prinsep. Je Revierdrai. Dans mon second
Volume, Sur cet important ouvrage. p. 553.

मानकर घर जाई प्रियर्त्तन, मिश्रकपु, रामचन्द्र शम्भ आदि इतिहासकारों ने वर्णन किये हैं। 'शिवसिंह सरोज' को दो एक अन्य और ऐसे लेखने को मिले थे जिसमें 'मठिराम' विप वरु चर्चामें थीं किन्तु संकेत उन्होंने 'शिवसिंह सरोज' के उपक्रम में किया है। 'सरोज' कार को इतिहास लिखने की प्रेरणा भी 'मठिराम' के जीवन परिचय के सम्बन्ध में ऐसी भ्रान्तिवों से ही मिली, जिसे उन्होंने स्पष्टता स्वीकार किया है। स० १९११ में हमने दो एक अन्य भाषा कवि समी के जीवन चरित्र विषयक ऐसे ऐसे किन्तमें मठिराम इत्यादि ब्राह्मणों का प्रत्यक्षता ने लिखा है कि वे महापात्र भाट असनी क हैं और इसी भाँति बहुत ही बातें देख हमसे चुप नहीं रहा गया, हमने सोचा कि अब कोई अन्य ऐसा बनाना चाहिये जिसमें प्राचीन और नवीन कवि लोगों के जीवन चरित्र सहित सम्बन्ध और आदि, निवास और कविताई के प्राचीन समेत विस्तार पूर्ण होवे।^१ इस प्रचार उन्होंने प्रकाशित पुस्तकों की अपेक्षा जनश्रुतियों को अधिक महत्व देकर 'शिवसिंह सरोज' का निर्माण किया जिसमें उन्होंने लिखा है कि—

'मठिराम विपाठी टिकमापुर बिषा कानपुर क (स० १७१८ में स०) महापुरुष भाषा के आचार्यों में गिन जाते हैं हिन्दुस्तान में बहुधा बड़े राजा-महाराजों क इहाँ चारे चारे दिन रहे और राजा उगेरजन्द, कुमाऊ नरेश और माऊसिंह दादा छत्रसाल राजा फतेह शही और रामनुनाथ दुर्गकी इत्यादि के इहाँ बहुत दिनों तक रहे। 'संस्कृत-सम्पन्न' अक्षरकार प्रत्यक्ष राज माऊसिंह कौटा बाँके के नाम से बनाया और छन्दसार पियस प्येसिंह बुन्देस भीनमर के नाम से रचा और 'सरोज प्रत्य' नायिक-भेद का बहुत सुन्दर बनाया है।^२

शिवसिंह सरोज में मठिराम तथा उनके माइयों के सम्बन्ध में अनेक नई बातें लिखी गयी हैं। इसमें वह ठलेस मिथ्या है कि इनके पिता गुर्गापाठ करने निरत देवी जी के स्थान में जाते थे, वे देवी जी की स्तुति सुनवाई कहाती हैं। टिकमापुर से एक मील के अन्तर है। एक दिन महापुरुष राजेश्वरी प्रसन्न हैं चारि मुँह दिप्राय बोली यही सरे चार पुत्र होगे निरुज देवा ही हुआ कि १ चित्तामणि, २. भूपण, ३ मठिराम, ४ अद्यपि या मीठकंठ चारि पुत्र उत्पन्न हुए इनमें केवल नीलकंठ महापुरुष ही एक सिद्ध के आशीर्वाद से कवि हुए तीनो भाई संस्कृत काव्यों की पढ़ि ऐसे पण्डित हुए कि उनके नाम प्रसन्न तक काफी रहेगा।^३ चार्च प्रियर्त्तन ने शिवसिंह सरोज के वर्णन को अधिकतर आधार माना है। जिसके अनुसार 'मठिराम विपाठी टिकमापुर, बिषा कानपुर क (१६५०-१६८२ ई० के लगभग) उपस्थित थे। वह चित्तामणि विपाठी क भाई थे। यह एक दरबार से दूसरे दरबार में जाते रहे और प्रमथनीय जीवन बिताते रहे। इनके भेद्युक्त प्रत्य है— (१) 'संस्कृत-सम्पन्न' अक्षरकारसम्पन्नी प्रत्य जिसको इन्होंने बूँगी के राज माऊसिंह (१६५८-१६८२ ई० देखिये दाद, भाग २, पृ० ४८१, कसरता संस्करण भाग २, पृ० ५२०) के नाम पर छिरा। (२) 'छन्दसार'-भीनमर के प्येसिंह बुन्देस क नाम पर पिण्डप्रत्य

१ 'शिवसिंह सरोज' उपक्रम।

२ शिवसिंह सरोज, चौथा संस्करण, पृ० ७३२ ७३३।

३. वही, पृ० ३७५।

और (१) 'रसरत्न' (रामकल्याणम्) नामिका मेव ग्रन्थ । वे० गार्गा द वासी, माघ १, पू० १९११ ।^१

'सन् १८९२ ई० में कविधीर्ति कम्मनिधि (प्रथम कम्म) नामक पुस्तक नकसेर तिवारी कृत किन्का उपनाम 'अबान' कवि या, प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने कवियों का संक्षिप्त परिचय और विरचित ग्रन्थों की सूची दी है । इस पुस्तक में उन्होंने कवियों के नामों को स्याकर क्रम से रखने का प्रयत्न किया है, जिसमें मतिराम को ११६ वाँ स्थान दिया गया है और उनके सम्बन्ध में लिखा गया है कि 'मतिराम जिपाठी' चिन्तामणि के भाई टिकमाणुर कन्नपुर सम्वत् १७३८ ग्रन्थ १९ ।

'इचकौमुदी' नाम से किसी मतिराम कविकृत एक पुस्तक मागीरथ प्रसाद जी दीक्षित ने खोज निकाली है जिसके आधार पर उन्होंने जिपाठी बन्धुओं के सम्बन्ध में कुछ नई बातें कहनी चाही हैं जिसका समर्थन स्वामसुन्दर दास ने हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का 'संक्षिप्त विवरण' नाम से प्रकाशित एक पुस्तक की सूचिका में किया है, जिसका प्रथम सर्ग द्वारा खंडन मयाधकर जी पाक्षिक ने 'मतिराम और भूपल' नामक माधुरी पत्रिका में प्रकाशित एक लेख में किया है । मागीरथ प्रसाद जी दीक्षित के नवीन अनुसन्धानों के सम्बन्ध में स्वामसुन्दरदास ने लिखा है कि 'इस अनुसंधान के अत्यंत महत्वपूर्ण होने के कारण तथा इस सोच से अत्यन्त प्रचलित बातों का कैसे संशोधन होता है, इसे दिखाने के उद्देश्य से हम इस बात का उल्लेख यहाँ करते हैं ।' दीक्षित जी ने इस विवरण में दो नवीन बातों का उल्लेख किया है, वे हैं—(१) मतिराम, भूपल, नीलकण्ठ तथा चिन्तामणि परस्पर भाई नहीं थे, हिन्दी खतार में जो इन्हें भाई माना जाता है, यह गूढ़ है । (२) भूपल छत्रपति शिवाजी के रामकवि नहीं थे, किन्तु उनके पौत्र साहू जी के दरबार में थे । भूपल ने 'रसरत्न भूपल' शिवाजी के नाम पर बनाकर साहू जी को भेंट किया था ।^२ दीक्षितजी की इन सब बातों का आधार 'इचकौमुदी' ही है जिसमें उन्होंने मतिराम को बनापुर निवासी कस्तुरीजीव जिपाठी १० विस्वनाथ का पुत्र माना है । ११० मन्त्रकुमार देव शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'बीर केसरी शिवाजी' में चिन्तामणि, भूपल और मतिराम इन तीन ही माइयों का वर्णन किया है ।^३

'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबन्धुविनोद' मिश्रबन्धुओं द्वारा किसी दो ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें हिन्दी कवियों का परिचय दिया गया है । इन दोनों ही पुस्तकों में मतिराम के सम्बन्ध में लिखा गया है । 'हिन्दीनवरत्न' में मतिराम का सम्बन्ध में लिखा गया है कि

१. इ माहर्न धर्माधूकर छिदरेकर जाक हिन्दुस्तान—डा० सर आर्थर ग्रिवर्सन अनुवादक किशोरी लाल शर्मा (हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास) प्र० ६०, पू० १५४ ।
२. कविधीर्तिकम्मनिधि, अबान कवि, प्र० ६०, पू० १९ ।
३. माधुरी पत्रिका—'मतिराम और भूपल' नामक लेख से उद्धृत डॉ० पाक्षिकबन्धु (मयाधकर पाक्षिक, बीबनसंकर पाक्षिक, मयाधीशंकर पाक्षिक) आपाता ३० पू० सं०, पू० ७१५ ।
४. वही ।

'आप मूरख' के छोटे भाई और हिन्दी के परम प्रसिद्ध कवि हैं। आपका समय सं० १६९९ से १७७६ पर्यन्त समझ पड़ता है। इनके मुख्य ग्रन्थ 'छविच्छायाम', 'रसराज' और 'मतिराम सतसई' हैं। बूढ़ी दरबार ने राम-ग्रामादि से आपका मान किया^१। मिश्रबन्धु विनोद के अनुसार 'कविताकाश' १७१०। ये महाकवि टिकन्नापुर बिसा कानपुर-निवासी रखाकर बिपाटी के पुत्र और प्रसिद्ध कवि मूरख के सगे भाई, कान्यकुब्ज ब्राह्मण त्रिपाठी बंस में सं० १६७४ के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनका स्वर्गवास अनुमान से सं० १७७६ में होना समझ पड़ता है^२।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखते समय मिश्रबन्धु विनोद द्वारा प्रस्तुत की गयी सामग्री का सर्वाधिक उपयोग किया है जिससे उन्होंने मतिराम बिपयक बाते प्राक विनोदकार की स्वीकार कर ली हैं। उन्होंने लिखा है कि 'ये रीतिरसक के मुख्य कवियों में हैं और चित्तामणि तथा मूरख के भाई परम्परा से प्रसिद्ध हैं ये टिकन्नापुर (बिसा कानपुर) में सं० १६७४ के लगभग उत्पन्न हुये थे और बहुत दिनों तक जीवित रहे। ये बूढ़ी महाराज माऊविह के यहाँ बहुत कास तक रहे और ऊँची क आयस में अपना 'छविच्छायाम' नामक अष्टांश ग्रन्थ संवत् १७१६ और १७२५ के बीच बनाया। इनका 'छन्दसार' नामक पिंगल का प्रथम महाराज रामनाथ सोखंजी को समर्पित है। इनका परम मनोहर ग्रन्थ 'रसराज' किसी का समर्पित नहीं है। इसके अतिरिक्त इनके दो ग्रन्थ और हैं—'साहिबगार' और 'छात्रगृह'। बिहारी सतसई के दम पर उन्होंने एक मतिराम सतसई भी बनाई जो हिन्दी पुस्तकों की खोज में मिली है।^३

कृष्णविहारी मिश्र ने भी 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका में कवि के बंस का परिचय देते हुए लिखा है कि 'महाकवि मतिराम' के बंस आदि के बिपय में अब तक का मत प्रचलित है, उसका सारांश यह है कि ये चार सगे भाई टिकन्नापुर बिसा कानपुर के रहने वाले थे। चारों भाइयों का नाम मूरख, मतिराम, चित्तामणि तथा ब्यासकर है। इनके पिता का नाम रखाकर बी या और चारों पुत्र भी देवी बी के आशीर्वाद से हुए थे। मूरख बी ने देवी बी पर अपनी बिहारी सदाकर कवित्व शक्ति प्राप्त की थी। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इनका कल्प यौग में जन्म हुआ था, तथा ये 'त्रिपाटी' उपाधि से विभूषित थे^४।

अन्यप्रासिद्ध उपाध्याय हरिऔध ने लिखा है कि 'त्रिपाटी बन्धुओं में मतिराम और मूरख विशेष उल्लेख योग्य हैं। इनके बड़े भाई चित्तामणि थे और छोटे नरहरि उपाध्याय बदायूँसी'।^५ इजारीमसाह हिबेरी ने मतिराम के चार सहान्तर भाइयों को स्वीकार करते हुए रखाकर बिपाटी का उनका पिता माना है और लिखा है कि 'इतिहास में कानपुर बिले के टिकन्नापुर गौध निवासी रखाकर बिपाटी के सम्मान भाग्यनासी पिता बहुत कम होंगे। इनके चार पुत्र थे चारों कवि'।^६

१ संक्षिप्त हिन्दी नगर, मिश्रबन्धु—क सं०, पृ० १७७।

२ मिश्रबन्धुविनोद द्वितीय भाग—वि० सं०, पृ० ७३३ ७४।

३ मतिराम ग्रन्थावली, कृष्णविहारी मिश्र, मृ सं०, पृ० २१८।

४ हिन्दीभाषा और साहित्य का विकास, ज्योत्सनासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हि० सं०, पृ० ३५८।

५ इजारीमसाह हिबेरी, 'हिन्दी साहित्य' प्र० सं०, पृ० ३११।

परिचय

मतिराम के बंधपरिचय के सम्बन्ध में जो उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में मिलता है, बाद के अधिकार्य विद्वानों ने उसी आधार पर इनका बंध परिचय दिया है। मतिराम ने स्वयं अपने बंध परिचय के सम्बन्ध में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। परम्परा से मतिराम, भूषण, चिन्तामणि और जगन्नाथ कवच या नीलकण्ठ परस्पर सहोदर और वे रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र प्रसिद्ध हैं जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण त्रिक्वापुर गाँव (विष्णु धनपुर) के निवासी थे। पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि 'शिवसिंह सरोज' में मतिराम को चार माई माना गया है, जिसके आधार पर मिश्रकन्ध, रामकन्ध छक, कृष्णविहारी मिश्र, तथा बनारी प्रसाद द्विवेदी आदि किन विद्वानों ने उन्हें परस्पर माई माना है उन सब ने एक स्वर से रत्नाकर त्रिपाठी को त्रिपाठी कन्धुओं का पिता कहा है। रत्नाकर त्रिपाठी का पिता होना तथा उनका कान्यकुब्ज कस्यप गोपीय त्रिपाठी कवच या त्रिक्वापुर का निवासी आदि होना महाकवि 'भूषण' के एक दोहे से प्रमाणित होता है—

'तुम कनौज कुल कस्यपी, रत्नाकर सुत बीर,

बसत त्रिविक्रमपुर सदा रतिन-रतुबा-सीर।' (शिवराज भूषण)

उपरोक्त दोहे में स्पष्टरूप से भूषण ने अपने को कस्यप गोपीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण रत्नाकर का पुत्र स्वीकार कर लिया है। इसी दोहे के आधार पर कहा जा सकता है कि मतिराम 'भूषण' के सगे माई होने के नाते रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे।

'भूषण' के उपरोक्त बंध परिचय सम्बन्धी दोहे का पाठान्तर प्रस्तुत करके विस्मनाथ मिश्र ने 'रत्नाकर' के स्थान पर 'रतिनाथ' को 'भूषण' का पिता कहा है और अन्त में यह धर्माधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है कि हो सकता है 'रत्नाकर' और 'रतिनाथ' में एक नाम उर्ध्वनाम ही। वह होता उन्हें 'अधिराज' के सं० १८१८ बाकी ग्रंथि में मिले है—

'हिम कनौज कुल कस्यपी रतिनाथ को कुमार।

बसत त्रिविक्रम पुर सदा धमुना कट सुठार।'।

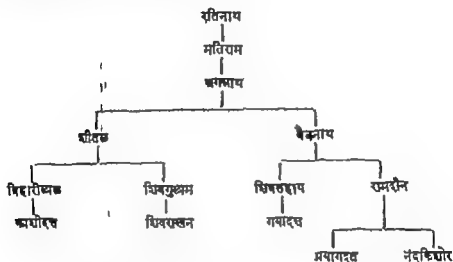
'इस दोहे के अनुसार इनके पिता का नाम रतिनाथ था। मतिराम के पिता का नाम भी रतिनाथ था, ऐसा मतिराम के बंधों के परिचय से पता चला है'।^१ इसके समर्थन में विस्मनाथजी ने मतिराम के बंधाव शिवसहाय तिवारी आदि द्वारा मिलित उनके बंधपरिचय को उद्धृत किया है^२।^३ ये लोग मधुरा की तीर्थ यात्रा करने गये थे और

१ विस्मनाथ प्रसाद मिश्र, 'भूषण' प्र० सं०, पृ० ९१।

२ शिवसहाय, श्री माई बिहारीकाक तथा शिवगुलाम तथा रामदीन। शिवसहाय का बेटा दुह, शिवसहाय व रामदीन, सीतकण्ठ के बेटा दुह, बिहारीकाक व शिवगुलाम। जगन्नाथ के भाई मतिराम कवि के पत्नी, रतिनाथ के परपत्नी। शिवसहाय के बेटा गणपद, रामदीन के बेटा दुह गणपद व बन्धुकिशोर, बिहारीकाक के बेटा कासीदत्त, शिवगुलाम के बेटा शिवराजगण तिवारी गृहर पुर के सुकवास त्रिक्वापुर-परा बीरबकक अकबरपुर, सं० गढ़पुर पहाड़ी कुशाग्रपुर। सं० १८९९ भादो सु० ८।

विस्मनाथ प्रसाद मिश्र 'भूषण' प्र० सं० पृ० ९०।

प्रमाणानुसार उन्होंने खीचों की बही (कन्हैयालाल छानखान, मानिक चौक-मथुरा—कनौजियों के मुँह) में अपना बंशपरिचय अपने ही हाथों लिखा है । जिसके परिचय की प्रतिक्रिया विद्वानायजी को १० जवाहरलालजी पटवर्धन द्वारा प्राप्त हुई है । इस आधार पर उन्होंने मतिराम का बंश वृक्ष बनाया है :—



उपरोक्त बंश के विहारीलाल बड़े अच्छे काव्य मर्मज्ञ हुए हैं । जिन्होंने प्रसिद्ध विष्णु लठरई पर 'रत्नचन्द्रिका' नाम से टीका की है । विहारीलाल ने भी अपना बंशवृक्ष दिया है वह उपरोक्त बंशवृक्ष से मेल खा जाता है—

‘बसंत त्रिविक्रमपुर नगर, कालिणी क'रीर ।
 विरण्यो भूप हमीर जनु, मध्यदेश को हरि ॥
 भूपन चितामनि तहाँ कवि भूपन मतिराम ।
 भूप हमीर सनमान ते कीन्हें निज निज धाम ॥
 हे पती मतिराम क, सुप्रति विहारीलाल ।
 जगन्नाथ नाती निदित, शीतल-भुव भुमचाळ ॥
 कस्यप बंस कनौजिया, निदित जियसी गेख ।
 कविपुत्र के बंस में, कविद भुमति उदित ॥’ (रत्नचन्द्रिका)

रत्नचन्द्रिकाकार को ही यदि हम रतिनाथ के बंश का मान लें तो भी कई बातें लक्ष नहीं होती । प्रथम तो शिवरत्नहास आदि द्वारा छिद्रित बंश-परिचय में चिन्तामणि और भूपन ऐसे प्रसिद्ध कवियों का नाम नहीं आया है और न ही विहारीलाल के बंश परिचय में मतिराम क पिता का नाम दिया है । इसका अतिरिक्त यह अवसर ही यह जाता है कि भूपन, मतिराम तथा चितामनि परस्पर भाई से अलग नहीं । इसकी जर्जा अग्रे को आयेगी । प्रतिक्रियाओं में पाठान्तर मिलने का कारण प्रतिक्रियाकार हैं । यदि उपनाम बाधे

विश्वनाथ की कही कस्यना मानें। त्यों भी रखाकर त्रिपाठी को ही मतिराम का पिता कहना उचित जान पड़ता है क्योंकि प्रामाणिक प्रमाणिक नाम रखाकर ही रहा होगा और यदि 'रति-नाथ' नाम रहा होगा भी तो घर का कुलने वाला नाम रहा होगा क्योंकि यह नाम पंडों की वही में है जो धर्ममीर इनके वंशजों का किया हुआ है। घर का परिवार में जोना पुकारने बाधे नाम से ही परिचित रहते हैं।

भागीरथ प्रसाद दीक्षित ने 'मतिराम को' विश्वनाथ का पुत्र कहा है जिसके लिए उन्होंने 'हृत्तकौमुदी' नामक पुस्तक से मतिराम कविकृति वंश परिचय उद्धृत किया है—

तिरपाटी बनपुर बर्से, वत्सगोत्र मुठि रोह ।

विशुध सक्रमधि पुत्र तई, गिरिधर गिरिधर देह ॥

भूमिदेव सक्रमद्र कुल, नितहि तनुव सुनि-यान ।

मंडित पंडित-मंडली, मंडन मही महान ॥

सिनके तनय उदार मति, विश्वनाथ दुम नाम ।

हुतिधर भुतिधर को भुतुव, सक्रम गुननि को धाम ॥

ठासु पुत्र मतिराम कवि, निब मति के भुतुवार ।

सिंह स्वल्प सुबान को, बरनो मुख अवार ॥

(हृत्तकौमुदी)

अतः वंशवृक्ष इस प्रकार होगा—



इस वंशवृक्ष को प्रामाणिक जानकर विश्वनाथ को मतिराम का पिता इसलिये नहीं माना जा सकता कि पुस्तक अनेक दृष्टियों से अप्रामाणिक है जो भूषण तथा चिन्तामणि के माई मतिराम की कमी भी छिपी नहीं हो सकती, जिसकी कर्मा आगे विस्तार-पूर्वक की जायगी। किसी भी मास कामग्री से इस पुस्तक के वंशपरिचय का मेक नहीं लाता। अतः जब तक और कोई प्रामाणिक ग्रन्थ न मिल जाय, रखाकर त्रिपाठी को ही मतिराम का सोभाम्यथाकी पिता मानना चाहिये।

१. 'रतिनाथ और रखाकर'। हस्तलिखितों में पाठ ही जिन्हें हैं और यह संभावना नहीं है कि 'रतिनाथ' का स्थानापन्न 'रखाकर' यह हो सके या इसका विपर्यय। अतः दोनों के सम्बन्ध में यह कस्यना की जा सकती है कि एक नाम और दूसरा उपनाम। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भूषण, १९ सं०, पृ० १०५।

जन्म तथा कविताकाळ

मतिराम के जन्म तथा कविता काळ के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्रियों की संगति अथवा असंगति की विवेचना करने के पूर्ण आवश्यक ज्ञान पड़ता है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा दी हुई विधियों की साक्षिका प्रस्तुत की जाय जिससे आगे विवेचना करते समय समझने में विशेष सुविधा होगी।

लेखक	ग्रन्थ	संस्करण तथा पृष्ठ	जन्मतिथि
शिवसिंह सैंगर	शिवसिंह सरोज	बी सं०, पृ० ४३२	सं० १७३८ में ठ०
सर जार्ज ग्रियर्सन	हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास	अनु. किशोरीलाल गुप्त प्र० सं०, पृ० १५७	१६५०-१६८२ क अग्रिम उपरिपठ
नरसिंह तिवारी	कविकीर्ति कम्पनिधि	प्र० सं०, पृ० १६	सं० १७३८
मिथबन्धु	सं० हिन्दीनवरत्न	च० सं०, पृ० १७७	सं० १६९६-१७७३
मिथबन्धु	मिथबन्धुविनोद हि० भा० हि०	सं०, पृ० ४४४	सं० १६७४ के अग्रिम अनुमान से।
रामचन्द्र झा	हिन्दीसाहित्य का इतिहास	सं० २००३ हि० सं०, पृ० २५२	सं० १६७४
हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य	प्र० सं०, पृ० ११३	सन् १६९३ ई० पूर्व भूषण से उमर में बड़े।
कृष्णबिहारी मिश्र	मतिराम ग्रन्थावली	तृ सं०, पृ० २३०	सं० १६९० के आसपास
याज्ञिक बन्धु	माधुरी पत्रिका	१ जुलाई १९२४ ई०	सं० १६९४ क अग्रिम
(मयाचंकर याज्ञिक, वीरनचंकर याज्ञिक, महालीचंकर याज्ञिक)		पृ० ७३८ सन् १६९७ ई०	
नागरीमचारिणी तथा ओज रिपोर्ट		पृ० १४४ (सन् १९१२-१३-१४)	

उपरोक्त विवरण से महाकवि मतिराम के जन्मकाळ के सम्बन्ध में मिलने वाले मतभेदों का अनुमान लगाना आ सकता है। शिवसिंह सरोज में जन्मकाळ न देकर उपरिपठ काळ दिया गया है जिसे नरसिंह तिवारी ने जन्मकाळ मान लिया है और जार्ज ग्रियर्सन ने उपरिपठ काळ दिया है। रामचन्द्र झा का आधार मिथबन्धु विनोद है और मिथबन्धुओं ने मतिराम का जन्मकाळ अनुमान कर लिया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल यह कहकर कि मतिराम भूषण से उमर में बड़े थे इस विवाद को टाल दिया है। द्विवेदी जी का 'हिन्दी साहित्य' सन् १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ जबकि कृष्णबिहारी मिश्र की 'मतिराम ग्रन्थावली' निम्नलिखित सूची की जिसमें मतिराम का जन्म वर्ष १६९० के अग्रिम माना गया है जिससे ये महाकवि भूषण से उमर में बड़े ठहरते हैं। इसके अतिरिक्त मयाचंकर याज्ञिक तथा उनके बन्धुओं ने १ अगस्त, १९२४ ई० की माधुरी पत्रिका में एक संयुक्त लेख 'मतिराम और भूषण' नाम से लिखा जिसमें उन लोगों ने शिवाजी बन्धुओं (चिन्तामणि, मतिराम 'भूषण' तथा बदायूँकर या मीरकट) के जीवन तथा वंश परिवार पर गम्भीर एवं खोजपूर्ण विचार

किया है। यह लेख बा० भगमसुन्दरदास जी के एक लेख की प्रतिक्रिया में लिखा गया है जिसमें बाह्यिक बन्धुओं ने स्वीकार किया है। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'इत्थस्मिन्निव हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नामक पुस्तक का बाबू भगमसुन्दर दास ने सम्पादन किया है जिसकी भूमिका में उन्होंने ने पण्डित मागीरस प्रसाद कीर्तित का लिखा हुआ एकमत उद्धृत किया है और उसके प्रति किसी अंध तक आस्था भी प्रकट की है जिसमें त्रिपाठी बन्धुओं के सम्बन्ध में प्रकाशित बातों पर प्रकाशवाची चिन्ह डवाने गये हैं जिसकी चर्चा आगे की जायगी। बाह्यिक जी ने उठाई गयी भ्रान्तियों का खोरदार हाथों में सम्बन्ध किया है जिसमें उन्होंने 'भूप' का कर्म संवत् १९७४ के अग्रिम माना है। उन्होंने लिखा है कि 'इसके विरुद्ध आशंक करने की आवश्यकता नहीं है। हमने सुदृढ़ प्रमाणों से सिद्ध किया है कि भूप संवत् १७१४ से पहले कविता करते थे और उनका कर्म संवत् १७१८ नहीं, १९७४ क अग्रिम है।'। इसके अतिरिक्त 'बाह्यिक' जी ने मतिराम का कर्मकांड संवत् १९९४ के अग्रिम स्वीकार किया है जिससे ये 'भूप' से उमर में बड़े हुए। इस लेख का प्रभाव 'मतिराम प्रत्यावलीकर' पं० कृष्ण बिहारी मिश्र पर भी अवलम्ब पड़ा है और वे दोनों मत 'हिन्दी साहित्य' कर का 'इचारी प्रसाद द्विवेदी के सम्मुख थे, जिससे उन्होंने अपने पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्यकारों के मतों के प्रतिकूल 'मतिराम' को उमर में 'भूप' से बड़ा स्वीकार कर लिया है। प्रायः इत्थस्मिन्निव पुस्तकों की प्रामाणिकता भी जब तक असंदिग्ध न हो जाय तब तक उनमें उल्लिखित तिथियों पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में मतिराम की रचनाओं में आये उनके आत्मवृत्ताओं के ऐतिहासिक तथ्यों का ही आचार बच रहता है किन्तु सहायता से महाकवि मतिराम के कर्म तथा कविताकांड का अनुमान लगाया जा सकता है।

'फूल-मंजरी' नामक एक छोटी सी पुस्तक 'मतिराम' की रची कठकाई वाली है जिसका उल्लेख कृष्णबिहारी मिश्र व जी 'मतिराम प्रत्यावली' की भूमिका में किया है^१। जो मयाचंकर जी पालिक को अमृतपुर-राज्य में मिली है^२। इस पुस्तक के आधार पर विद्वानों ने कवि क कविताकांड तथा कर्मकांड का अनुमान लगाया जा रहा है। 'हिन्दी नवरत्न' लिखते समय वह पुस्तक मिश्र बन्धुओं के सम्मुख नहीं आ पाई थी क्योंकि यह बाह्यिक बन्धुओं द्वारा बाद में प्रकाश में आई गयी। वही कारण है कि उन्होंने 'मिश्रबन्धु विनोद' से १२ वर्ष बाद कर्मकांड अनुमान से माना है और 'मिश्रबन्धु विनोद' क प्रकाशन तक 'फूल-मंजरी' का अस्तित्व हिन्दी साहित्य के सम्मुख प्रकट हो चुका था। 'फूल-मंजरी' का अस्तित्व हिन्दी साहित्य के सम्मुख प्रकट हो चुका था। फूल मंजरी के अन्तिम दोरे से विदित होता है कि वह पुस्तक बादशाह जहाँगीर की मेरवा से बनाई गई थी—

'हुकुम पाव जहाँगीर को, नगर आगरे धाम,
फूलन की माख करी, प्रति तो कवि मतिराम।'

१. माधुरी पत्रिका (वर्ष ९, अंक २, ९ जुलाई १९२४ ई.)।

२. मतिराम प्रत्यावली, पृ० सं०, पृ. २२८।

३. माधुरी पत्रिका ९ जुलाई १९२४, पृ० सं० ७२७।

उपरोक्त ग्रन्थ में साठ दोहे हैं जिसका प्रत्येक दोहा एक-एक फूल के नाम पर है, जिसमें उक्त फूल के साथ नाविका का या तत्सम्बन्धी वर्णन है। जहाँगीर की मृत्यु संवत् १६८३ ८४ में हुई थी। इससे यह स्वीकार करना होगा कि यह रचना संवत् १६८४ या पूर्व की है। याज्ञिक जी के अनुसार यह ग्रन्थ इतना साधारण है कि कवि की आरम्भिक रचना जान पड़ती है, जिस आधार पर उन्होंने उस समय कवि की अवस्था कम से कम २१ वर्ष की अनुमान से मानी है। इस प्रकार मतिराम का जन्म लगभग संवत् १६६४ या पूर्व ठहरता है। कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है कि कम्मररचना की एक विशेष भाव होती है जिसका आरम्भ न तो उसके पूर्व हो सकता है और न तो उसके बाद कविता करने की शक्ति रह जाती है। इसी आधार पर जहाँगीर ने 'फूलमयी' के आधार पर अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। भागीरथ प्रसाद दीक्षित ने जिस 'हुतकामुरी' का पता दिया था उसका रचनाकाल संवत् १७१८ है। यदि मतिराम का जन्म स. १६६२ या १६६४ मान लें तो 'हुतकामुरी' की रचना के समय कवि की अवस्था ९८ अथवा ९४ वर्ष की हो जाती है। ९ या उसके ऊपर की अवस्था में कम्मर-रचना की सामर्थ्य नहीं रह पाती ऐसा बहुधा विद्वानों का मत है। अतः, जो हुतकामुरी का 'मतिराम' की रचना मानते हैं वे मतिराम की जन्म तिथि १६६१-१६६४ से बहुत आगे खींच ले जाते हैं। दूसरी ओर याज्ञिक जी और कृष्ण-बिहारी मिश्र हुतकामुरी की मतिराम की रचना स्वीकार नहीं करते और फूलमयी का उनकी मामाविक रचना मानकर मतिराम की जन्मतिथि स. १६६० और १६६४ मानते हैं। मिश्रबन्धु न तो फूलमयी को मतिराम की रचना मानते हैं न तो हुतकामुरी को ही। इसी कारण उन्होंने मतिराम का जन्मकाल स. १६७४ और १६९६ स्वीकार किया है।

फूलमयी का आरम्भ आगरे में अवसर ही किसी विशेष अवसर पर हुआ होगा, जिसे अनुमान से कृष्णबिहारी मिश्र ने जहाँगीर के शासन-काल का १६वें सुदृष्टी वर्ष माना है, जिसे जहाँगीर ने बड़ी प्रशंसा से मनाया था और उसपर की बिन शृंगाररामप्रियों की चर्चा जहाँगीर नामा में मिलती है उनमें 'नूरअफ़्ता बाग' की भी चर्चा है। हो सकता है बाराहाईमन पुष्पी के टीपण्य पर लट्ठू हाकर कवि 'मतिराम' का कम्मर-रचना के लिये प्रेरित कर बैठा हो और 'फूलमयी' की रचना इसी समय हुई हो तथा पुस्तक में बिन फूलों का वर्णन आया है वे इसी 'नूरअफ़्ता बाग' के हो। इससे यह हो स्पष्ट हो ही जाता है कि महाकवि 'मतिराम' का जन्मकाल स. १६६० के पूर्व नहीं है। सफ़ता क्योंकि १८ वर्ष से कम वय के व्यक्ति का काव्यपुस्तक लिख सकना सम्भव नहीं बैठता।

१ 'मापुरी पत्रिका', ९ छ०, १९१७, पृ० सं० ७३०।

२ उपचार को वेगम के साथ भाव में बैठकर हम नूरअफ़्ता बाग में गये और रात्रि में बही रहे। यह बाग नूरअहो वेगम के अधिकार में था इसलिये गुप्तार अभी का उससे बाही जलसा किया और माती भेंट उपस्थित की। भेंट लिये हुए राजों, बहादुर आमूजों तथा अन्य बहुमुख्य वस्तुओं में से हमने एक कागज कपड मूल्य की बरतुर्द पसन्ध कर ली।

(जहाँगीरनामा-सोहबर्हो जलसी वर्ष, पृ० ७१०, अनुबादक मजराह्मद, प्र० सं०)।

‘रसराज’ को छोड़कर क्योंकि इसमें रचनाकाळ नहीं दिया गया है। शेष किन्ति किसी पुस्तकों में रचनाकाळ मिश्रता है वे इसके बाद की हैं। ‘हुतकौमुदी’ ऐसी रचना है जिसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इसे ‘मठिराम’ ने लिखा था जिसकी सर्वा आगे की जायगी। यदि उसे भी ‘भूषमबरीक्षर’ की रचना मान लें तो इसकी रचना कवि ने १४ १५ वर्ष की उमर हो जाने के पश्चात् कि जिसे ‘भूषम’ के सम्बन्ध में ‘हुतकौमुदी’ के समर्थक पण्डित मानीरथ प्रसाद दीक्षित स्वयं असम्भव मानते हैं कि १० वर्ष के बाद उत्तम रचना की जा सके। यदि भूषम १० वर्ष तक ओजस्विनी कविता नहीं लिख सकते तो ‘मठिराम’ कैसे उत्तम कविता लिख सकते हैं।

‘मठिराम’ का कविता-काळ निश्चित करने में ‘हुतकौमुदी’ किसी भी दृष्टि से सहायक नहीं हो सकती। ‘भूषमबरी’ की रचना बहोलीर के १६वें जसवी वर्ष पर या उसके पश्चात् हुई होगी जो सम्यक् १९७८ अर्थात् सन् १९२१ ई० में मनाया गया था। किन्तु इनका कविताकाळ सन् १९२१ ई० के पश्चात् ही मानना चाहिये। अतः इनका कम सम्यक् १९३० और सम्यक् १९३४ के बीच अवया सन् १९०५ ई० के लगभग हो सकता है।

‘महाकवि मठिराम’ की कृतियों को देखकर ऐसा ध्यान पड़ता है कि इन महाकवि को दीर्घायु मिली थी और बहुत दिनों तक वे अपने काम-काज से हिन्दी काम का क्रोश करते रहे। मिश्रबन्धुओं ने अपने ‘मिश्रबन्धु विनोद’ में मठिराम का परमोत्कृष्ट अनुमान से सं० १७७१ माना है^१। इस प्रकार ये १०९ वर्ष के होकर परमोत्कृष्ट हुए। १९ वर्ष की उमर पाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है किन्तु मिश्रबन्धुओं ने जिस आधार को मानकर इनका रचनाकाल संवत् १७१० और मृत्युकाळ संवत् १७७१ मान लिया है वह किसी भी प्रकार बड़ नहीं जान पड़ता। ‘रसराज’ को ‘अक्षितसमाम’ के बाद की रचना मानकर मिश्रबन्धुओं ने इनके मृत्युकाळ को आगे बढ़ा दिया है किन्तु ‘रसराज’ की रचना ‘अक्षितसमाम’ के बाद की नहीं बल्कि पहले की जान पड़ती है जिसकी सर्वा हम आगे करेंगे। इसी प्रकार ‘मठिराम सतसई’ के सम्बन्ध में भी हमों का कहना है कि यह सब ग्रन्थों के बाद बनी किन्तु इसमें भी शक्यता का अंश नहीं है। ‘मठिराम सतसई’ के दाहों की रचना एक साथ नहीं हुई होगी, वे दाहे विभिन्न समय की रचनाएँ हैं जिनमें से अधिकांश युवाकाळ में रचे जान पड़ते हैं। ‘यव मातु सिह’ का स्वर्णनाथ संवत् १७४५ में हो गया जिनके जिये ‘अक्षितसमाम’ की रचना हुई थी और इसके पश्चात् ‘मठिराम’ का बूँदी राज्य में रहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस राजाधन्य के समाप्त हो जाने के पश्चात् उन्होंने अर्धकाल पंचाधिका को छोड़कर कुटुम्ब दोहे भले ही लिखे हों जो ‘मठिराम सतसई’ में

१. दीक्षितजी ने स्वयं ही भूषम के विषय में लिखा है। भूषम को महाराज शिवाजी के दरबार का राजकवि मानने से उनका कविताकाळ १० वर्ष से अधिक बढ़ता है। परन्तु इससे समय तक कविता करना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

—माधुरी पत्रिका, १ जुलाई, १९२७, पृ० सं० ७३०-३८।

२. मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय संस्करण, पृ० ७७७।

बोझ दिये गये हों किन्तु किसी अन्य ग्रन्थ का प्रमाण नहीं मिलता । जिससे संवत् १७७३ तक निष्क्रिय रहकर बीमे की बात नहीं आँखती । उनकी मृत्यु ८ या १० वर्ष बाद अवश्य हो गई होगी जिससे संवत् १७६० अथवा संवत् १७०३ ई० के बाद का न होना चाहिये ।

‘अर्धकार पंचाधिक’ ही उनकी एक ऐसा ग्रन्थ जान पड़ता है जिससे सबसे बाद की रचना कही जा सकती है । कवि ने इसे कुमार्यु के राजा उद्योतचन्द के पुत्र ज्ञानचन्द के लिये लिखा था । उद्योतचन्द का राज्यकाल संवत् १६७८ से संवत् १६९८ तक अथवा सं० १७१५ से सं० १७५५ तक माना जाता है ।^१ इस बीच मतिराम का कुमार्यु के राजाभय में रहना एक प्रकार से निश्चित है । ऐसा भी माना जाता है कि मतिराम सतारा गढ़ साहू महाराज के राजकवि थे और वहीं से कुमार्यु आये । इस प्रसंग में उन्हें मतिराम नहीं बल्कि मनिराम नाम से सम्बोधित किया गया है । इसकी क्या आगे की जायगी कि वे मनिराम नहीं बल्कि महाकवि मतिराम हो ईं जो प्रमत्त करते सतारागढ़ से कुमार्यु पहुँचे हैं । हो सकता है कि सं० १७४५ के पश्चात् राजा माऊ सिंह के स्वर्गवासी हो जाने पर मतिराम बौंदी से सतारागढ़ चले आये हों वहाँ भूपन के रहने का उल्लेख मिलता ही है और वहीं से कुछ दिनों बाद राजा उद्योतचन्द के आश्रय में आये । ‘अर्धकार पंचाधिक’ ज्ञानचन्द को अर्धकारों की शिक्षा देने के लिये ही बनी अथवा उसे कवि ने ज्ञानचन्द का सम्मानार्थ लिखा कुछ भी स्पष्ट नहीं होता । दोनों ही परिस्थितियों में वह ज्ञानचन्द के राजा होने के पूर्व बनी होगी ऐसा जान पड़ता है क्योंकि पिता के शासन-काल में ही वे यशस्वी हो गये थे जिसकी विस्तार पूर्वक चर्चा अर्धकार पंचाधिक की प्रामाणिकता के प्रसंग में की जायगी । अतः सं० १७५५ तक अर्धकार पंचाधिक निम्न हो चुका था जिसके बाद की कोई ऐसी सामग्री नहीं मिलती जिसके आधार पर उनकी मृत्यु-तिथि का अनुमान लगाया जा सक । मतिराम के जीवन रहने की तिथि की अधिक से अधिक सं० १९५५ तक ले जाया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि वे महाकवि ९३ वर्ष तक जीवित रहे । अतः ९३ वर्ष से अधिक आयु मतिराम को मिली होगी, लीकार करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता ।

महाकवि मतिराम के सहोदर

इसपर कुछ दिनों से ऐसा भी कहा जाने लगा है कि चिन्तामणि, भूपन, मतिराम तथा बगलकर परस्पर भाई नहीं थे । जिसका संकेत हमें छत्र की के इतिहास में भी मिल जाता है । यद्यपि उन्होंने चिन्तामणि और मतिराम के सहोदर होने पर किसी भी प्रकार का संदेह नहीं प्रकट किया है जिससे उनके कथन के आधार पर अन्य भाई भूपन के सम्बन्ध में ही विवाद जान पड़ता है । उन्होंने लिखा है कि ‘कुछ दिनों से यह पिता’ सत्रया गया है कि भूपन न तो चिन्तामणि और मतिराम के भाई थे, न पिताजी के दरबार में थे ।^२ चिन्तामणि,

१ ‘कहत है कि सतारा गढ़ साहू महाराज के राजकवि मतिराम राजा के पास अन्तार्थ में आये थे । उन्होंने राजा को प्रार्थना में यह कविता बनाकर राजा को सुनाया । राजा ने १० ०) तथा एक हाथी इनाम में दिये ।

कुमार्यु का इतिहास बहरीदूत पक्षे, पृ० २०३ ।

२ रामचन्द्र कुपक, हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० २ ३ वि०, पृ० १७९ ।

भूपग, मतिराम और बटाघाँकर या नीलकण्ठ को परस्पर माई न मानने बाधों में मासीरय प्रसाद दीक्षित का नाम प्रमुख है। उन्होंने कहा है कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों को ज्ञान 'शिवसिंह सरोज' के कारण हुआ है। किन्तु शिवसिंह सरोज से पूर्व के रचे गये ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं बिनासे कम से कम इतना तो मिला ही जाता है कि चित्तामणि और मतिराम सहोदर थे।

त्रिपाठी कन्धुओं के सहोदर न होने की भी बात सटाई गयी है उसके मूल में उनके जन्म तथा रचनाकाळ सम्बन्धी प्राप्त विधियों का अनिश्चित होना ही है। प्राप्त वृत्तों के प्रति सन्देह प्रकट किये जाने के कारण ही उनके परस्पर छोटे तथा बड़े होने के सम्बन्ध में विभिन्न मत सामने आये हैं। चित्तामणि के पश्चात् भूपग तथा मतिराम और बटाघाँकर का सबसे छोटा होना परम्परासिद्ध है। इसके प्रतिकूल कुछ विद्वानों ने चित्तामणि के पश्चात् मतिराम का होना स्वीकार किया है। ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने 'भूपग' को सबसे बड़ा और चित्तामणि को सबसे छोटा माना है बिनाही विवरण सभी सुविधा के लिये नीचे प्रस्तुत की जा रही है। कुछ उत्काक्षीन प्राचीन ग्रन्थों के प्राप्त हो जाने के कारण इस निर्णय पर भी पहुँचा गया है कि नीलकण्ठ या बटाघाँकर त्रिपाठी कन्धुओं में से नहीं थे।

परस्पर माई का न होना—

प० मासीरय प्रसाद की दीक्षित (हृषीकेश्वरी के आचार पर)

बटाघाँकर या नीलकण्ठ माई नहीं थे—

सर्वमस्त—(बंशमास्कर)

कल्याणम मेहता—(पराक्ष्मी हावाराय)

मुँची बेबीप्रसादजी—मुँछि बाघपुर

विहारीसहस्रजी—(रसचंद्रिका टीका)

गुणामस्तकी (तत्त्वकिया सर्व आवाद हिन्द)

प० कृष्णविहारी मिश्र, मतिराम प्रभावल्ली की भूमिका।

साहित्य कन्धु, माधुरी पत्रिका ९ जुलाई, १९२४ ई०।

(मयाघाँकर याज्ञिक), (बीबनघाँकर याज्ञिक), (मयानीघाँकर याज्ञिक)।

बटाघाँकर मतिराम के माई थे अथवा नहीं तथा उनके अन्य भाइयों के परस्पर बड़े छोटे होने आदि के सम्बन्ध में कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों के मत इतक हैं जिन्हें हम उनके दिये हुए ज्ञान के अनुसार देते हैं—

१—सर्वमस्त (बंशमास्कर)

भूपग, मतिराम, चित्तामणि

२—कल्याणम मेहता (पराक्ष्मी हावाराय)

भूपग, मतिराम, चित्तामणि

३—मुँची बेबीप्रसादजी (मुँछि)

भूपग, मतिराम, चित्तामणि

४—हरिदान (रसराज की टीका, मनोहर प्रकाश, सं १९५२ का छाप)

चित्तामणि, भूपग मतिराम, बटाघाँकर

५—शिवसिंह (शिवसिंह सरोज)

चिन्तामणि, भूपय, मतिराम, बदायँकर ।

६—पं० नन्दकुमार देव शर्मा (बीर केसरी शिवाजी)

चिन्तामणि, भूपय, मतिराम

७—पं० रामचन्द्र झा (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

चिन्तामणि, भूपय, मतिराम, बदायँकर

८—पं० कृष्ण बिहारी मिश्र (मतिराम मन्थाबली की भूमिका)

चिन्तामणि, मतिराम, भूपय

९—साहित्य कव्यु (मयाधँकर साहित्य, बीबनधँकर साहित्य, मरानीधँकर साहित्य),

माधुरी पत्रिका, ९ जुलाई, १९२४ ई० ।

१०—डा० इन्दारीप्रसाद त्रिवेदी (हिन्दी साहित्य)

चिन्तामणि, मतिराम, भूपय, बदायँकर ।

११—नायरी प्रचारिणी सभा (खोब रिपोर्ट—१९००)

मतिराम के तीन भाई चिन्तामणि, भूपय और बदायँकर उपनाम नीकण्ठ थे ।^१

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ विद्वानों ने बदायँकर या नीकण्ठ को मतिराम का भाई माना ही नहीं है, कुछ ने मतिराम को सब भाइयों से बड़ा तथा चिन्तामणि को सबसे छोटा स्वीकार किया है और कुछ ने उन्हें चिन्तामणि से छोटा और भूपय से बड़ा माना है । इसके अतिरिक्त प्रचलित परम्परा के आधार पर ऐसा कि कई विद्वानों ने स्वीकार किया है चिन्तामणि तथा भूपय के बाद मतिराम का मन्थर आता है । प्रायः ऐसा मन्थरा है कि विन विद्वानों ने चिन्तामणि, मतिराम, भूपय तथा बदायँकर चारों को परस्पर सहोदर स्वीकार किया है उन सभी ने चिन्तामणि को चारों में बड़ा अवश्य स्वीकार किया है । इस स्वीकार का आधार और मुख्य कारण शिवसिंह का 'शिवसिंह सरोज' है जिसमें उन्होंने 'मतिराम' के अग्य तीन पड़ोसी सहोदर तथा उनमें चिन्तामणि को सबसे बड़ा स्वीकार किया है । इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों में जो मतिराम और भूपय के परस्पर सम्बन्धों में मतभेद मिलते हैं, वे नवीनतम खोजों के अर्द्ध प्रमाण के कारण ही ।

'शिवसिंह सरोज' में 'बिहारीछात्र' नामक एक कवि का सरोजकार है इससे

1 The famous poet Mathi Rama who attended the Court of Aurangzeb He had three brothers viz. Chintamani, Bhuvan and Jata Shanker alias Nilkantha.

(Annual Report and the Search for Hindi manuscripts for the year 1900 by B. S. Das).

१. ३ काल कवि ३ बिहारी झाक प्रियादी, प्रियमापुर बाते सं० १८६५ । ये कवि मतिराम बंशी कवि बड़े आरी कवि य । इस कुछ में कविता इन्हीं तक रही । पीछे जो रामदीन, सीतल इत्यादि हुए, वे सामान्य कवि थे ।^१

शिवसिंह सरोज, पृ० ४९२, सं० द्वितीय ।

किया है, जिसे वे 'मतिराम' के बंध का बताते हैं। 'विश्वसिंह जी' ने बिहारीलाल की काव्य-सं० १८८५ माना है जो नवीन छायाधियों के प्राप्त हो जाने के कारण गलत प्रमाणित हो गया है। पश्चित कृष्णबिहारी जी मित्र को इस सम्बन्ध में एक उद्धरण संवत् १९७९ के 'कवि' नामक मासिक पत्रिका के तृतीय वर्ष की ज्येष्ठ मास की तृतीय संख्या में मिलता है, जिसे उन्होंने 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका में उद्धृत किया है। इस उद्धरण द्वारा 'मतिराम' के बंध परिकल्पना के सम्बन्ध में कुछ बातें प्रकाश में आई हैं। यह उद्धरण मूल रूप में विक्रम खतसई नायक, बरसाती के महाराज द्वारा रचित पुस्तक का है जिसकी 'बिहारी-काव्य' की संवत् १८७९ में 'रसचन्द्रिका' नाम से टीका की थी। जिसके अनुसार 'मतिराम' की के पुत्र का नाम बलदास, पौत्र का नाम शीतल और प्रपौत्र का बिहारीलाल था। किन्तु बिहारीलाल की के उद्धरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि भूषण, चित्तमणि और मतिराम सगे भाई थे। इससे तो बही स्पष्ट होता है कि इन महाकवियों को कहीं से लेकर 'हम्मीर राजा' ने सम्मानपूर्वक बसाया था। इसे आधार मानकर पश्चित कृष्णबिहारी मित्र ने अनुमान खाना बाधा है कि इन तीनों कवियों के घर अलग-अलग थे। वे भाई थे या नहीं, इस सम्बन्ध में बिहारीलाल भी कुछ नहीं कहते*। किन्तु इससे यह भी तो अनुमान खाना बा सकता है कि इन तीनों माइनों का वहाँ जन्म नहीं हुआ था बल्कि कहीं और हुआ था किन्तु इनके पिता इन्हें लेकर वहाँ चले आये थे और बस गये। जो हाँ इस उद्धरण द्वारा हो बातें तो स्पष्ट हो ही जाती हैं कि चित्तमणि, भूषण और मतिराम एक साथ टिकौपुर में रहते थे तथा बलदास नाम के कोई व्यक्ति इनके साथ नहीं थे।

कुछ ऐसे भी उद्धरण मिलते हैं जिसमें 'मतिराम' का टिकौपुर में रहना प्रमाणित नहीं होता। बही कारण है कि त्रिपाठी अनुष्ठानों के सम्बन्ध में फैले मत-भ्रान्तियों को अल्प-बोध बस मिल गया है। नामगोप्यवार्त्ता समा द्वारा प्रकाशित हिन्दी कोश रिपोर्ट में प्राप्त

१. बलदास विश्वकामपुर नगर, काकिया की दीर ।
 चिरन्तो भूप हमीर वनु, मध्यदेश को दीर ॥
 भूपन चित्तमणि वहाँ कवि भूषण मतिराम ।
 भूप हमीर समभाषते, कीर्ति निज निज पास ॥
 है पत्नी मतिराम के, भुक्त विहारीकाव्य ।
 अगलाय जाती बिदित, सीतल भुक्त भुक्त ॥
 कल्याणदा कीर्ति, विदित त्रिपाठी गोत ।
 कविराज के वृत्त में, कोविद भूमति बहोत ॥
 विविध भाँति सम्मान करि उपाय कवि पदिकाव्य ।
 जाये विक्रम की समा, भुक्त विहारीकाव्य ॥

मतिराम ग्रन्थावली, पृ० सं० २९, संस्करण तृतीय ।

२. मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, तृतीय संस्करण, पृ० सं० २११ ।

मतिराम कृत 'रसराज' ग्रन्थ के विवरण में उन्हें ग्राम भवनी^१ बिछा फतेहपुर का निवासी माना गया है। इसका अतिरिक्त १९२३-२४-२५ की खोज रिपोर्ट में दिय गये मतिराम के 'अस्मिन्-स्वाम' नामक पुस्तक का विवरण देते हुए उन्हें ग्राम बनपुरा^२ बिछा कानपुर का निवासी माना गया है। पं० मागीरम प्रसाद दीक्षित ने 'हचकौमुदी' नामक एक ग्रन्थ को मतिराम की रचना मानकर यह निर्णय किया है कि मतिराम न तो पितामणि अर्थात् भूपत के भाई ही थे और न तो वे ग्राम टिकनीपुर (कानपुर) के निवासी ही थे। उन्होंने मतिराम को बनपुरा निवासी माना है और प्रमाण दिया है कि 'उनको भवनी-निवासी पं० कन्हैया स्वस भट्ट महापात्र के यहाँ, जो महाकवि नरहरि महापात्र के बंधु थे, 'हचकौमुदी' नामक एक ग्रन्थ खोज में मिला है। वह ग्रन्थ मतिराम का रचा हुआ है। इसका निर्माण काय संवत् १७५८ वि० है। इस ग्रन्थ में मतिराम ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि वह बनपुरा-निवासी बल्लभ गोत्रीय पं० चक्रमणि त्रिपाठी के पुत्ररत्न पं० गिरिधर के प्रपौत्र, पं० बल्लभ के पौत्र, पं० विश्वनाथ के पुत्र और पं० अतिथर के भ्राता थे^३।

यदि हम 'हचकौमुदी' को ग्रामाधिक रचना मान लें तो बिहारी स्वस द्वारा किया गया 'रसचन्द्रिका' में मतिराम बंश-परिचय से इसका जेठ नहीं लगता। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि वा तो मतिराम नाम के दो कवि हुए हैं जिनका एक दूसरे से परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था, अथवा दोनों में से कोई न कोई एक सामग्री अप्रामाणिक अवश्य है। बिहारीस्वस कृत 'विक्रमसत्तर्क' की टीका 'रसचन्द्रिका' 'हचकौमुदी' की अपेक्षा इसलिये अधिक विश्वसनीय है कि 'विक्रमसत्तर्क' का उत्प्रेषण पं० रामचन्द्र स्वस कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि सभी ग्रन्थों में मिलता है। 'विक्रमसत्तर्क' की टीका हुई थी इसके भी प्रमाण मिलते हैं। बिहारीस्वस^४ कवि का उत्प्रेषण शिवसिंह ने किया है। ऐसी स्थिति में सम्भव हो सकता है कि 'विक्रमसत्तर्क' के टीकाकार 'बिहारीस्वस' ही रहे हों और वह टीका 'रसचन्द्रिका' ही हो। यहाँ तक 'हचकौमुदी' और उसके कवि का प्रश्न है दोनों ही इसलिये संदिग्ध जान पड़ते हैं कि उपरोक्त पुस्तक अभी तक पं० मागीरम प्रसाद दीक्षित का छोड़कर अन्य किसी विद्वान के देखने में नहीं आई। पं० कृष्णबिहारी श्री मिश्र ने 'मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका' में इसकी चर्चा की है और प्रयत्न करने पर भी उन्हें मागीरम प्रसाद

१ "The famous poet Matirama...He had three brothers...They are Kany knbja Brahmins (Tripathis) of the village Asani (District Fatehpur) Annual Report on the Search for Hindi Manuscripts for the year 1900 by S. B. Das.

२ No 276 (b) Lalit Lalama by Matirama of Banapura (Cownpore)—The Twelfth report on the Search of Hindi Manuscript for the year 1923-24-25.

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० १००३ रि पृ० सं० ३२८।

४ शिवसिंह सरोज, पृ० ३३३।

भी दीक्षित को वह पुस्तक नहीं मिली, जिसे उन्होंने अपनी में डूँट निकाला है।^१ जब तक वह पुस्तक प्राप्त नहीं हो जाती तब तक वो हम वही कह सकते हैं कि वह सब दीक्षित जी की कल्पना की उपज है। और ऐसा भी हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने अर्ध और अशमश्रुति की दृष्टि से बाकी पुस्तक तैयार कर दी हो वो एक बार दीक्षित जी के सामने आकर पुनः न आ सकी हो। इसे आधार मानकर दीक्षित जी ने मतिराम के सम्पन्न में जो मानकथाएँ स्थापित की हैं उससे भी ऐसा छमटा है कि ना तो वह पुस्तक बाकी है अथवा पुस्तक का रचयिता अन्य कोई 'मतिराम' है जिसका 'रसरत्न-कार' से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि हम 'हुज्जतुमुदीन'-कार की बातों को मामाधिक मान लें तो भूपय और मतिराम सगे भाई नहीं हो सकते, क्योंकि महाकवि 'भूपय' ने अपने 'शिखराज भूपय' के अपने को त्रिविक्रम (शिवपुर-अनूपुर) निवासी कल्पव गोत्रीय पं० रत्नाकर का पुत्र किया है—

‘हुज्जतुमुदीन’ कहानी, रत्नाकर सुतधीर।

शिवपुरत्रिविक्रम पुर चहा, सरनि तनूवा सीर^२ ॥१९॥ (शिखराज भूपय)

इस प्रकार 'भूपय' के गोत्र और पिता का नाम 'मतिराम' से मिला ठहरता है। इसके अतिरिक्त दीक्षित जी ने नीलकण्ठ (कलाखंकर) का भी 'भूपय' का सगा भाई नहीं माना है जिसके प्रभाव में उन्होंने पं० नन्दकुमार देव शर्मा के एक ग्रन्थ 'वीर केसरी शिवाजी'^३ का नाम लिया है। दूसरा प्रभाव उन्होंने 'मिश्रकन्दु विनोद' में दिने गये त्रिपाठी कन्दुओं के अर्पकाव्य के आधार पर प्रस्तुत किया है^४। दीक्षित जी का कबल यह प्रभाव

१. 'हुज्जतुमुदीन' रसरत्न के रचयिता की ही बगान है या नहीं, इस बात की मज्जी-मौति से जायबीब करने के लिए हमने सम्पूर्ण 'हुज्जतुमुदीन' ग्रन्थ देखने का विचार किया, और इसक्रिये पं० सागीरज प्रसाद जी से इसके जैगा देने की प्रार्थना की तबब वहाँ उन्होंने ग्रन्थ के होने का पता दिया था, वहाँ को पत्र लिखे और हो आदमी भी भेजे, पर हमको ग्रन्थ न मिला। इतना ही नहीं हमारे भेजे हुए आदमियों ने तो हमें यह उत्तर दिया कि जिन महाशय के वहाँ तक ग्रन्थ बतकाया जाता है, उनका कहना है कि हमारे वहाँ ग्रन्थ नहीं है। दीक्षित जी का भी कहना है, अब ग्रन्थ नहीं मिल रहा है।

मतिराम ग्रन्थावली, पृष्ठीय संस्करण, पृ० सं० २३५ ३६।

२. भूपय ग्रन्थावली, चौथा संस्करण, पृ० सं० १।

(सं पं० रामचरस त्रिपाठी)।

३. पं० नन्दकुमार देव शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'वीर केसरी शिवाजी' में चित्तामणि, भूपय और मतिराम, इन तीन ही भाइयों का वर्णन किया है।

४. 'मिश्रकन्दु विनोद' में वर्णित है कि नीलकण्ठ ने संवत् १६९८ में 'अमरेश विहास' रचा था, उस समय उनकी अवस्था २५-३० वर्ष से कम नहीं होगी। इस कारण उनकी जन्म-संवत् १६७० के लगभग पड़ता है। भूपय वही नीलकण्ठ के बड़े भाई

कि 'भूपण' १३० वर्ष तक जीवित रहकर ओजस्विनी कविता नहीं कर सकते थे, अधिक उष्णपूर्व नहीं बन पाया। इसी प्रकार उन्होंने 'भूपण' और 'चिन्तामणि' का भी परस्पर भाई नहीं स्वीकार किया है। इस प्रकार मतिराम, भूपण, चिन्तामणि और नीलकण्ठ को परस्पर भाई न स्वीकार करते हुए उन्होंने परम्परा से बांधी जाती इस प्रति धारणा के मूल में डॉ० शिवसिंह सरोज के 'शिवसिंह सरोज' को माना है कि जिसके कारण 'बा' को हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने 'हूँ परस्पर सहोदर' के रूप में स्वीकार कर लिया है। किन्तु कुछ ऐसी सामग्रियाँ उपलब्ध हो गई हैं जिससे यह प्रमाणित हो गया है कि 'शिवसिंह सरोज' की रचना होने के पूर्व ही हिन्दी संसार में वह बात प्रचार पा गई थी कि 'चिन्तामणि', 'मतिराम' और 'भूपण' परस्पर सहोदर हैं। जिससे कोई प्रकट कारण छेप नहीं रह पाता कि हम ये भागीरथ प्रसाद की दीक्षित के तर्कों के साथ रूप में स्वीकार कर दें।

दीक्षित जी के विचारों में कहीं भी स्पष्टता नहीं प्रतीत होती। कहीं तो वे अपने मति की पुष्टि करने के लिये 'शिवसिंह सरोज' की बातों को स्वीकार कर लेते हैं वैसे कि उन्होंने 'भूपण' तथा 'चिन्तामणि' के सहोदर होने की वाधाओं के लिये किया है और कहीं उते प्रतिपक्षक बताने लग जाते हैं।

पण्डित मनाथकर यादिक ने यह स्पष्ट करने के लिये कि 'सरोजकार' के पूर्व भी केम चिन्तामणि, मतिराम और भूपण को परस्पर भाई मानते थे, 'दी प्रन्नों' का उल्लेख

ये, तो उनका जन्म-संवत् १९१८ से ही होना चाहिये। भूपण का संवत् १८९० में जीवित रहना 'दीक्षित' की प्रमाण सिद्ध मानते हैं और लिखते हैं कि यह कभी संभव नहीं कि भूपण १३० वर्ष जीवित रहकर किसी ओजस्विनी भाषा में कविता करते रहे हों, वैसे उन्होंने 'शिवराज भूपण' से की है।

(मासुरी पत्रिका, ९ जुलाई १९२४, पृ० ७३५-३६)

- १ दीक्षित जी ने भूपण और चिन्तामणि को भी परस्पर भाई नहीं माना है। कारण यह बतलाया है कि 'भूपण' का जन्म 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार संवत् १८१८ है और 'मिथवन्धुओं' के अनुसार चिन्तामणि का जन्म संवत् १९१९ में हुआ था। इस प्रकार दोनों भाइयों के जन्मकाक में १०० वर्ष का अन्तर होता है, जो सहोदर भाइयों में सम्भव नहीं है। (मासुरी पत्रिका, ९ जुलाई १९२४, पृ० ७३६)
- २ हम 'शिवसिंह सरोज' से भी प्राचीन दो ग्रन्थों का प्रमाण वाक्यों के सम्मुख उपस्थापित करते हैं, जिससे विदित होगा कि शिवसिंह जी से बहुत पहले लोग चिन्तामणि, 'मतिराम' और 'भूपण' का परस्पर भाई होना जानते थे। पहला ग्रन्थ है 'दी दिवासी प्रसिद्ध विज्ञान सूर्यमण्डल की का बनावट हुआ 'बंश भास्कर'। यह ग्रन्थ संवत् १८९० में अर्थात् 'शिवसिंह सरोज' के छपने से ३३ वर्ष पूर्व बना था। सूर्यमण्डल की का वर्णन शिवसिंह सरोज प्रकाशित होने के २३ वर्ष पहले हो गया था, 'बंश भास्कर' में नीलकण्ठ का नाम ही नहीं है। कहा भाई भूपण को, मध्य भाई मतिराम को और कविता भाई 'चिन्तामणि' को लिखा है। इसका ग्रन्थ है

आरम्भ

श्रीगणेशाय नमः ॥ अथ मतिराम विंगळ लिखिते छंद गणरिगेदमिहिमोद
मंगळ मोदधर बीकनर मुखर्ज्य बंदन मखित छवित उत मंगळ हास गहि भुमय कय-
मयी प्रबंद इमि सरूप भुम्या गय मुख ध्यावत सरवावत बहु विधि बरछंद मंगळ
करन हरन अथ सीधे से से विधि सदन सिवनंद १

अपिछ सफळ विसल बरदायक जे विधि ताप हरत करछंद अनुबर रस
मंजन मय मंजन गळयेवीस हो रसन हा मुख कर कुंवर छंद छंद लक्ष्मोरत तोरत
अथ तरिबु दुस्र दंड अपिछ लोक नावक नीमळ गुन से से सीधि सदन सिवनंद २

इस प्रकार हम देखते हैं, कि यह प्रतिक्रिपि आर्यत काग्रह छिपि में लिखी है। यह
समा के इच्छासे संख्या १६२ पर सुरक्षित है। इसी के साथ मुखदेव मित्र का 'रस
रहाकर' भी है।

पं० छत्रविहारी मिश्र ने अनुमान लगाया है कि इस पुस्तक की रचना श्रीनगर
के फतेह साहि भुवैष्य के छिये हुई थी और सम्भवतः इसकी रचना संवत् १७०० और
१७१० के बीच हुई होगी।^१ जब तक और कोई प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती
तब तक इस पुस्तक के सम्बन्ध में निम्नपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। प्राप्त सूचनाओं
एवं अंशों के आधार पर तथा इसके छन्दों और वर्ण विधान को देखते हुए यह अनुमान
लगाया जा सकता है कि इसकी रचना 'छठिछल्लाम' के पूर्व हुई होगी। 'छठिछल्लाम' की
रचना संवत् १६१५ के बाद ही हुई है। इससे इनका रचनाका संवत् १६१५ के पूर्व
का ही होना सम्भव जान पड़ता है। पं० माधिराम प्रसाद जी लिखित इस 'छन्दसार विंगळ'
को 'बृज कौमुदी' नामक 'मतिराम' के नाम से कहे जाने वाले एक ग्रन्थ से अभिन्न मानते हैं,
जिसकी वर्षा हम आगे 'बृज कौमुदी' के प्रसंग में करेंगे।

मिश्रबन्धु विनोद के अनुसार 'छन्दसार विंगळ' ग्रन्थ मतिराम ने महायज्य शंभु-
नाथ शोळकी के नाम बनाया। वे महायज्य स्वयं अपने कवि से और कवियों का सम्मान भी
करते थे^२। उनका कविताकाल संवत् १७०७ के अन्तर्गत है^३। किन्तु वे शंभुनाथ
शोळकी और कोई नहीं शिवाजी के पुत्र शम्भाजी से जिसे इतिहास न जानने के कारण
'शरोबकार' और 'विनोदधर' दोनों ने शंभुनाथ शोळकी कित दिया^४। छत्रपति शिवाजी जी

१ कहा जाता है कि श्रीनगर के फतेहसिंह हुंरिका के छिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है।
इसका निर्माणका अवधिस्थित है, पर अनुमान किया जाता है कि यह संभवतः १७००
और १७१० के बीच बना होगा। (मतिराम-प्रयागजी, पृ० ६०, पृ० २३१)।

२ मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ७७५।

३ मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ७३६।

४ 'शंभु या गुरु शंभु सतारे के राजा शंभाजी ब्रह्मा सेनाजी के बेटे थे। शोळकी
नहीं थे। यह भूक 'मिश्रसिंह सरोज' से मिश्रबन्धुविनोद में भी, इतिहास न जानने
से आ गई है। सतारा बम्बई हाते में है। कोरगापुर महाराज गुरु शंभु के बाने
के हैं। गुरु शंभु ने कविता कवि कछुड से सीखी थी।' —शुक्ति देवीप्रसाद का वक्त
अथ मतिराम प्रयागजी, पं० छत्रविहारी मिश्र, पृ० ६०, पृ० २५३।

मृत्यु संवत् १७१७ में हो गई थी। उसके बाद सम्माजी पदाधीन हुए। इसके अतिरिक्त कृष्णबिहारी भी मिश्र में इसे श्रीनगर के पठेहसिंह मुन्देरा के सिन्धे छिली बताया है जिससे पर्वत प्रमाण न मिलने के कारण अपरोक्त दोनों बातें निश्चयनीय नहीं जान पड़ती।

साहित्यसार

‘साहित्यसार’ मतिराम का नाविका मेद पर लिखा हुआ १० पृष्ठों की ३३ इंच कच्ची और १ इंच चौड़ी है जिसमें ३३ श्लोक हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर आठ साइने लिखी गई हैं। यह प्रति दत्तिया राम-पुस्तकालय में सुरक्षित है^१। ये कृष्णबिहारी मिश्र में भी इसी प्रति का किछ मतिराम-सम्पादकी में किया है जिसका प्रतिलिपिकांड सं० १८३७ का है। इसके अनुसार इस ग्रन्थ की रचना संभवतः १७४० में हुई होगी^२। किन्तु मतिराम के रचना-कर्म को देखते हुए यह अनुमान ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि रचयिता ऐसे प्रांश नाविका मेद का ग्रन्थ लिखने के बाद साहित्यसार ऐसे ग्रन्थ की रचना उचित नहीं जान पड़ती। यदि इसे रचयिता के पूर्व की रचना मानी जाय तो अधिक उचित जान पड़ता है।

छापण-शृंगार

साहित्यसार की मीति यह १४ पृष्ठों का एक छोटा सा ग्रंथ है जिसमें कवि ने भावों और विभावों का वर्णन किया है। यह भी खोज रिपोर्ट में उद्धृत है। जिस प्रति का विवरण खोज रिपोर्ट में दिया गया है वह स्वदेशी कागज पर लिखी देवनागरी में १३ इंच कच्ची तथा १ इंच चौड़ी पुस्तक है। श्लोकों की संख्या १९५ है जो प्रत्येक पृष्ठ पर १३ साइने के कम से लिखे गये हैं। देखने में प्रति नहीं जान पड़ती है और विद्यानर राम के पुस्तकालय में सुरक्षित है।^३ इसी प्रति का विवरण संभवतः प० कृष्णबिहारी भी मिश्र ने भी दिया है जो प्रति संवत् १८२९ की लिखी हुई है। उन्होंने इसका रचनाकाल अनुमान से १७५५ के आसपास स्वीकार किया है।^४ जिस प्रकार के संदेह ‘साहित्यसार’ के सम्बन्ध में हो सकते हैं वे ही छापण-शृंगार के संबंध में उठाने का सकते हैं।

१ No. 196 (b) नविकामेद by मतिराम बिहारी verso. Substance—Country made paper leaves—10 size 3½ × 3 inches lines—8 on a page—extent—33 Slokas Place of deposit State Library Dattia

२. यह १० पृष्ठों का एक छोटा सा ग्रंथ है। इसमें नाविकामेद का वर्णन है। इसकी हस्तलिखित प्रति दत्तिया-राम के पुस्तकालय में मौजूद है। यह प्रति सं० १८३७ की लिखी हुई है। ग्रंथ संभवतः १७४० में बना होगा।

(मतिराम-सम्पादकी, पृष्ठ संस्करण, पृ० २३२) ।

३ No. 196 (c) छापण-शृंगार by मतिराम बिहारी verso Substance—Country made paper leaves 14-size 9½ × 6 inches, lines 12 on a page—Extent 195 slokas, appearance now Deva Nagari place of Deposit State Library Bijwar (Search for Hindi Man. for the year 1900, 7, 8- p. 311, Nagari Pracharini Sabha).

४ यह १४ पृष्ठों का छोटा सा ग्रंथ है। इसमें भावों और विभावों का वर्णन है। हस्त-लिखित प्रति संवत् १८२९ की लिखी हुई है और विद्यानर-राम के पुस्तकालय में

॥ **बृष कोकिली**

पं० भायीरय प्रसाद जी दीक्षित वृत्त कौमुदी को महाकवि मतिराम की रचना मानते हैं और उनका कहना है कि मतिराम के नाम से जो एक छन्दसार विंगल प्रसिद्ध है वह भी इसी वृत्त कौमुदी का संग्रह है, क्योंकि इस संग्रह के अन्त में भी छन्दसार संग्रह दिया हुआ है।^१ परन्तु इस संग्रह में यह नहीं कहा जा सकता कि किसी सेहदस संस्कृतकर्ता ने 'वृत्त कौमुदी' संग्रह तैयार करते समय 'मतिराम' की इन कविताओं को भी उसके साथ संग्रहीत कर दिया। इस सम्बन्ध में इसके पूर्व वृत्त कौमुदी की वर्णन करते समय मैंने यही अनुमान व्यक्त है कि या तो यह पुस्तक बाध्नी है अथवा किसी अन्य मतिराम नामधारी साधारण कवि ने स्वनामधारी महाकवि मतिराम को आदर्श मानकर अपने नाम की सार्पकता प्रमाप्ति करने के लिए ऐसा प्रयास किया है। जो प्रति दीक्षित जी को मिली है और उसके सम्बन्ध में उन्होंने जो विवरण प्रस्तुत किए हैं उनमें उन्होंने यह कहीं नहीं स्वीकार किया है कि उक्त इतिवृत्तित प्रति मतिराम के शायों की छिपी है। जब वे भी इसे मतिराम के नाम से अन्य किसी शाय प्रतिविधि की हुई मानते हैं तो क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि किरिफ ने इन दो संग्रहों को एक साथ संग्रहीत कर दिया है। मुझे मतिराम की कई ऐसी प्रतिविधियाँ मिली हैं जो अन्य कवियों की कृतियों के साथ संग्रहीत हैं जिनका उल्लेख मैंने उनके रचनाकाण्ड के प्रसंग में किया है। ऐसी स्थिति में एक नाम के कवि होने के कारण इन दो संग्रहों में अमिश्र का क्या जाना सम्भव है। अतः इस व्यापार पर कि 'वृत्त कौमुदी' के नीचे छन्दसार संग्रह भी छिपा है, यह कह देना कि यह मतिराम की रचना और 'छन्दसार विंगल' से अभिन्न है तत्पक्ष नहीं मान पड़ता।

अभिप्रेता को प्रभावित करने के लिये दीक्षित जी ने एक बात और उदात्तपूर्ण कह दी, वह यह कि धनसिंह सरोज में जो दो छन्द 'छन्दार मिश्र' के उद्धृत किए गए हैं, उनमें से एक छन्द 'हृष कौमुदी' में मिलता है। इस छन्द को प्रभावित करने के लिये अब हृष कौमुदी की प्रवि दीक्षित जी के पास भी उपलब्ध नहीं है और यदि उसे सत्य भी मान लें तो इससे कुछ कटा-झाड़वा नहीं, क्योंकि सराबोर की तो यह अत्यन्त आघात भूष है। सुनी-सुनाई बात के आधार पर लिखने के कारण उनसे मरकर सूँ हो गई है जैसे उन्होंने— जो दूसरा छन्द 'छन्दार' से उद्धृत किया है, जिसे दीक्षित जी हृष कौमुदी में नहीं निकाल पाए वह छन्द भी 'छन्दार' का नहीं बल्कि सेनापति का है जो कवि रत्नाकर में संक्षिप्त

1 3 1 1

भोजन है। इसकी रचना श्री संभवतः १०४५ के लगभग हुई होगी। अष्टास्य प्रभा-
वकी, पृ० सं०, पृ० ५३९।

१. "दीक्षित जी 'रसराज' और हुए। कौमुदी के रचयिता को एक ही व्यक्ति मानते हैं और उनका कहना है कि रसराज के रचयिता का जो छन्दसार पिण्ड प्रसिद्ध है वही नई हुए कौमुदी ग्रन्थ है, क्योंकि इसके अन्त में भी छन्दसार संग्रह दिया हुआ है। पं०

१. कृष्णबिहारी मिश्र, अठिराम प्रभाषणी, ए० सं०, पृ० ३३५ ।

१ है^१। ब्रह्मकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि यह अपनी रचना दण्डक पद्यति पर कर रहा है—

बगल बाहु अवलम्ब सहि मतिराम मुकवि हित थित थरिह ।
रवि छन्दसार संग्रह सरस सु हसि दंडक पद्यति करिब ॥१०॥^२

किन्तु १० मागीरय प्रसाद की दीक्षित का कहना है कि सम्पूर्ण पुस्तक में दण्डक हो ही चार है। कवि ने अपने ग्रन्थों में एक दूसरे ग्रन्थ के छन्दों का सुलभ उपयोग किया है। रसराज क एक ही से अधिक दोहे छतसई में हैं, कवित्तकमल क छंद से अधिक छन्द रसराज के हैं और लगभग दस दोहे ऐसे हैं जो रसराज, कवित्तकमल और मतिराम छतसई तीनों में पाये जाते हैं, किन्तु बृज कीमुदी में ऐसा न पाया जाना सामाजिक नहीं।^३ ज्ञान पड़ता जब कि दीक्षित जी 'पूष्पमंजरी', 'रसराज' और 'बृज कीमुदी' का रचन बाळ एक ही व्यक्ति मानते हैं। पूष्पमंजरी की रचना बहाँगीर के समय में हुई और बृज कीमुदी की रचना औरंगजेब की मृत्युकाळ के निम्न हुई जिससे यह समय लगभग एक ही वर्ष क इराफा है। यह अवस्था गंगाए रत और उसमें यी पिंगल की रचना क सिधे निरान्त अनुपपुष्ट है। महाकवि मतिराम का रचनाकाल निर्धारित करत समय मैंने इस पुस्तक की अप्रामा यिकता तथा मतिराम की रचना न होने की कठिनाइयों पर विस्तृत विचार किया है जिसकी पुनरावृत्ति उचित नहीं। बृज कीमुदी को मतिराम की रचना मान लेने पर उनका सम्बन्ध में प्राप्त सभी सामाजिक तथ्यों पर प्रत्यक्षोचिन्त क्य जाते हैं। ऐसी स्थिति में जब तक बृज कीमुदी की सामाजिकता असंदिग्ध नहीं हो जाती तब तक ऐसे ग्रन्थों को छान का कोई महत्त्व ही नहीं है।

जिस बृज कीमुदी को दीक्षित जी ने देखा था उसकी रचना और रत में हुई है जो यह संघाततय भी स्वरूप देव के हितार्थ छिली गई है—

‘मित्र साहि तिनको सुपुत्र विन्यास बगल सर ।

तनु पुत्र अवतंस अवनि पथम सरस भव ॥

बगल बाहु अवलम्ब सहि मतिराम मुकवि हित थित थरिह ।

रवि छन्दसार संग्रह सरस सु हसि दंडक पद्यति करिब ॥ १० ॥^४

बिनय दंड कम कवि ने इस प्रकार दिया है—‘मित्र साहि के पुत्र और सिंह, और सिंह के पुत्र बन्धमान, बिनके पुत्र मित्र साहि हुए। स्वरूपसिंह भी मित्र साहि क पुत्राय ये बिनके हितार्थ पुस्तक का निर्माण बतलाया जाता है।’ जो माया एवं माय इस ग्रंथ में अपनाए गए हैं वे मतिराम क अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलते। मतिराम की अन्य रचनाओं में कवितार्थ एक ग्रन्थ की दूसरे ग्रन्थ में मटे ही रत ही गई हो किन्तु मायो एवं

१. पं० हज्जविहारी मिश्र, मतिराम प्रयागधी, पृ० सं०, पृ० २२९।

२. मागीरप्रसादकी पत्रिका, संवत् १९८० अ० ७९१।

३. वही।

पदावलि की, पुनरावृत्ति नहीं पायी जाती जो हृष कौमुदी के आरम्भ में ही मिलती है। 'वृषवर्ण' के इस छन्दों में एक ही वर्णन एकाधिक बार आए हैं। इस दृष्टि से भी यह, अन्य किसी कवि की रचना बान पड़ती है।

मतिराम के ग्रन्थ का नाम छन्दसार पिंगल है न कि 'छन्दसार संग्रह'। किन्तु इसमें छन्दसार संग्रह का उल्लेख है। यदि इसे 'छन्दसार पिंगल' ही मान लें तो भी इससे वही स्पष्टता निकलती है कि कवि ने इस ग्रन्थ को आदर्श मानकर अपनी रचना की है न कि दोनों ही उसकी कृतियाँ हैं—

छन्दसार संग्रह रच्यो, सफ़ल ग्रन्थ मति देखि।

बाळक कविता सिद्धि को, भाषा सरल विशेषि ॥ १ ॥^१

इससे वही निष्कर्ष निकलता है कि 'हृष कौमुदी' महाकवि मतिराम की रचना नहीं बान पड़ती।



मतिराम और नायिका-भेद

हिन्दी काव्य-साहित्य में नायक-नायिका भेद को 'रीति-साहित्य' के भीतर ही रखा दिया जाता है। काव्य-क्षेत्र में 'रीति' की प्रतिष्ठा का जब से आविर्भाव हुआ तथा उस साहित्य-विद्वान्त के रूप में जब से स्वीकार किया गया, नायक-नायिका भेद का अस्तित्व साहित्य में उसके प्राचीन है। काव्य में नायक-नायिका भेद का विकास अपने दृढ़ से बरकरार बसा आ रहा है बिछे बाद में बसकर रीति-साहित्य के अन्तर्गत मान लिया गया। 'शृंगार' कवियों के किये आरम्भ से ही आकर्षण का बँझविजु रहा है। सम्पूर्ण काव्य-साहित्य का यदि सर्वेक्षण किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि जिन कवियों ने 'रस' को काव्य का महत्वपूर्ण अंग माना है और अपने काव्य में विभिन्न रसों को स्थान दिया है, उनमें से प्रायः कम ही ऐसे कवि होंगे जिन्होंने शृंगाररस का वर्णन न किया हो, किन्तु ऐसे अनेक कवियों का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने केवल शृंगाररस का ही वर्णन किया है। शोक में तो रस का अर्थ ही शृंगाररस कहा है। शृंगाररस का अपनी वायकता एवं व्यापकता के कारण भारतीय काव्य पर एकछत्र राज्य रहा है। नायक-नायिका शृंगाररस के एकमात्र आलम्बन हैं—

होत नायका नायकहि आलम्बित विहार ।

ताँसे कजरी नायक-नायक मति अनुसार ॥३॥ —रघुनाथ (मतिराम)

जिनका मूल-सात काव्य के क्षेत्र में हम 'भरत' के 'नाट्यशास्त्र' को मान सकते हैं। सभी दृष्टियों से विचार करने पर भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' काव्यशास्त्र पर जितना लक्ष्य प्राचीन ग्रन्थ है। 'भरत' के पहले अलङ्कारशास्त्र की उत्पत्ति अवश्य हुई थी, परन्तु अलङ्कार और रस के सर्वप्रथम विवेचन का श्रेय आचार्य 'भरत' को ही प्राप्त है। सच तो यह है कि इसका महान् ग्रन्थ प्राचीन भारतीय खलित-कला का निकेतन है।^१ संस्कृत में लिखा नाट्यशास्त्र का यह प्राचीन ग्रन्थ यद्यपि अमिनय-कला से संबंधित है, फिर भी काव्यशास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। अमिनय से संबंधित होने के कारण इसका मुख्य प्रतिपाद विषय रस है। इस ग्रन्थ द्वारा 'रस' को आत्यधिक महत्व मिष्टी के कारण भरत मुनि के परचाह भी धृताश्रिमी तक नारदों में रस का हो साम्राज्य रहा। भारतीय काव्य-परम्परा में इस और अल्पकालों के माध्यम से प्रेम के स्वरूप की ही अधिकतर प्रतिष्ठा हुई है, जिसके परिणामस्वरूप शृंगार के आलम्बन और उदीपन विभागों के माध्यम से संयोग तथा विमलम्भ शृंगार के मार्मिक रूपों का सुप्रभावपूर्ण चित्रण किया गया

है। काम एक कला है जिसके प्रवर्धन का सर्वोत्तम स्थान राज-दरबार ही हुआ करते हैं, जिससे इसके कलात्मक कर्मों का विकास इन्हीं भारतीय राज-दरबारों की छवजना में होता रहा है। इस प्रसंग की चर्चा विस्तारपूर्वक पहले हो चुकी है। 'नाट्यशास्त्र' से किस प्रकार निकलकर नायिका-भेद दरबारी काम्य विषय का काम देने लगा, इसके रहस्य को खोलें और दरबारों में प्राप्त होता है। 'संस्कृत में नायक-नायिका भेद प्रेमों का निर्माण भारत में सुसज्जमानी क्षीयमान के साथ ही साथ आरम्भ होता है। शृंगार की पुटकल रच नार्थ होती थी और उनमें स्वकीया के शृंगार का वर्णन होता था। कहीं-कहीं सपत्नियों के किया-कछापों को लेकर रोना-कछपमा, ईर्ष्या-अवयव, डाँट-फटकार, मान आदि की बातें भी रहती थीं। परकीया प्रेमसाहित्य में प्रवेश नहीं कर सका था सामान्या का प्रेम कुछ नावकों में अवश्य विकसित हुआ है, पर अत्यंत उदात्त रूप में प्रबंध-काव्यों में स्वकीया ही नायिका मिलेगी। मुक्तकों में भी बन्दी के हाव-भाव की व्यञ्जना प्रयुक्त है। जनता में जो रचमारें होती थी उनमें शृंगार का अविरेक तो है, पर परकीया प्रेम का अविरेक नहीं। परकीया की चेष्टाओं, विदग्धता आदि का आधिक्य फारसी-साहित्य के संपर्क के कारण हुआ। माधुर्य के अनेक रकीबों की कल्पना और उसके प्रेम के प्राप्ति के कष्टों आदि की ऐसी विद्वान् फारसी और उर्दूवात् बहू में दिखाई देती है, उसके बोझ-बोझ में हिन्दी के कवि समा-समाजों में नायक-नायिका भेद के रंगीले बयानों के आतिरिक्त और रस ही क्या सकते थे।^१ हिन्दी के प्रत्यक्षकीन कवि तत्कालीन सुसज्जमानी संस्कृति एवं साहित्य से प्रभावित अवश्य हुए, किन्तु इसे ही एकमात्र ऐसे काव्यों का निर्माण हेतु नहीं माना जा सकता। संस्कृत के शृंगारिक काव्यों में यद्यपि परकीया विषय को अवकाश नहीं था, परन्तु सपत्नियों के बीच नावक की स्थिति कभी-कभी ठीक वैसी ही हो पाया करती थी, जब उनमें नावक के प्रेम के एकाधिकार के विषे होड़ बन जाती थी।

छात्र के आदि से ही नारी पुत्र के विषे समस्या बनी रही। वह उसके अप्रतिहत शैल्यैव के करव वाचना-सरिता में बहने से अपने को बचाने में उदा से असमर्थ पाठा रहा है। वह वाचना ही हैव है, माधुर्य तथा रोम्यता ही नारी है जो प्रमुक्तता का विचार बनती है। नारी पुत्र का प्रेम, छात्र की आदि शक्ति है जिसके अभाव में काम्य क्या छात्र भी अपना कोई अर्थ नहीं रखती। वास्तविक प्रेम की शक्ति महान होती है जो केवल मानव में निहित है। इसी शक्ति के कारण ही नखर तथा आदिनाशी में भी संयोग होता है^२। ऐसी चारवा भारतीय संस्कृति का मूल में रही है। यही कारण है कि प्रेम के क्षेत्र में भारत का नैतिक स्तर उच्च ठीका रहा है। नैतिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में नारी का स्थान भारत में रहा है वैसा कीवन अन्य स्वप्नवत है। पश्चिमी प्रदेशों में नारी की नैतिक स्थिति

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी, से० १ १०, पृ ५२, ५३।

२ Mighty is the power of genuine love, which exists only among the mortals and it unites the mortal with the immortal—Bantosh Kumar Chatterjee—Lure of India—April, 1944, p. 3

कुछ भी नहीं रही है, उसे पुरुषों की वातना-वृत्ति के सम्मुख पूर्णतः समर्पण कर देना होता है जिससे ठठका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। भारतीयों की मूर्ति नाटी-सौन्दर्य को निरपेक्ष मांस से देखने की दृष्टि पश्चिमियों तथा मुसलमानों में नहीं रही है। इतने नैसर्गिक कनकों के होते हुए भी इस देश का प्राकृतिक योनि-जीवन कभी भी अशुद्ध नहीं रहा है, क्योंकि कभी भी उसकी उपेक्षा नहीं की गई है। बहुत पहले ही हमारे यहाँ 'कामसूत्र' के सहा वात्स्यायन ने योनि-जीवन सम्बन्धी प्राचीन भारतीय सिद्धान्त-श्रेष्ठ तथा उसके मानवीय प्रयोग आदि की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

कामसूत्रकार ने अपने ग्रन्थ में मुख्यतः चारों वर्ग का ही विवरण दिया है, जिनका उक्त समय तक समाज में अलग वर्ग स्थापित हो चुका था। बौद्धयुगीन राजाओं के समय में वैश्यों का प्रवेश सम्म पूर्ण सम्मानित समाज में था। उन्हें विवाह आदि तक कर देने के अधिकार प्राप्त थे। कर्माविद् देवदासियों तथा समा-सुन्दरियों (कार्ट मिस्ट्रेस) का अस्तित्व इसके पूर्व हिन्दू भारत में ही था। ऐसी स्थिति में कर्माविद् नायिका अथवा वैश्या का आकर्षण-बाल किशोरावस्था को प्राप्त पुरुषों के लिये कभी भी अशुद्ध साबित हो सकता था। बनी छोटा महलों में अनेक पक्षियाँ तथा रत्नेश्वरों रखते थे जिसका परिणाम यह होता था कि पति का प्यार प्राप्त करने की हीड़ लगी रहती थी। ऐसी स्थिति में दाम्पत्य-जीवन में कुछ ही तथा पति से उपेक्षित अशुद्ध की द्वारा धमिचारा-सृष्टि की अल्प बिक संभावना थी। एक प्रसन्न पत्नी की पहरणी में अत्यन्त आकर्षकता रहती थी कि वह अपने को इतना सजाकर रखे कि पति उसके आकर्षण से बाहर अन्य किसी कर्माविद् नायिका का आकर्षण में न पड़ सक। उसे बीसठों फलाओं में पारंगत होना पड़ता था, क्योंकि ऐसी समा-सुन्दरियों अनियों को उपलब्ध थी जिनका समाज में एक वर्ग ही बन गया था। नायक-नायिका मेद इन्हीं परिस्थितियों की सृष्टि है जिसकी शिखा एक दुरागे परिवार को अत्यन्त आकर्षक हो गई थी।

मूल्या नायिका-मेद लौकिक उपयोगिता का परिणाम है। जिन लोगों ने नायिका-मेद की उपयोगिता में अनास्था व्यक्त की है, उन लोगों ने भी स्वकीया विषय का महत्व को स्वीकार किया है। परकीया विषय को स्थान मिल जाने के कारण ही इतने संश्रान्त लोग बौद्धा धीकते हैं। सामाजिक मयादा की सुम्भवरथा को अनुप्राण बनाये रखने के लिये परकीया का आचरण निरसदेह बाँधनीय नहीं है। कवियों ने परकीया की सजा समाज के एक अंग होने के नाते की अवस्था है, किन्तु उनकी रचनाओं में ऐसे कवियों के लिये प्रेरणा एवं मोत्साहन कहीं भी नहीं मिला है, बल्कि उन्होंने परकीया की कार्यात्मक अवस्था का विवरण करते हुए उस मार्ग पर चलने वालों को सावधान रहने का ही संकेत किया है। इस प्रकार समाज के बदलते मानकों के साथ-साथ उन्हीं के एक महत्त्वपूर्ण अंगरूप नायिका मेद का विषय भारतीय काव्यों में होता रहा है। जो मध्यकालीन हिन्दी कविताओं में अक्षर वर्णन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। इस काव्यांग की अरुण परम्परा समूह संस्कृत साहित्य से लेकर मध्यकालीन हिन्दी कविता काय तक किसी न किसी रूप में प्रवाहित होती रही। अतएव न पाकर वह कभी अशुद्धता का या भी मूर्ति विपरीत और कभी

सुमनसर का पाने पर गङ्गाही नदी की माँति बगीच लखनस-बैग से प्रवाहित होने समझी थी।

हिन्दी कवियों में काव्य के शास्त्रीय पक्षों पर जो मौखिक टंग से विचार नहीं किया उसका मूल कारण यही है कि उनके सामने संस्कृत साहित्य की प्रभूत पक्षे-पक्षाई सामग्री पार्श्व से ही प्रस्तुत थी जिसका उन्हें बुद्धि एवं रस के अनुसार उपयोग भर कर लेना था और उन सभी ने वैसा ही किया। हिन्दी कवियों ने हिन्दी व्याचार्यों का अनुसरण उतना नहीं किया है जितना कि उन्होंने संस्कृत के व्याचार्यों का, क्योंकि हिन्दी के व्याचार्य जिस संस्कृत साहित्य से सामग्री ले सकते थे वह सामग्री हिन्दी कवियों के लिए भी असम्भव नहीं थी। जयदेव के गीत-गोविन्द की सरसता विद्यापति के अमर गीतों में तो प्रवाहित हुई ही, साथ ही साथ संस्कृत काव्यों में आये नायिका-नायक सम्बन्धी शृंगार वर्णनों का भी पर्याप्त प्रभाव उनके गीतों पर पड़ा है। नायक-नायिका भेद को आधार मान कर विद्यापति के सरस गीत भले न लिखे गये हों, किन्तु उनके सुन्दर सदाहरण उनके गीतों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हाँ तो क्या विमाओं से तो उनके गीत भरे पड़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत के नायक-नायिका भेद प्रसंग से विद्यापति प्रभावित हुए हैं। अद्वैत के लिये निम्नांकित पर्याप्त हवा—

शेषव जीवन बुहु मिथि येछ ।
 । अवनक पथ बुहु ओवन छेस ॥
 । अवनक बाहुरि कह कह हास ।
 । अरनिये जोइ करत परकास ॥
 । मुकुट छेइ अम करत सिंगार ।
 । लखि पूछइ कत मुख बिहार ॥
 । निरखने तरव हेरइ कत बैरि ।
 । इसहन अपन पयोचर हेरि ॥
 । पहिछ बहरि सम पुन नव रंग ।
 । दिन दिन अनम अगोरख बंग ॥
 । माधव येछहु अपरप बाण ।
 । शेषव जीवन बुहु यक मेख ॥
 । विद्यापति कह बुहु अगेयानी ।
 । बुहु यक बंग बरी कहे सेयानी ॥ विद्यापति पदावली

उपरोक्त गीत में 'मध्या नायिका' का सुन्दर वर्णन हुआ है। यही कारण है कि अपिकांशतः सबका मूळस्रोत एक ही था। 'यदि आदर्श की बात देखी जाय तो पता चलता है कि अकबर के दरबारी 'करनेस' कवि ने 'कर्णामरण' 'भूतिभूषण' और 'भूष-भूषण' इसी आदर्श पर निर्मित किये जिस आदर्श पर आगे चलकर अन्य अनेक अलंकार-ग्रन्थों का निरूपण हुआ। जयदेव के चन्द्रावली और अपरक-दीप्ति के कुवलयानन्द ही इनके भी आधार थे। अलंकार निरूपण में जैसे संस्कृत के इन ग्रन्थों का सहारा लिया गया वैसे ही रस निरूपण में भानुदत्त की

‘रस-तरंगिणी’ का आधार रहा और नायिका-भेद में ‘तन्त्री’ की रसमंजरी का^१। कविवर नन्ददास ने तो अपने नायिका-भेद ग्रन्थ का नाम ही रसमंजरी रखा जो एक प्रकार से मानुस की रसमंजरी का मानानुसार ही है, जिसकी कवि ने स्पष्ट धारणा भी कर ही है—

‘रस मंजरी अनुसारके ‘नंद’ सुमति अनुसार।

बरनत बनिता भेद बहै, प्रेम सार विस्तार ॥’ २४ ॥^२

कुछ विद्वानों ने हिन्दी काव्यशास्त्र की परंपरा महाकवि केशव से मानी है और उन्हें ही हिन्दी का प्रथम आचार्य स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य पंडित राम-चंद्र जी द्विवेद ने प्रसार एवं अनुयायियों के आधार पर इसकी परम्परा वितामभि से स्वीकार की है। प्रारंभिक कृतियों के उपलब्ध न होने के कारण केशव तथा वितामभि से बहुत पहले पायी जाने वाली नायिका-भेद की रचना ‘कृपायम कृत हित-तरंगिणी’ से ही हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास शुरू बोझना संभव हो पाता है जबकि यह उल्लेख भी प्राचीन कल्पना है। रही अर्थात् परंपरा की बात, यह निश्चित ही कृपायम से भी पीछे जाती है। पर ये कौन है, इस संबंध में इतिहास मौन है किन्तु वे हैं अपत्य, इसे कृपायम भी स्वीकार करते हैं। कवि प्रन्वायम में ही स्पष्ट कर देता है—

‘बरनत कवि सिंगार रत छन्द बड़े विस्तारि।

मैं बरन्यो दोहान बिच कातैं सुपर विचारि ॥’ (हित-तरंगिणी)

इससे स्पष्ट होता है कि उस समय भाषा-साहित्य का भंडार सुलभ और परिपूर्ण था और यदि ख़ाब किया जाय तो प्राचीन ग्रन्थों का हाथ लगा जाना असंभव नहीं है। ‘हित-तरंगिणी’ तथा उसके उपरोक्त दोहे से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा में साहित्य-शास्त्र का प्रचार केषवदास ही के समय से नहीं हुआ था बल्कि साधारणता माना जाता है। वरन् उनके बहुत पहले ही साहित्य विषयक ग्रन्थ भाषा में लिखे गये थे।

‘हित-तरंगिणी’ में रस-विभाग तथा नारी के भेदोपभेद का अत्यंत सुष्ठुता हुआ वर्णन है। कृपायम ने नारी के तीन भेद—(१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) वारवधू माना है। तत्पश्चात् उन्होंने उसका तीन प्रकृति भेद, मानवती के दो भेद, स्वकीया के स्वभाव भेद, परकीया भेद तथा उनकी चेष्टाओं के भेदोपभेदों का वर्णन करते हुए छत्ती तथा दूतियों का भी वर्णन किया है और अन्त में सामान्या तथा उच्चता, मध्यमा एवं अधमा का वर्णन करते हुए बिरह की दस अवस्थाओं का वर्णन के साथ समाप्त किया है।

कृपायम की हित-तरंगिणी के बाद की रचनाओं में ‘साहित्य-तन्त्री’ और ‘रस-मंजरी’ का नाम मिला जा सकता है। ‘साहित्य-तन्त्री’ शास्त्र की ही रचना मानी जाती है, क्योंकि विद्वान् इसपर एकमत नहीं हो पाये हैं, फिर भी यदि साहित्य-तन्त्री को शास्त्र की रचना में भी मानें तब भी सुसंगत क अनेक पदों में नायिकाभरोष्ठ कल्पन मिलती है। राधा-कृष्ण की प्रेम-भाषना के विचार में अत्यंत दीरघता से टैलर रसकीया का समस्त भंडारनरो

१. निरुद्धास प्रसाद मिश्र विहारी, पृ० १०, पृ० १८ १९।

२. संसारक प्रवरकदास, कन्ददास प्रन्वायकी, प्रथम संस्करण, पृ० १४५।

मे तत्सम्बन्धित नायिका का भी वर्णन करना चाहता है जिससे उत्तरी नायिक-भेद सम्बन्धी प्रकृति का अनुमान लगा जाता है। इसके अतिरिक्त वैसाफि मैंने पूर्व में ही संकेत किया है कि मतिराम सरसई के वे शोध जो पाठांतरित होकर उनके अन्य ग्रन्थों में आये हैं, निश्चित ही उनकी रचना उन ग्रन्थों की रचना के पूर्व हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में अनेक ऐसे दोहे उपलब्ध हैं जिनकी रचना 'रसराय' के पूर्व हो चुकी थी। इस प्रकार के सभी दोहों का सम्बन्ध नायिका-भेद से ही है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि रसराय मतिराम कृत नायिक भेद की आरम्भिक नहीं, बल्कि प्रौढ़ रचना है।

रसराय

'रसराय' महाकवि मतिराम का प्रत्येक दृष्टि से प्रौढ़तम ग्रन्थ है। मतिराम नायिक भेद के सर्वमान्य आचार्य हैं और उनका 'रसराय' सर्वप्रधान ग्रन्थ है, जिसमें नायिकाओं का व्यवस्थित क्रम, सरस कवय तथा स्पष्ट उदाहरण उपलब्ध हैं। इसकी सैद्धी इतनी सरस एवं बोधगम्य है कि अपने विषय का सर्वप्रथम चर्चापूर्व ग्रन्थ होने पर भी इस विषय पर किसी भी परबर्ती कवि की रचना इसके समान सुन्दर नहीं आ सकती।

जित पारित्य प्रदर्शन एवं झिड़ता तथा झिड़ कम्पना के कारण आचार्य कवि केवल हिन्दी काम्यशास्त्र के प्रथम प्रौढ़ आचार्य होकर भी अपने पीछे अपने सिद्धान्तों की अलख परम्परा नहीं छोड़ सके, महाकवि मतिराम उसके सर्वथा मुक्त रहे। 'रसराय' अपनी सरस एवं सरलतम सैद्धी और सीधे सादे बचन-क्रम के कारण परबर्ती हिन्दी कवियों के लिये अनुसरण की बलु बन गया। मतिराम के पीछे नायिकभेद सम्बन्धी रचना करने वाले अधिकांश कवियों ने 'रसराय' की वर्णन-प्रवृत्ति को सामने रख कर रचनाएँ की हैं। मंगल-धरम और प्रार्थना के पश्चात् प्रव्यास्य में मतिराम ने सिद्धान्ततया स्वीकार किया है कि नायक और नायिका ही शृंगार के व्याख्यान हैं जिसे देखकर चित्त में रस का संचार होता है।^१ तत्पश्चात् उन्होंने कर्म के आधार पर स्वकीया, परकीया और गनिका (गविका) नायिकाओं के तीन भेद माने हैं। इन्होंने स्वकीया के तीन भेद मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा का वर्णन करने के पश्चात् मुग्धा के उपभेद अलख और झलत बीवना का उल्लेख कर झलत बीवना के अन्तर्गत नवाददा तथा मिथम्भ नवाददा का वर्णन किया है। मतिराम ने मध्या और प्रौढ़ा के भीरुभि भेदों को छोड़कर उनके अन्य किसी उपभेदों का उल्लेख नहीं किया है। स्वकीया प्रकार की समाप्ति कवि ने ज्येष्ठा, कनिष्ठा नायिका का वर्णन करके किया है। उदा और अमृदा परकीया के दो भेदों का वर्णन करने के पश्चात् उन्होंने रति-किया के आधार पर उसके गुप्ता आदि छ मयों तथा चार उपभेदों का उल्लेख किया है और अन्त में गविका का वर्णन कर कर्म के आधार पर किए गए नायिकाओं के भेद उपभेदों का वर्णन समाप्त

१. होत नायका नायकहि आहम्भति शृंगारः।

छातें बरयो नायका-नायक भति अनुसार ३३३

उपलत आदि विबोधि के चित्त बीच रसराय।

छाहि बलानत नायका, ल प्रवीन कविराय ३५३ —रसराय

कर दिया है। इसके परवान् अन्य संयोगदुःखिता के प्रेमगर्हिता, रूपगर्हिता तथा मानवती तीन प्रकार और प्रेषित-यतिष्ठा, लज्जिता, कसूरन्तरिता, विप्रलुम्भा, उत्कटिता, वासकृत्या, स्वाभीन-यतिष्ठा, अमिष्टारिका, प्रवन्धित प्रेयसी तथा आगत-यतिष्ठा इस प्रकार के नायिकाओं का वर्णन अवस्था-भेद के अनुसार करके गुण अथवा स्वभाव के आधार पर उत्तमा, मध्यमा और अधमा तीन प्रकार की नायिकाओं के कथन के साथ 'रसराज' में नायिका-भेद की समाप्ति की है। इन नायिकाओं को मुग्धा, मध्या, मीमांसा, परचीया और धामान्या उपभेदों में विभाजित किया गया है।

परिभाषा

कुछ विद्वानों का कथन है कि 'रसराज' की प्रमुखाता काव्य ग्रन्थ ही कहा जा सकता है, शास्त्र ग्रन्थ नहीं।^१ इस संकीर्ण दृष्टिकोण को सम्मने रख कर इन लोगों ने रसराज में दिए गए कथनों में दोष निष्काखने का भी प्रयत्न किया है। ऐसे सटीक निर्णय की मायमा का हम कभी भी रसराज की सहायुगृति पूर्व की गई व्याख्या के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते जो किसी भी मीमांसा काव्य के लिए अपेक्षित है। इसी बात को हम दूसरे रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं जो निरिषत ही कवि की प्रतिष्ठा के अनुरूप है। महिराम का कवि उनके आचार्यत्व से भाग है। वे कवि प्रथम आचार्य बाद में हैं। इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि उनके आचार्य होने के गुण वर्तमान नहीं थे। डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है 'महिराम के दृष्टान्त महत्वपूर्ण नहीं, हाँ, उदाहरण अत्यन्त बड़े सरस, कोमल, कस्तुर्यायुक्त और छलित हैं। नायिका की परिभाषा यह हो है, उपरत आदि बिलोकि के पित्त बोध रस भाव। यहाँ पर जिससे रस के रस और भाव उत्पन्न हों, वह नायिका है। यह दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि शत्रु को देखकर क्रोध का भाव उत्पन्न होता है उसे नायिका कौन कहेगा। रस का तात्पर्य मधुर, सरस, कोमल ही होना पड़ेगा।^२ विद्वान् लेखक ने बिल मधुर, सरस और कोमल गुण की अनिवार्यता प्रतिपादित की है वह गृह्यार रस का अनिवार्य अर्थ है बिलका उत्प्रेक्ष्य कवि ने ठीक उत्तर कर ही किया है बिल पर संभवतः विद्वान् ने उपरत की दृष्टि रखी है।^३ उन्होंने गृह्यार का एकमात्र आशयन नायक-नायिका को ही माना है। अपने सुन्दर अर्थ-वर्थ से रसदास को छलित करने वाली, आशययुक्त नयनों में सरल दिव्यतमसी चितवनों के साथ सुरम्य की मधुरिमा से मायक की स्वरूप करने वाली तथा जिसको जितनी ही निकट से देखने का प्रयत्न किया जाय, उत्तम सुन्दरता उतनी ही अभिजातिका बढ़ती जाने वाली है, ऐसी ही सुन्दर की को नायिका कहते हैं।^४

१ डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी-रीति-साहित्य, प्र० से, पृ० ७३।

२ वही।

३ होत नायक नायिका आशयित मीमांसक।

उत्तम वर्णों नायक-नायक मति अनुसार ३७३ —रमराज

४ सुन्दर को रंग कीकी की, शब्दके अति अर्थन बाद गुराई।

प्रतिनिध में अकसावि चितवी में मनु विद्वान् की सरगाई।

नायिका-मेद वर्णन

'रसराज' के अन्तर्गत आए हुए वर्णन-क्रम को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि नायिकाओं की मनोरथाओं का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण करने की क्षमता रखने वाले महाकवि मतिराम की रचि उनके वर्णन-क्रम को वैज्ञानिक ढंग से समझकर रखने की ओर नहीं गई, बल्कि साधारण पाठकों का थोड़ी कठिनाई हो सकती है। हम सुविधासुधार आगे चलाकर उन्हें वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे।

स्त्रीया

नायिकाओं की श्रेणी में स्त्रीया का स्थान प्रथम है किन्तु मतिराम स्वयं के चरमों में अनुपपन्न रहने में ही सीता है। इसका पति अत्यन्त माम्मछाही होता है। वह नायिका अत्यन्त उन्मादीया तथा पतिपरयया होती है। इसका अतिरिक्त यह स्वभाव से ही सुधीय एवं व्याहता होती है जो अपने पतिदेव के महत्त्व को यथोचित जानती है।

मुग्धा

यह मेद बय-क्रम के आधार पर किया गया है। इसकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं। जिस नायिका के शरीर में जीवन का अमिनक आगमन हो रहा हो उसे मुग्धा कहेंगे। इस अवस्था को प्राप्त होने वाली नायिका के कपोलों पर मीठी मुसकान की हल्की सी रेस दौड़ जाती है तथा यदि आपस के स्थान पर वह गलती मीसर गति वाली चाल ग्रहण करने लग जाती है। उठेजों के थोड़े बड़ जाने के कारण बस पर पड़े नायिका के बचल अस्वामाधिक रूप में कुछ-कुछ उमड़े से प्रतीत होने लग जाते हैं। नेत्रों की मंमिमा में थोड़ी विषादता आने लग जाती है तथा बालों में स्वारस्य आ जाता है।

(क) अग्रस्त यौक्ता

जब तक इन परिवर्तनों का ज्ञान नायिका को नहीं हो पाता तब तक वह अग्रस्त जीवन नायिका की अवस्था में रहती है, किन्तु यह अवस्था अधिक दिनों तक नहीं रह पाती और शीघ्र ही उसे प्रात जीवन का अनुभव होने लग जाता है।

(ख) अग्रत यौक्ता

इस अवस्था में पहुँचकर नायिका अपने जीवन-आगमन से पूर्ण परिचित होकर लक्ष्मी की ओर बचाकर लक्ष्मीपि करने लग जाती है तथा उसके प्रत्येक निश्चित अंगों में एक अद्भुत चमक आ जाती है। पानी पर पड़ी काँच की मीठी छरकपन दूर हो जाता है और स्वच्छ बल की मीठी छीन्दर में निरतार आ जाता है। इसकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं जिनसे 'नवोदा' तथा 'नवोदा' के बाद की अवस्था को एक प्रकार से उछी का उछेद है, विभक्त नवोदा करते हैं।

कोविद मोह विहात नहीं, 'मतिराम' छोड़े सुखकामि-मिहार्थ।

म्यों म्यों मिहारिप मेरे द्वे, मैगवि, मों-र्यों ली निहारे-सी मिहार्थ ॥१॥ —रसराज

(ग) मृगोदा

यह मृगोदा अज्ञात जीवन के बाद भी अवरुद्ध है जिसमें नायिका भी और छत्रा के कारण पति के साथ रह नहीं करना चाहती। अब इसका कि वह रतिरिक्ता के परिणामों से अपरिचित रहती है और अज्ञात इसका कि वह पहले-पहल पुरुष के संसृष्ट रूप में प्रसूत होती है। यह अत्यन्त पवित्र एवं अछलयोगि नायिका होती है, किन्तु रति-रक्षा का प्रादुर्भाव उसके मन में हो चुका रहता है।

(घ) विप्रसन्न मृगोदा

छाहचर्य के कारण धीरे-धीरे नायिका का मन घूर हो जाता है और वह चाहा बहुत प्रियता पर अब विस्वास करने लगा जाती है किन्तु अज्ञात का कुछ भय रोप रहता है तो उसकी स्थिति नवादा के उपमेय विभक्त नवादा की ही होती है। यह वह अवरुद्ध है अब नायिका इस घट पर नायक की सेवा पर जाने को तैयार हो जाती है कि वह उस पर हृषिकर के रति संबंधी बना नहीं करेगा।

मृगोदा

मृगोदा नायिका अपनी प्रसूत अवरुद्ध को धीम पार कर ऐसी स्थिति में पहुँच जाती है जहाँ वरमं अज्ञात और काम की भाषा समान होती है। इसे नायिका को मृगोदाया कहते हैं जिसमें सुन्दरी श्रीदा-मवन की देखी पर राखी होकर नायक की प्रतीक्षा करती है। हृदय में काम-सुखमा का बितना प्रमाण आ जाता है, अज्ञात के समान सुन्दर नेत्रों में अज्ञात की अपनी ही रोप रहती है।

मृगोदा

नायिका भी वह अवरुद्ध मृगोदाया से भी धीम समाप्त हो जाती है जिससे अज्ञात काम में ही नायिका स्वपति के साथ रति-क्रीड़ा की समस्त कलाओं में सर्वज्ञ होकर मृगोदा का स्वरूप प्राप्त कर लेती है, जिस समय वह निज पति के साथ काम-करिदा में स्वच्छन्द रीतिरिक्ता करती है। वह संपूर्ण रात्रि बग कर नाना प्रकार की मनोहर काम-क्रीड़ा कर लेने पर भी संतुष्ट नहीं हो पाती और प्रातः आगमन के कारण पति को श्रीदा-स्वस से प्रमाण करता देत कर हृदय में अत्यन्त दुरी होती है जिससे उसका अन्तरात्मा सुन्दर जाता है तथा वह जाते हुए पति के अन्तरात्मा एवं अन्तिमान शरीर का एकत्र देखती रह जाती है। नारी मुख्यतः उसकी सभी अंग पूर्ण विकसित हो जाते हैं तथा कुछ की कठोरता तो इस सीमा तक पहुँच जाती है कि उसे आस्थिमान पात्र से मुक्त कर देने पर नायक का कुछ कलक तक ऐसा अनुभव होता रहता है कि नायिका के कठोर कुछ अभी तक बरतन पर पूर्ववत् ही पुगे हुए हैं।

मृगोदा-मेघ

मैंने ऊपर ही स्पष्ट कर दिया है कि मृगोदा अवरुद्ध तक पहुँचते-पहुँचते नायिका के अन्तर काम-भाव का संसार हो जाता है और प्रातः अवरुद्ध तक तो वह रति-कलाओं में

व्यक्त प्रतीय ही हो जाती है, जिससे उसमें 'मान' प्रकट करने के कौशल का आगमन भी हो जाता है। उसकी इस मान-सम्बन्धी तीन दशाएँ हैं, जो मध्या और मीढ़ा में समान क्रम से पाई जाती हैं।

(क) मध्या-धीरा

इस अवस्था में नायिका अपनी उक्तियों के द्वारा पति पर अपना बल होना प्रकट कर देती है। वह अत्यंत कठोरता के साथ नायक के अपराधों पर पड़े पर ली क दन्त-चिह्नो को जो रख कम जाने के कारण काँसे पड़ गये हैं देखकर उन्हें अपराधों पर बैठे भ्रमों की संज्ञा देती है और नायक से उन्हें उड़ा देने का आग्रह करती है कि जिससे वह उनके अपराध से क्वचाय। इस प्रकार मर्यादा की रक्षा करती हुई नायिका की उक्तियों को सुनकर नायक को स्पष्ट हो जाता है कि उसकी पत्नी का उसका परस्त्री-गमन शत्रु हो गया जिससे उसने स्वामाविक मान किया है।

(ख) मध्या-अधीरा

मर्यादा की भी सीमा होती है। जब प्रादुर्बल उक्तियों के कथन से नायक सीधे रास्ते पर नहीं जाता तो नायिका अपने बल होने पर प्रमाण कर्तव्य दृष्टियों के माध्यम से देती है। नायक के हठार बार सीमन्त जाने पर भी नायिका उसे फुकार ही बताती है और उसे उसी ली के पास खीट जाने की आज्ञा देती है जिसकी पूर्णियों के बिना उतक पीठ पर, उन्वोनों के बिना मुखाओं पर तथा कुक्षों में सगे कुक्षुम की रूप उसके वक्षस्थल पर आच्छिन्न देने के कारण स्पष्ट हैं। जिससे वह उसके वक्षस्थल का तिरस्कार कर, उसकी प्रेमपूर्व बातों से उदास होकर, मान के कारण रति-दान की बलीकृति प्रकट करती है।

(ग) मध्या-धीराधीरा

पतिपरायणा होने के कारण अधिक काळ तक मान संभव नहीं रह जाता, किन्तु परस्त्रीगामी पति के स्वभाव में भेद न आने के कारण नायिका कुछ बातें करके फिर अपने को संभाव नहीं पाती और राने लगती है जो ली का अंतिम व्यञ्ज है। नायक जानना चाहता है कि उसकी पत्नी ने किस कारण मान किया है जिस पर इतना ही वह करने का अवसर पाती है कि 'तुमसे कोई क्योंकर मान करेगा? अर्थात् तुम्हारे सामने मान करने से भी कोई शर्म नहीं और तत्पश्चात् उतक कमलमल नेत्रों में अश्रु-जल छलकता आते हैं।

(घ) मीढ़ा-धीरा

मध्या अवस्था को पार करते ही नायिका बेयश कथन-वास्तु से मान ही प्रकट करके संतोष नहीं करती बल्कि वह इस दशा में नायक की क्षुब्ध मन मानी परराय-गमन के कारण स्वपति के साथ रति-कीड़ा करने से ही निरक्त हो जाती है और किसी प्रकार की बातें नहीं करती। पति के साथ वह पत्नी सुखम तमी व्यवहारों को प्रकट करती है, किन्तु नीरसता के साथ जिससे पति को किसी प्रकार का आनन्द नहीं आ पाता। इस कारण वह उतकी नीरस सुखान को देखकर ठाढ़ जाता है कि उसने मान किया है। नायिका की इस मूक एवं मार्मिक बेरना का नायक के ऊपर प्रभाव पड़ता है और वह उतक वयोमूढ हो जाता है।

(ख) प्रीति-अप्रीति

नायिका की मूक स्पर्शमयी करुण भागी का जब प्रभाव नायक पर नहीं पड़ पाता तो वह उसे प्रीति भयभीत भी करती है, किन्तु तत्पश्चात् ही वह अपनी कामुक चेष्टाओं से उसे आकर्षित भी करती है, क्योंकि कामागुण होने के कारण वह स्वयं भयभीत भी रहती है कि दीर्घ मान के कारण कहीं वह रति प्रीति से वंचित ही न रह जाय।

(ग) प्रीति-भीति-अप्रीति

जब नारी पुरुष की कामुकता से परिचित रहती है तो वह उसकी दुर्बलताओं से डर उठती है। वह रति प्रीति से अपनी विरक्ति दिसाकर पति को इसलिये धमकाती है, कि वह अपनी कामुकता के कारण अवश्य ही उसका मान भी रखा करेगा। पति परधन होने के कारण पति आगमन पर वह उसका अभिवादन ही अवश्य करती है, किन्तु क्योंकि वह उसकी मुखों का पकड़ कर आश्रित पाश में उसे बाँधना चाहता है तभी नायिका के नेत्र क्रोध के कारण आलस हो जाते हैं।

ज्येष्ठा-कनिष्ठा

पुरुषों के लिये अनेक व्याह की दृष्टि है जिससे एक से अधिक स्वरूपों के होने के कारण नायक के लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वह अपना समान प्रेम सब पर रख सक। कम-गुण में मेद होने के कारण प्रेम की भाषा में मेद का आना स्वाभाविक है। शिल सीमावर्ती की प्रिय के प्रेम का अधिकार प्राप्त रहता है, वह ज्येष्ठा और जिसे अस्वाद्य प्राप्त रहता है, उसे कनिष्ठा कहते हैं। वह मेद प्रेम की भाषा की आधार मानकर किया गया है, न कि वय का। वय की छाती ज्येष्ठा और बड़ी कनिष्ठा हो सकती है।

अन्य संयोग दु नित्य

कभी-कभी ऐसी भी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि नायिका अन्य नायिक के रति चिन्हों को देखकर अपने पति के परकी गमन का अनुमान लगा लेती है। नायक के चली जाने पर रति चिन्हों को देखकर उसका परकी गमन के अनुमान से नायिका को जो दुःख होता है उसका वर्णन बीरवि मेद और रात्रिता में किया है, किन्तु नायक की प्रेम्ण जब स्वयं नायिका के सम्मुख उपस्थित हो और वह भी नायिक की सखी या दूती हो तब उसकी मनाइया किछ प्रथम की होती है, जो वर्णन अन्य संयोग मुद्रिता में किया है। वह अपने सखी के कुहल पर मन ही मन कुहली ता है, किन्तु ऊपर से अत्यन्त प्रथम करते हुए बाद बचनो हाथ ही अपने माथ प्रकट कर पाती है। वह ऊपर से सखी के बात बनाने के रतिचिह्न की राह देती है और प्रभाव में उनके रति मर्दन के कारण अस्त-मस्त रूप, दीर्घ उल्लास तथा शरीर पर अम के कारण आए अम किन्तुभी की अर संकट करके उसका पर पुरुष गमन की चरणा करती है जो उत्तम ही पति है। देवी स्थिति में नायिका करना की मूर्ति बन जाती है, क्योंकि सखा को अन्तरंग होने के कारण करना कीमती नहीं बना पाती।

प्रेमार्पित

जिस नायिका को अपने पति का सम्पूर्ण प्रेम प्राप्त रहता है वह उसके प्रेम का सर्व हठपटी हुई औरों पर प्रकट करती है, जिनको उसके समान सीमात्म्य नहीं प्राप्त है।

रूपार्पित

नायक को अपने रूपार्पित के कारण वहाँ में रखने वाली नायिका अपने रूप पर हठस्त्रिमे पर्व करती है, कि उसीके कारण वह नायक से शुष्कमी करती है, क्योंकि उसके मोड़ा मान करने पर भी वह उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करने क्षम्य जाता है।

मानसवी

नायक का अनुपम स्वरूप भी कभी-कभी नायिका के मान का कारण हो जाता है, क्योंकि उसकी ओर आकर्षित रहने वाली स्त्रियों को देखकर उन पर भी नायक के आकर्षण का वह अनुमान कर लेती है जिससे उत्पन्न ईर्ष्या के कारण प्रियतम से मान कर बैठती है। स्त्रियों प्रियतम के स्वरूप को होती उद्दण्ड कर नायक को निर्दोष उद्दण्डने का प्रयत्न करती है।

स्वाधीन पतिक्र

पति-पत्नी तथा नायक-नायिकाओं की प्रेम-व्यवस्था के आधार पर भी मतिराम ने नायिकाओं के इस भेद स्वीकार किये हैं। जब नायक अपनी पत्नी पर इस प्रकार अनुरक्त हो जाता है कि वह पूर्णतः उसके कधीभूत हो जाता है तो उसे स्वाधीन पतिक्र कहते हैं।

(क) सुखा स्वाधीन पतिक्र

इस प्रकार जिस नायिका का पति आरम्भ में ही उसके रूप, गुण पर मुग्ध होकर सदैव उसके आधीन रहता है, उसे ही स्वाधीन पतिक्र नायिका होने का सीमात्म्य प्राप्त होता है। नायक निरन्तर नायिका के जीवन-व्योक्ति-चिन्तु को धाढ़ करता रहता है और वह इस कल्याण-मय से मरी जाती है कि छोड़ यह कहेंगे कि उसने अपने पति को कभी से ही शुष्क बना रखा है। जब सुखावस्था में ही नायक की अनुरक्ति इस सीमा तक पहुँच गई है तो पूर्वजीवन का जाने पर क्या स्थिति होगी। नायक-नायिका का धारा गृहगार अपने ही हाथों करता है।

(ख) मध्या स्वाधीन पतिक्र

वह के अनुसार जैसे-जैसे सीमार्थमयी नायिका का रूप और चित्तने क्षयता है और जहाँ जहाँ आकर्षण उत्पन्न हो जाता है कि उसका पति अन्य भेद मुन्दरियों को मुखाकर प्रकटमात्र कही पर करूँ हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में नायिका का विद्याक रसीते पूर्व नायक वयस प्रिय के द्वार में स्थायी निवास बना लेते हैं।

(ग) मोड़ा स्वाधीन पतिक्र

पूर्व जीवन को प्राप्त आभूषणयुक्त नायिका के सौन्दर्य को देख कर वह तली आदि को भी नायक को आधीन बना लेने की नायिका की शक्ति पर संविह नहीं रह जाता कि उसकी यही व्यवस्था उसके आकर्षण एवं उत्तक प्रमाण का परम विन्दु है।

वासुदेवसञ्ज्ञा

जब नायिका को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि उसका पति आज उसके पास केसि-मवन में अवश्य ही आयेगा तो वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए साध-मृगार और संयोग कामी एकत्रित करती है।

(क) मुग्धा-वासुदेवसञ्ज्ञा

कला के कारण कलियों की दृष्टि बनाकर नायिका अपने लगे केसि-मवन में सभी सजाई घाया पर डेटकर आसक्त आनन्द का अनुभव करती है। दृष्टि इसलिये बचाती है कि वह प्रिय मिलन उसके जीवन का प्रथम अवसर है।

(ख) मध्या-वासुदेवसञ्ज्ञा

इस अवस्था तक काम भावना कुछ तीव्र हो जाती है जिससे आभूषण आदि धारण कर अधिक उत्साह के साथ शृंगारिक कवियों के प्रदर्शन के साथ नायिका पति की प्रतीक्षा करती है, किन्तु कला का भ्रष्ट रूप रहता है। वह अपने ही प्रतिविम्ब की देखकर पीक जाती है।

(ग) प्रौढ़ा-वासुदेवसञ्ज्ञा

काम भावना के आधिक्य के कारण नायिका दिन से ही अपना केसि-मवन रूप आदि से सजाने लग जाती है। उसका दिन बड़े कष्ट से बीतता है, जिससे ठंड दिन, ठंडे दिन अधिक बड़ा मन पड़ता है। अधिक प्रतीक्षा के कष्टों का सहन न करने के लिये वह दूती द्वारा पति को बुलवा देती है जो नायक से जाकर उसकी उत्प्रेक्षाओं तथा सौन्दर्यगुण आभ-मृगारों का वर्णन करती है।

उत्कण्ठिणी

इतनी पैवारियों के बाद भी जब नायक उसके पास अभी नहीं आया तो उसकी उन्मुक्तता और बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में पूर्ण निश्चित संकेत स्थल पर नायिका पहले पहुँच जाती है और प्रिय का अभाव उसके चित्त का कारण बनता है।

(क) मुग्धा-उत्कण्ठिणी

नायिका संकेत स्थल पर पति का अभाव देखकर उसके परस्त्री ममन का अनुमान कर चित्तकुल अवस्था में सभी सेत्र पर गिर पड़ती है और अपनी बेजना सजियों तक का भी नहीं सुना पाती। ज्यों-ज्यों रात व्यतीत होना लगती है त्यों-त्यों उसका दुःख र्धम होने लगता है।

(ख) मध्या-उत्कण्ठिणी

कलागुल नायिका जब पति के लिये दरवाजा खोलते-खोलते आसक्त निराश हो जाती है तो वह अपनी मर्मवेदना 'अध निचरे' शब्दों में लगी से निवेदित करती है जो ठगकी अवस्थाओं से जाकर नायक को परिचित कराती है और नायक से यह कहकर र्धम पर जाने का हुक्म देती है, कि यदि वह तत्काल नहीं आता तो बाद में पति पढ़कर मैं जलका प्रसन्न नहीं कर सकेगा।

(ग) प्रौढ़ा

नायक को नायिका की उत्सुकता से अवगत करने काई हुई सखी भयवा दूती बरती रहती है कि यदि नायक भीम उसके पास नहीं पहुँचा तो इत निम्न के लिये वह ही दायी ठहरेगी पावगी जिससे बीतती हुई नायिका की बार संकेत करती हुई वह आग्रह करती है कि यदि नायक अभी-अभी नायिका के पास नहीं खल जाता तो उसे शेष सम्पूर्ण रात्रि प्रसन्न करते ही बीतेगी और वे रति पुल से वंचित ही रह जायेंगे ।

अभिसारिका

कामार्थ नायिका प्रतीक्षा एवं उत्सुकता की जब सीमा छोड़कर रतिक्रिया के लिये स्वयं पति के पास खल जाती है तो उसे अभिसारिका कहते हैं । इसका वह जाना जबस अपनी इच्छा से भी हो सकता है और पति के कुम्भने पर भी हो सकती है । मुग्धा अभिसारिका सखी द्वारा सबाकर पति के पास के काई जाती है, मय्या अभिसारिका के लिये सखी की आग्रहकता नहीं पड़ती, वह स्वयं अपना शृंगार करके पति से मिलने जाती है, किन्तु उसके पांव में लम्बा की धोबी और प्रेम का अंकुश समान रूप से होता है तथा प्रौढ़ा अभिसारिका अपने अंगों को पूर्णरूपेण सबाकर बिना किसी सखी आदि की सहायता लिये ही दातों से बिछा को दबाने दिसते कि कमर की करवनी कहीं बल न बाध और गुनबन खेमों का उसके सीढ़ियों का चढ़ना कहीं बाध न हो जाय, पति से रतिक्रीड़ा के लिये मंथर रात्रि के साथ अचारी पर चढ़ती है । अन्धेरी रात्रि में नायिका जब अपने को अन्य लोगों की आँखों से छिपाने के लिये काळे वस्त्र पहन कर अभिसार के लिये जाती है तो उसे कृष्णा और जब साँझी रात्रि में प्रसन्न वस्त्र धारण कर जाती है तो उसे चन्द्रामिसारिका कहते हैं । दिवामिसारिकाएँ भी होती हैं, किन्तु स्वकीया नायिकाओं में इनके होने की संभावना इसलिये कम रहती है कि उन्हें रात्रि काळ में रतिक्रीड़ा की सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं । मतिराम ने तो स्वकीया नायिका में कृष्णा, चन्द्रा, दिवामिसारिका आदि किसी का भी वर्णन नहीं किया है, क्योंकि इनकी सम्भावनाएँ निमित्त ही कम हैं ।

विप्रसम्भा

जब अभिसारिका संकेत स्वच्छ पर प्रिय से मिलने भयवा अभिसार के लिये जाती है और वहाँ प्रिय का सम्मान नहीं हो पाता अर्थात् उसका अभाव रहता है तो उसकी उत्पन्न मानोरथा को विप्रसम्भा कहा गया है । यह नायिका विरह की तीव्रता का कारण अपनी बेतना ला देती है । मुग्धा-विप्रसम्भा सखियों का आग्रह पर उनका मन रखने के लिये छोट्ट रहस्य पर जाती है और नायक को न पाकर दुःखी होती है । उसका सारा धन-रंग सखियों का बीच किरकिरा हो जाता है और वह मीन धारण कर छेती है । मय्या-विप्रसम्भा सखियों को नायक का न मिलने पर क्रोध भरी दृष्टियों से देखती है, कुछ बोलती नहीं । उसका सारा दुःख-विचार भूख जाता है और आँखें आँसुओं से छलछल जाती हैं, किन्तु मिरते नहीं । इसका अतिरिक्त प्रीति-विप्रसम्भा का मुख पीथ पड़ जाता है, उसकी आँखें से आँसु मिरने लगे जाते हैं तथा शरीर में शिथिलता आ जाने का कारण आसुओं के कारण

ही कथ्या की धूमिली भी नीचे गिर जाती है अर्थात् गुरु के सभी अक्षय पूर्वत प्रकट हो जाते हैं।

संविता

सर्वप्रथम नायिका नायक के लिए व्याकुल रही, किन्तु वह रात्रि समाप्त होने पर ही छीटता है, क्योंकि वह किसी अन्य नायिका के साथ कसि-कोड़ा करता रहा। माता का आये हुए नायक के शरीर पर परस्त्री रति के निशानों का देखकर नायिका अत्यंत दुःखी होती है। मुग्धा संविता अपने पति को परस्त्री के साथ अनुपम प्रकट करता देखकर सभी प्रकार के मनोद्वन्द्व से उदास हो जाती है, कारण पूछने पर भी उल्लिखित से कुछ नहीं कहती। उसकी इस अवस्था का वर्णन नायक ठक उल्लिखित ही पहुँचाती है, कि वह मोक्षी नायिका मान क्रिया से अनभिज्ञ होने के कारण मन में ही मलमल-मलमल कर रो तथा दुःख सहन कर रही है। सदैव शीघ्र हटाने रहती है तथा हाथ-पाँव के नखों से टूटती पर चिढ़ बनाती हुई मन की अस्थिरता प्रकट करती है। मान करने का अस्वस्थ होने के नाते केवल मृदुलियों का वेदापन उसका रोष प्रकट करता है। मन्वा संविता केवल मृदुलियों का नकार ही संतोष नहीं करती और न उसे उल्लिखित की सहायता की ही आवश्यकता होती है। वह नायक के शरीर पर विस्तारित रहने वाले परस्त्री रति के प्रत्येक निशानों की ओर संकट करके व्यंग्य करती है और अपने पैरों पर पड़े हुए नायक का जो दिन में सोया है, रात्रिभ्रम में अन्य नायिका के पैरों पर पड़ने के कारण उपाध्यम होती है। प्रौढ़ा दिन में आये हुए पति का पूर्ण अभिमान करती है जिससे सर्वप्रथम नायक का उसके मान का अनुमान नहीं लगता। वह अत्यंत शत्रुता होती है और आंतरिक भावों का व्यनहारों में प्रकट नहीं होने देती, किन्तु चोली के कसे हुए उसके रूप उसके मान को नायक पर पूर्णतः प्रकट कर देते हैं, क्योंकि अभिमान का ल में शिथिल करने एवं दोले अंगों के साथ ही मिथने पर नायक रति-कसि को और बढ़ता है जिसका इसमें अत्यंत अभाव रहता है।

कल्यांतरिता

रहिता नायिका द्वारा अपमानित होकर नायक बह सीन जाता, तो बीटने के पश्चात् नायिका को कह जाता है, क्योंकि नायक के प्रस्ताव को टुकरा कर स्वयं भी वह रति गुरु से रचित हो रह जाती है। मुग्धा कल्यांतरिता का गीन की उल्लिखित आदि की अस्त-व्यस्त करते देकर तथा पति के पाँव पर पड़ने पर भी न प्रसन्न होकर जानकर सखियों इच्छिते आश्चर्य में पड़ जाती हैं कि नायिका का गीना आद अभी बहुत थोड़े हो दिन हुआ है, किन्तु उस अभी से रुकने और पछतान की क्रिया का रान कैसे हो गया। मन्वा पौष पदकर तथा अन्य प्रकार की अनक उल्लिखितों से प्रसन्न करने का प्रयत्न करने वाले पति का विरहवार कर बाद में पश्चानाव करती हुई पति के सारे प्रयत्नों का दुर्गति हाकर सगो रो वर्णन करती है और उस मना स्थान का आग्रह भी करती है, और यह कार्यवाही करती है, कि वह नायिका का माम नायक के सामन न उ जिससे लगता है कि मान की मात्रा औपचारिक रंग से रचना चाहती है, किन्तु निन्दप्रिय रात्री इन्ही रात्र पर जाने के लिए

प्रेरित होती है कि वह आकर नायक से नायिका का ही नाम बतलवायेगी। प्रीति प्रिय के अपमानित होकर झूट जाने पर सखि को भी राणी उड़ाती है कि यदि उसने मान किना था तो उसे ही नायक को रोक लेना चाहिए था।

प्रवत्सलप्रेमसी

एह-कछह या अन्य कार्यों से जब पति परदेश जाना चाहता है अथवा नायिका स्वयं मायके आदि जाना चाहती है तो नायिका मायी विनोय की अपेक्षा से व्याकुल हो जाती है। उसकी इस मनोरथा की स्थिति को प्रवत्सलप्रेमसी की अवस्था कहते हैं। मुझा प्रवत्सलप्रेमसी इस अवस्था में सखियों के साथ हँसना, लेखना, शृंगार करना तथा खेला आदि छान्द कर दिन रात रोती ही जाती है और पूछने पर बहाना बना देती है कि उसे अपने मायके का स्मरण हो उठा है। सखि उसकी इस अवस्था का वर्णन आकर नायक से करती है कि अभी तो आपने पकने की चर्चा पर ही की है जिससे नायिका की यह स्थिति हो रही है, यदि कहीं आप जते ही आँखें तो वह आपके प्रथम-प्रथम होने वाले विनोय कर्मों को किस प्रकार सहन करेगी। मध्या नायिका व्योमों में छाया के कारण आँसुओं को रोके हुए सखी से उत्सव उसे नायक के पास से पकने की प्रार्थना करती है। प्रीति नायिका की सखियों आकर नायक से उसकी अज्ञानता की ओर संकेत करती हैं कि कोपनि के समान मुझावरणा तथा किसलय के समान मध्यावस्था में तो वह नायिका का काम रहा जबकि रति-क्रीड़ा में विशेष आनन्द आने का समय नहीं था, किन्तु जब उसका जीवन का परम विक्रम हो गया है और रति-केसि में विशेष आनन्ददायक सिद्ध हो सकती है तो उसका परदेश गमन क्यों की बुद्धिमानी है।

मोहित पतिव्रता

परदेशगमन तथा अन्य किसी कारण पति के परदेश में रहने के कारण विरह में व्याकुल होने वाली नायिका की स्थिति मोहित पतिव्रता की स्थिति कहलाती है। मुझा मोहित पतिव्रता का शरीर विरह दुःख के कारण पीड़ा पड़ जाने से उसके कर्मों को प्रकट कर देता है, किन्तु वह अपने मुख से स्वयं कुछ नहीं कहती। सखियों का बार-बार कहने पर भी न तो वह पान आदि ही ग्रहण करती है और न तो अपने आँसुओं को ही रोकती है। मध्या कर्म का कारण अपना विरह तो सखियों पर नहीं प्रकट करती, किन्तु उसके कर्मों को अन्य भीति से प्रकट कर देती है। संयोग काळ के सभी उद्दीपन उसे कह पहुँचाते हैं जिससे वह सखी का सम्बोधित करक कहती है कि हे सखी। मेरे शरीर में अत्यधिक पीड़ा हो रही है जिससे सुगन्धित वस्तु की भीतलता तीर की भीति कह पहुँचा रही है। प्रीति नायिका कक्षाविरहेक से स्वयं कुछ नहीं कह पाती, उसकी सखियों परदेशगामी पति के सम्मुख आकर उसकी अलन-मुलन आदि का वर्णन करती है।

आगत पतिव्रता

जिस नायिका का पति परदेश से आ जाता है उसे आगत पतिव्रता कहते हैं। मुझा आगे हुए परदेशी प्रियतम को दृष्टि की आद से घर के दरवाजे से अपने कंधों पर शरीर का साथ रखने का किये सौंघती है। मध्या में अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट हो जाती है।

प्रसन्नता में शृङ्गार प्रसाधनों को, फिर प्रियता में देखने तथा प्राप्त करने के लिये सज्जता है। मोड़ा में प्रसन्नता के कारण मोहन का सहा असामान्य प्रसन्न हो जाता है जिससे कामसूत्र उसका कंधुकी आदि के ध्वनन दृष्ट करते हैं।

परकीया

महिराम ने इसके एक उपमेद मान हैं जिनके उदाहरण और कथन दिये हैं, किन्तु परकीया फ नहीं। नायिका के मन में परपुरुष के प्रति प्रेमभावना के उदये ही, वह परकीया हो जाती है।

मुद्रिता

जिस किसी ऐसी बात को नायिका सुन पाती है, जिसके कारण उसको परपुरुष मिथ्य की मुद्रिता प्राप्त होती या वह उस पर कल्पित प्रसन्न हो जाती है। नायिका की इस अवस्था को मुद्रिता कहते हैं।

विदग्धा

विदग्धा नायिकाएँ दो प्रकार की होती हैं। जो नायिका अपनी वचनचालुता के कारण परपुरुष के साथ रति केन्द्र करने में सफलता प्राप्त कर लेती है, उसे वचनविदग्धा और जो अपनी क्रियाचालुता के सहारे परपुरुष दर्शन आदि का आनन्द मरी समा में उदा लेती है उसे क्रियाविदग्धा कहते हैं।

अनुशयन्ता

यह नायिका तीन प्रकार की होती है। उस स्थल के नष्ट हो जाने के कारण वहाँ पर वह परपुरुष के साथ रति-क्रीड़ा करने में समर्थ होती थी, अब उसे बिन्ना होती है या ऐसी नायिका को प्रथम अनुशयना और महिष्य में उस स्थल के नष्ट होने की सम्भावना देखकर जिसे डर होता है उसे द्वितीय अनुशयना कहते हैं। तीसरी अनुशयना उसे कहते हैं जिसका प्रेमी संकेत स्थल पर पहुँच जाता है और उसका संकेत नायिका को मिथ्य लगते हैं, किन्तु नायिका नहीं पहुँच पाती। ऐसी स्थिति में उसका धारे शृङ्गार विदग्धा हो जाता है और अँधों में अँधू चलता आते हैं।

गुहा

यह अत्यन्त पुरा होती है, क्योंकि परपुरुष रति का इसे अवसर प्राप्त हो जाता है तथा अपनी शारीरिक अस्वास्थ्यता की विलसे उसकी रति-क्रीड़ा रण होती है, जो कर्म मनीष हठी पट्टा का वर्णन करके वह उसे विनाश की कक्षा में बानती है।

संशिता

इसके पर-पुरुष प्रेम का उत्तमो उत्तमो हो जाता है जिसे जानकर उसका धीरे में लज्जा की धार हो जाती है।

मुल्लय

इसका प्रेमी पर-पुरुष भी एक नहीं अनेक होत है जिससे वह साथ ही क्रीड़ा का

निरन्तर आनन्द लेना चाहती है। यह अत्यन्त निर्लज्ज होती है। कुर्बों पर से इसके अंगुलि बार-बार खिसका करते हैं।

गणिका

मतिराम ने गणिका के उपमेदों का वर्णन नहीं किया है। ऐसी नायिका का प्रेम पुरुष से नहीं, वन से हुआ है। इसे वन चाहिये जो कोई भी चाहे वन लेकर ऐसी नायिका के साथ यम्य कर सकता है।

अवस्था एवं दशाओं के आधार पर मतिराम ने इन नायिकाओं की भी भेदिकी का वर्णन किया है। यह वर्णन करीब करीब तर्ही प्रकार का है जैसे कि हम स्वामी नायिका के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिख आये हैं। यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप में उनका वर्णन करेंगे और यदि किसी प्रकार का अन्तर होगा तो उसकी ओर भी संक्षेप करने का प्रयत्न मतिराम के वर्णन के अनुसार ही करेंगे। अवस्था के आधार पर महाकवि मतिराम ने नायिकाओं को दस अवस्था भेद किये हैं, उनके अन्दर 'परकीया' और 'गणिका' नायिका का भी वर्णन किया है, किन्तु 'स्वामीया' नायिका की भाँति उनके 'कुम्भा' 'मन्त्रा' तथा 'मौद्रा' तीन भेदिकी का वर्णन नहीं किया है, क्योंकि इस वर्ग में इनके हान की सम्भावना कम है और न तो इनके उपमेदों का ही।

परकीया स्वामी पतिव्रता

इसका नामक उसके प्रेम में बलीभूत होकर उसकी गम्भी का नित्य खबर लगाता करता है। नायिका कुछ मर्वाका के मय से अपना घर-पुरुष के प्रति उत्पन्न प्रेम छिपाना चाहती है जिससे रात-दिन के बीच कुँजों के बीच बड़ी अवसर मिलने, पर मिलन का आकांक्षित होती है और आग्रह करती है कि वह उसकी प्यार सखियों की आँस बना कर ही उसकी गम्भी में दिखाई पड़े। वातकसम्भा की अवस्था में नायिका नामक से मिलने के लिये दैनिक कार्यों को इतकिये धीमातिशील समाप्त कर लेती है जिससे समय से पहले ही घर का काम तो आरंभ और उसे निमित्त समय पर संकेत स्वयं पर प्रिय से मिलने में सुविधा हो। यह अत्यन्त कुण्ठ होती है और दीपक हवा के रस पर इसलिये रस जाती है कि वह धीमे बुल कर अँबेर कर दे और लोगों को उसकी अक्षरता का पता भी न पड़े। 'वातकसम्भा' का वाद की अवस्था उत्कटिता की होती है। ऐसी स्थिति में नायिका संकेत स्वयं पर समय से पहुँचकर न आये प्रिय का असुखतापूर्वक मार्ग देखती है। वह बार-बार उठ कर मार्ग देखने जाती है और पुनः सोट कर बैठती प्रतीला करती है। परकीया अमिसारिकार्य, कुम्भा, 'मन्त्रा' और 'मौद्रा' तीन प्रकार की होती हैं जबकि स्वामी में 'दिवा अमिसारिकार्य' की संभावना कम होती है और मतिराम ने तीनों को नहीं स्वीकार किया है। कुम्भामिसारिका अँबेरी रात में करते वस्त्र पहन कर, मन्त्रामिसारिका चौकी रात में वस्त्र पहन कर तथा 'दिवामिसारिका' सुनहले वस्त्राभूषण पारण करके अमितार के लिये जाती है जिससे दूतरी की आँसों से छिपकर वे पहुँच सकें। घर का वारा कामकाज छोड़ कर तथा साहस करके संकेत स्वयं पर पहुँची हुई अमिसारिका नायक को न पाकर दिख के बैठ जाने तथा कुल के कारण जब अत्यन्त विवर्णमुग्ध हो जाती है तो

उसकी इस स्थिति को विप्रलम्भा की स्थिति कहते हैं । विप्रलम्भा नायिका का जोष जब प्रकट हुए बिना नहीं रहता और वह तानाबनी पर उतर आती है कि कहीं पर-पुरुष अपना हो सकता है । तो इस प्रकार नायक के कच्चे प्रेम अपना बाधे की मर्त्तना करने वाली नायिका को 'लंकिता' कहते हैं । मर्त्तना से आगे बढ़ कर अब नायिका नायक से अपना प्रेम वह तोड़ बैठती है ता सखियों उसकी उन चट्टिनाइयों का स्मरण दिखाकर जिसका उसने प्रेम करके सोचा था, उसके कार्य को भुल बतलवाती है । ऐसी नायिका कलहावस्थिता कहल्यती है । अब नायक भी आपसब होकर अपना अन्य किसी कार्य से परदेष्ट जाने लगता है तो नायिका उसे राखने क छिप राखे में लाकी पड़ा जो मात्रा के लिये अपनाकुन माना जाता है, ठेकर लड़ी हा जाती है कि उससे वह एक साथ । ऐसा वह हलकिए करती है कि मान करने अपना परकीया होने से अक-लम्बा के कारण प्रसूत रूप में रोचना उसका छिप सम्भव नहीं रहता, किन्तु माती विरह क कष्टों का अनुमान कर राखना चाहती है । प्रिय के परदेष्ट चले जाने पर प्रार्थित पठिका प्रेमाकुल हा उत संकेत स्पष्ट का जाती है वहाँ उसने उसके साथ समय किया था तथा उसकी आँखों आँखों से मरी रहती हैं और सखियों से संदेष्ट भेजती है कि ये लखी । उस निष्ठुर से बाकर कह देना कि लम्बा तो उसन पहले ही त्याग दिया था, अब पर मी त्याग चुकी है जिससे कुछ की सारी कामधियों से ललक विमान हो गया है, फलक शरीर भर बचा है वह मी तुम्हारे विरह में त्यागना चाहती है । बड़ी प्रतीक्षा के बाद भीटे प्रेमी से अन्य गौर की स्त्रियों के साथ बाकर मिछ आने वाली तथा किसी अनुरूपरुष उक्ति से एकांत में बैठ कर छेनेवाली नायिका को आगत पठिका परकीया नायिका कहत हैं । परकीया आगत पठिका का उदाहरण मायक से आये प्रेमी ब्राह्मण के रूप में दिया है जिसे नायिक प्री-बाप का समाचार जानने के लिये एकांत में बुझाकर अपनी मनोकामना पूरी कर छेती है, बा अत्यन्त विस्तृत है एवं संदेष्ट बैठ जाता है ।

गणित

स्वाधीन पदिका सामान्या अपवाध पदिका की विरुद्ध रहता है कि उसका प्रेमी अपवाध पाप का पाप बन केवल ठीकी को होता है जिससे वह मान करके उसे अपवाध नहीं करना चाहती और पर का पाप कामकाज छोड़कर कामकाज के कामों में पड़ी रहती है जिससे वह 'वासककथा सामान्या' अपवाध सम्पूर्ण गुरुवर करके सुन्दर साह विजाये तथा सुन्दर उसे मीहो के कन्दनबागों से आने वाले नायक के अभिवादन के लिये तैयार रहती है। वह इससे (उत्प्रेक्षावागिका) प्रतीक्षा अधिक रहने नहीं इच्छी ता वह कामों करने पर के उत्पन्न में रहती है, कामी पण्डित का जाने पर पण्डित के गुरुवर जाने पर भी पण्डित पण्डित है, कामी मार्ग देना चाहती है और कामी कामाती होकर सभी पथ पर इस प्रकार पण्डित है मानो कामदेव से उसे मराद कर देकर दिया है। अन्त में अभिवादन के रूप में रखे वह मित्रों के लिये बस पण्डित है। मतिराम म अभिवादन के उपरान्त का इसका पाप नहीं किया है। परन्तु यह आश्चर्य भी नहीं था, क्योंकि उसे किसी प्रकार की छाया तथा भय का रहता नहीं जिसके लिये उसे रूप बदलना पड़े। अभिवादन के लिये पण्डित

संकेत स्थल पर धनिक प्रेमी को न पाकर यह (विप्रलब्धा गणिका) उसे इसलिये कोसती है कि यहाँ आकर वह अन्य धनिक प्रेमी से भी न मिल सके और उसकी इस प्रकार से आर्थिक हानि हुई ।। संविता अपनी विप्रलब्धा अवस्था की कठिनाइयों का स्मरण कर नायक को पजे में पा जाने पर उसकी शीघ्रता का विस्मय नहीं करती और उसके प्रेम की कसौटी पूर्व वादा किए धन लेकर जाने को बताती है । एक चूक हो जाने अथवा धारे के अनुसार धन न ले जाने के कारण संविता गणिका नायक से विगाड़ कर लेती है जिसका परिणाम यह होता है कि वह 'कलहांतरिता' नायक को निर्दोष समझ कर अपने किए यह 'उसके प्रति प्रेम को बैठी कोसती है' तथा उसके द्वारा दिया गया धन, वैभव एवं सम्मान का स्मरण करके खुसी होती है । प्रस्ताप करती है कि उसे पैर पर सिरे नायक को हँसकर गले लगा देना चाहिये था । प्रवत्सर्गप्रेमसी गणिका परदेश जाते हुए नायक क दुःख में रात, विचार आदि बिगाड़ने का अभिनय दिखावती हुई आग्रह करती है कि यदि नायक परदेश से उसके लिये आभूषण नहीं भजेगा तो वह उसे क्षीयित नहीं पा सकेगा अर्थात् स्नेहसूत्र टूट जायेगी । वह रोकने का इसलिये प्रयास नहीं करती कि उसके द्वारा काम होमा । परदेशी मित्र सहने कावेगा ही और उसके अभाव में दूसरों से भी ऐसे पाँड़ने का उसे अस्वीकार अवसर मिल जायगा । प्रोपितपति का सामान्या धित प्रेमी के धन की कलक से अपने अंगों को सजाती रहती है, वह परदेश में निवास करता है और शीघ्र धन प्राप्त करने की इच्छा से वह उसके आत्मन की कामना करती है । आगत पति का सामान्या के अन्य प्रेमीगण अधिक धन देने वाले परदेशी मित्र के जाने पर उससे उची प्रकार पूर मय जाते हैं जैसे क्रम से मरते । गणिक अधिक धन मिलने की आशा से अपने अच्छे सुखी दिनों की कामना करने का जाती है ।

गुल के आचार पर उसमें, मध्यमा तथा अक्षमा तीन प्रकार की नायिकाओं का वर्णन करके मरिचक ने नायिका-मेह का प्रसंग समाप्त किया है ।

उत्तमा

पति प्रेम करे अथवा न करे, किन्तु पत्नी के प्रेम में किसी भी प्रकार की मूलता न आये जो पत्नी नायिका को उत्तमा नायिका कहते हैं । वह नायिका पति के अपराधों के बावजूद अपना सम्पूर्ण स्वागत उसे हर्ष और प्रशङ्कता से साथ देती है और वह स्वयं उसके अपराधों को क्षाने का प्रयत्न करती है तथा अक्षय मिलने पर भी किसी प्रकार की अपनी अपराध नहीं प्रकट करती ।

मध्यमा

यह नायिका मरिचक के प्रेम करने पर तो उसके प्रति प्रेम प्रकट करती है, किन्तु उसके अभाव में अपराध हो अपना मान प्रकट करती है । इसके अतिरिक्त पति की प्रार्थना पर शीघ्र ही प्रसन्न होकर अपना मान तोड़ देती है तथा पति की पगड़ी आदि स्वयं छीक कर ले का जाती है जिससे उसके परस्त्रीयमन के बिह्वल मित्र जाते हैं । इस प्रकार इसमें दोष नहीं समझी कि प्रेम के कारण उसकी आँखों में अश्रु हुए और प्रेमाश्रु धन जाते हैं तथा प्रेम

के कारण उत्पन्न झट्टिया, अनुराग की लम्बाई में परिवर्तित हो जाती है। वह अपने मान को रक्षायी नहीं बना पाती और उससे पहले रोमांच की अवस्था में उठ आये उसक रोम प्रिय का आदर करके उसक मान का मूल्य को धरा देते हैं।

अपमा नायिका

यह नायिका प्रिय के प्रेम करने पर भी कूटती रहती है जिससे सखियों उसे समझाती हैं कि तरे इस प्रकार के बार-बार कूटने से अर्थात् शीर्ष मान की उष्णता से पारे के समान वृद्ध प्रेम माप की मीति उड़ जायगा अर्थात् प्रेम स्व टूट जायगा।

इस प्रकार आरम्भ में नायिका मेद का वर्णन कर मठिराम ने नायक और उसके उपमेदों का वर्णन किया है तत्पश्चात् दर्शन, सखी मण्डन, उपास्य, परिहास, वृत्ति, अनुमाद, सात्विक, शृंगार तथा हास आदि का विस्तृत वर्णन किया है जो नायिका मेद के ही अंतर्गत लक्ष्यक होकर आते हैं।

नायक

श्रम-कर्म प्रवीण, कवित्त-गीत एवं सरल हृदयी सुरभि सम्पन्न, सुन्दर तथा सजीले मुखा पुष्प को नायक कहते हैं। इसके तीन प्रकार होते हैं जिसे प.व, उपपति और वैयिक कहते हैं।

पति

यह अपनी समस्त मनोरञ्जक दैनिक क्रियाओं को छोड़कर तथा अपने क्वाच शृंगार की उन्मेषा करके घर छोड़ना पसन्द नहीं करता, वहाँ रह कर वह अपनी प्रिया की प्रत्येक भाव-भङ्गिओं की आनन्ददायक माहकता का रस लेना चाहता है। यह नायिका की प्रत्येक मतिविधियों पर सख्य इष्टि रखता है। पति अनुकूल, दक्षिण, छठ और घृष्ट बार प्रथर क हाते हैं। अनुकूल नायक अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य किसी नायिका का हाथ में नहीं भरता जिससे नायिका के प्रेम में निरपराधी पति से कूटने की लाल मन ही में रह जाती है। दक्षिण नायक अपनी सभी पत्नियों पर बराबर प्रेम रखता है। यह अनुकूल नायक की मीति एक पत्नीवत्प्रायी नहीं होता, इसका अनक पत्नियों होती है। इसका अतिरिक्त छठ नायक का प्रेम कपटपूर्ण होता है, वह परजी गमन आदि अवस्थाओं का करने में सक्षम नहीं करता और अपनी अनुकूलता का माध्यम से स्वपत्नी को प्रसन्न रखने का भी प्रयत्न करता रहता है, किन्तु इसका अन्तर पत्नी-भय कुछ दोष रह जाता है। 'घृष्ट' नायक अत्यंत निर्दोष होता है और पत्नी के कूटने को कुछ भी परमाह न करते हुए निर्वेप हाकर परजीगमन आदि पानाचार करता है।

उपपति

यह परजीगामी है और इसे परकीया का उपपति कहेंगे। अपने अर्थों को यह छात्र कर रखता है तथा भिन्नो को आकर्षित करने से सभी कथाओं से प्रतीय हाता है।

वैयिक

गणितज्ञों से प्रेम करने वाले को वैयिक नायक कहते हैं। यह गणितज्ञों के बाध शृंगार पर अनुकूल होकर उनका प्रेमभाव में रूँव जाता है।

गुणमेव

मानी, बचन-चतुर और क्रिया-चतुर मठिराम ने नायक-गुणों के आधार पर तीन भेद और किए हैं। नायिका के योद्धी दौर के लिए मान करने वाले को 'मानी' नायक कहते हैं। इसके प्रतिकूल बचन-चतुर नायक अपनी चतुर बातों में भुलकर नायिका के साथ अपनी मनोकामना पूरी करने का अवसर निश्चय देता है। क्रिया-चतुर नायक अपनी चतुर विद्या से मानप्रिया नायिका को मो गले लगा लेने में समर्थ होता है। इसके सिवा यह भव आदि ऐसे वातावरण उपस्थित कर देता है कि मयमोह नायिका उसके आधिगमपाश में आ जाती है।

प्रोषित नायक

इसके अतिरिक्त मठिराम ने नायिका की भाँति नायक का एक स्वयं प्रोषित नायक भी माना है जो परदेश में रहकर अपनी प्रियतमा के सिन्धे आकुल रहता है।

दर्शन भेद

इसमें मठिराम ने नायिकाओं के ही दर्शन-आकम्पनों का वर्णन किया है जिसे नायक पर भी घटाया जा सकता है। उन्होंने स्वप्न, स्वप्न, चित्र और प्रत्यक्ष चार प्रकार के दर्शन माने हैं। 'सखी द्वारा प्रेषित अपरिचित नायक का तब प्रत्यक्ष रूप नायिका स्वप्न में देखती है या उसे स्वप्न दर्शन कहते हैं।' सखी नायिका के सम्मुख अपरिचित नायक के स्वरूप का जब मोहक वर्णन प्रस्तुत करती है तो उसके प्रति अनुरक्त हो जाने वाली नायिका ऐसा अनुभव करती है जैसे उसने उसे अपनी आँखों से देख लिया हो। ऐसी स्थिति में इसे स्वप्न दर्शन की संज्ञा दी जाती है। सखी द्वारा दिखाए गए नायक के चित्र पर जब नायिका मग्न मुग्ध-सी हो जाती है और उसके लीनसाक्षिक के कारण आकर्षण करती है कि क्या ऐसे स्वप्न वाला नायक मुझे कभी स्वप्न में भी मिल पायेगा, तो इत अवस्था को चित्र दर्शन माना जाता है। नायक को सर्वप्रथम सामने देखकर जब नायिका ओरो की ओर बचाकर किसी प्रकार उसे देख ही लेती है तो उसे साक्षात् दर्शन कहते हैं।

उद्दीप्त

पन्थना, कम्पन, अंगर, जठ, वन तथा बाग-विहार आदि शृंगार-उद्दीपन कार्यों के मन में काम भावना की तीव्रता को उत्पन्न कर देते हैं। सखी और वृत्ति इसके और दो ऐसे भेद हैं जो नायक और नायिका के विरह कष्टों को दूर करने का प्रयत्न किया करते हैं।

सखी के काम

नायिका का शृंगार करना तथा समय-समय पर उपदेश देना, नायक की नायिका के प्रति किए गए अनुचित व्यवहारों के सिन्धे उसे उपायम्य सुनाना और नायिका के साथ परिहास करके उसके मान आदि कष्टों को दूर करना सखी का महत्वपूर्ण कार्य है। यह नायिका की अन्तरंग हस्ती है।

दूती

दूत कार्य में निपुण की को ही दूती कहा जा सकता है। उत्तम, मध्यम तथा अधम इसके तीन प्रकार हैं। उत्तम दूती नायिका के प्रेम तथा विरह का वर्णन नामक से करके दोनों प्रेमी-बनों को मिलान का प्रयत्न करती है। यह सर्वत्र मिश्रमायी होती है और अपने मधुर बचनों के कारण अत्यंत सम्पादक होती है। मध्यमा दूती मिय और अमिय दोनों बातों का प्रयोग करती है। अधमा दूती इच्छा कर बाँट करती है जिससे ऐसा लगता है कि वह स्वयं भी नायक का प्रभावित करना चाहती है।

अनुभाव

वे शृंगारिक संविभाव हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाय कि चित्त में रति भावना का उदय हो गया है। इसका अनुभाव नेत्रों की मंकिमा, इच्छाती हुई बाँध, आकृति की मधुरता, हँसी, खँचखता तथा प्रसन्न मुद्रा के माध्यम से होता है जिसे देखकर नायक के हृदय में नवीन प्रेमांकुर उत्पन्न हो जाता है।

सात्विक भाव

अनुभाव को ही सात्विक भाव कहा जा सकता है। क्षम, स्नेह, रोमांच, सुरम्य, कोप, वैचर्य, आँसू और प्रलय, ये आठ प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने बीमा नामक नवा सात्विक भाव भी ब्रिक्ता है।

शृंगार

नायिका मेद का कथन शृंगार रस के आकम्पन विभाग में ही किया जाता है। इसलिये मतिराम ने रसराज में इसका भी सुन्दर वर्णन किया है। की और पुरुष के रति भाव का वर्णन ही शृंगार वर्णन है। मतिराम ने इसे 'रसराज' अर्थात् रसराज कहा है। इसके 'संयोग' और 'वियोग' दो मेद होते हैं। नायक-नायिका जब प्रसन्न भाव से एक दूसरे से मिलते हैं या उसे संयोग और विछाड़ के कारण जब दुरंगी हाथ हैं या वियोग शृंगार कहते हैं।

छाव

नायक नायिकाओं के संयोग समय में जो स्वाभाविक वेशार्थ अथवा मीढ़ नेत्रादि के विद्यमान-व्यापार स्माधिकारों के आधार से होते हैं, उन्हें छाव कहते हैं। रंजना, विन्दुष, रिञ्जित, विरगाक, छिन्नकैचित्, विभ्रम, लज्जित, मंहाहत, विह्वल और कुहमित, छाव के दस उपभेद होते हैं। कुछ आचार्यों ने 'द्वेष' और 'वचन' नामक दो और छावों का उल्लेख किया है जिससे इनकी संख्या बारह हो जाती है, किन्तु अविवर्धयता आचार्यों ने इनकी संख्या दस ही मानी है और मतिराम ने भी द्वेष तथा वचन नामक छावों का वर्णन नहीं किया है। जब नायिका नायक के भूषण तथा वचन आदि की धीन करती है अर्थात् स्वयं उन्हें पारण करती है तो उसे स्वीका, जब उसकी पाल, नयन मंकिमा एवं दाँदी में कुछ विविधता आ जाती है या दिव्यम, वही याई ही पद्माभूषणों से छाया का आविर्भाव हो जाय तो रिञ्जित, नायिका जब द्रव्यज्जल हावर पर एवं आभूषणों का उच्छेद पारण का

लेती है तो विस्मय, हर्ष, गर्व, अमिषाया, श्रम, हास, क्रोध एवं मय सब एक साथ ही नायिका में प्रकट हो जाते हैं तो किञ्चिद्विधित, वहाँ परस्पर संवाद को रोककर नायिका नायक के आस्मिन् की कम्पना करती है तो वहाँ मोहावृत, नायिका के मुख और मुख के स्पर्श रूप से प्रकट होने पर कुहमित, अमिमानी नायिका के द्वारा नायक के अनादर होने पर विस्वाङ्क, नायिका के सरस अंगों के आभूषणों एवं प्रसाधनों से शय जाने पर अक्षित और प्रिय के निष्कार होने पर भी सब नायिका की मनोकामना नहीं पूरी हो पाती तो विहित हास की उत्पत्ति होती है।

विमोह शृङ्गार

प्रेमी और प्रेमिका सब एक दूसरे के प्रति अनुरक्त रहने पर भी परस्पर नहीं मिल पाते तो वहाँ पर विमोह शृङ्गार की उत्पत्ति होती है। विमोह शृङ्गार की उत्पत्ति के 'पूर्वा' नुराग, 'मान' और 'प्रवास' तीन मुख्य कारण हैं किन्हीं विमोह शृङ्गार के भेद भी करते हैं। भेद वर्णन

प्रथम दर्शन अवस्था रूप गुण अवस्था के कारण नायक अवस्था नायिका के मन में सब प्रेम उत्पन्न हो जाता है, ऐसे नायक अवस्था नायिका के प्रति विसर्जन न तो कभी का परि धेय है और न तो मिलप ही, तो ऐसे उत्पन्न अनुराग को पूर्वानुराग कहते हैं। संयोगकाळ में सब नायिका अपने नायक के मुख से अन्य नायिका आदि का नाम सुन लेती है अवस्था उसे परस्त्री की ओर देखते देख लेती है तो उसकी स्वामाविक अग्रसन्नता को 'मान' करते हैं। प्रथम के आधार पर 'अमु', 'मय्यम' और 'गुरुमान' मान के तीन भेद किये गये हैं। अमु मान क्षणिक होता है जो तत्क्षण छूट जाता है। यह नायिका के मन में चंद को पर नारी की ओर देखते समय उत्पन्न होता है, मय्यम मान अमु मान से अधिक समय के लिए होता है जो संयोग काळ में नायक के पर नारी का नाम के उच्चे से नायिका में उत्पन्न होता है और सब नायिका नायक को परस्त्री से बाँट करके देख लेती है तो गुण मान की उत्पत्ति होती है जो अधिक काळ तक रहता है बिटे ताड़ने के लिए चत्तियों की विपरीत आवा श्वक हो जाती है। परदेश गये हुए प्रियतम के प्रति सब हृदय में धैर्य उत्पन्न होती है तो उस अवस्था का प्रभाव के अन्तर्गत माना जाता है।

मह दशा

विमोह काळ में विरहजन्य कष्टों के कारण नायिका की जो अवस्था होती है उसको 'अमिषाया', 'चिन्ता', 'स्मृति', 'गुणवर्धन', 'उद्वेग', 'प्रक्षय' 'उन्माद', 'व्याधि' आदि 'महादशा' नव दशाएँ मतिराम ने मानी हैं। अपने पूर्वानामों द्वारा लिखित दशमावस्था 'मरण' का कहने नहीं माना है।

। प्रवाली प्रिय से मिलने की सब नायिका के मन में इच्छा उत्पन्न होती है तो उसे अमिषाया कहते हैं जिसमें नायिका अपने प्रम की चषा करती है। इच्छा में तीव्रता आ जाने पर सब 'दर्शन' प्राप्त करने की अमिषाया प्रवृत्ति हो उठती है ता उसे चिन्ता कहते हैं। प्रवाली पति के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चर्चा सुन लेने पर 'स्मृति' की अवस्था उत्पन्न

हो जाती है। प्रिय का स्मरण हो उठने पर जब नायिका उसके रूप-गुण आदि का कथन करती है तो उसे गुन वर्णन कहते हैं। बिरह बध के अधिक बढ़ जान पर जब नायिका को प्रिय मित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं अच्छा लगता तो उसे उद्देश तथा उद्दिष्टा से प्रेरित होकर जब वह कदापि पूर्ण शब्दों में अपना संदेश आदि कहती है तो उसे 'प्रसाप' कहते हैं। 'प्रसाप' की व्यवस्था से आगे बढ़ कर जब नायिका ऐसे कार्य करने लगती है जिससे उसकी अपेक्षितता का अनुभव होने लगता है तो उसे 'उन्माद' की संज्ञा दी जाती है जिसमें वह कमी हँसती और कमी राती है। काम पीड़ा के कारण जब नायिका के रूप और स्वरूप पर कुछ प्रभाव पड़ने लग जाता है तो उसे 'व्याधि' कहते हैं। अन्तों की विविधता तथा कदों के अविश्व क कारण जब नायिका निश्चेष्ट हो जाती है तो उसे 'जड़ता' की अवस्था कहते हैं। इस प्रकार मतिराम ने नायिका की नव दशाओं का अन्त में वर्णन करके 'कवि-निवेदन' के साथ 'रसराज' ग्रन्थ को समाप्त किया है।

महाकवि मतिराम और हिन्दी नायक-नायिका मेद के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्य

मतिराम के सामने 'रसराज' की रचना करते समय संस्कृत साहित्य की बहुत सी सामग्री तत्कालीन विषय पर वर्तमान थी। हिन्दी के मध्यकालीन कवि एवं आचार्यों ने जिस संस्कृत साहित्य की सामग्रियों से भरपूर लाभ उठाया है, मतिराम ने भी उसका उपयोग किया है, किन्तु उनके सामने हिन्दी काव्य के आचार्यों की भी एक परम्परा किसी न किसी रूप में वर्तमान थी जिससे प्रभावित होना अनिवार्य था। वेला पूर्व में ही संकट कर दिया गया है कि 'हृषाराम' ही हिन्दी के ऐसे प्रथम आचार्य मान जा सकते हैं जिनके सम्बन्ध में हिन्दी इतिहास सुतर है। हिन्दी की इस आचार्य परम्परा की कई पीढ़ियों के बाद मतिराम ने अपने ग्रन्थ रसराज का निमाण किया और उनके बाद नायिका मेद की वह आचार्य परम्परा और भी सम्पूर्णतापूर्वक बन कर आगे बढ़ी जिनमें महाकवि देव ऐसे प्रतिभासम्पन्न आचार्य एवं कवि उत्तम हुए। मतिराम ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रभाव को ग्रहण अवश्य किया है, किन्तु उनमें मौखिकता के अधिकत्व के कारण वे प्रभाव रख नहीं हो पाये हैं। मतिराम ने जितना प्रभाव ग्रहण नहीं किया है उसमें अधिकतर होने अपने बाद में आने वाले आचार्यों का प्रभावित किया है। महाकवि देव ऐसे ही एक प्रतिभा सम्पन्न आचार्यों को छोड़कर नायिका-मेद पर लिखने वाले प्रायः सभी आचार्यों एवं कवियों ने मतिराम के नायक-नायिका-मेद वर्णन प्रभावी का अनुसरण किया है। उन्होंने कुछ बातों को छोड़ा है, कुछ नहीं उलझनाएँ की हैं और कुछ का मध्य किया है।

हृषाराम और मतिराम

हृषाराम ने 'हितवर्तिनिदी' में नायिकाओं के जितने वर्ण-समूह किए हैं वे सबसे अधिक मतिराम में ही पाये जाते हैं, किन्तु उनके वर्णन-क्रम और संख्या में बहुत अन्तर है। मतिराम ने गुण अवस्था व्यवस्था के आधार पर उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिका के तीन भेदों का वर्णन नायिका-मेद के अन्त में किया है, किन्तु हृषाराम ने इच्छा मेद के आधार पर वे ही भेद नारी के रक्षा, परकीरा तथा वारपूतन के दोषों का उल्लेख करने के अन्तर्गत

किए हैं और तत्पश्चात् स्वीया नारी के स्वभाव-भेद सुन्ना, मध्या और प्रौढ़ा का विग्रह किया है, जबकि मतिराम ने नायिका के तीन भेदों का उल्लेख करके उनके साथ ही उनके भेदोपभेदों का भी वर्णन कर दिया है जिससे एक प्रश्नर की सम्भवता व्याप्त है। कृपायाम ने सुन्ना नायिका के स्पष्ट चार भेदों का वर्णन तो किया ही है, इसके अतिरिक्त उन्होंने 'नवोद्गा' नायिका के अष्ट, ब्रह्मसन्धि और उदित वीरना उपभेदों का भी उल्लेख किया है। मतिराम ने सुन्ना के मुख्य दो भेद माने हैं और नवोद्गा तथा विभक्त नवोद्गा को क्रम से उन्होंने शत वीरना तथा नवोद्गा के उपभेद रूप में स्वीकार कर दिया है और कृपायाम द्वारा किए गए नवोद्गा के अन्व भेदों को रचयक में स्थान नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त कृपायाम द्वारा किए गए मध्या के दो उपभेद साधारण मध्या और अतिविभक्त नवोद्गा तथा प्रौढ़ा के आनन्दमत्ता और रतिप्रिया उपभेदों को भी मतिराम ने स्वीकार न कर मध्या और प्रौढ़ा प्रत्येक के तीन उपभेद-वीर, अवीर तथा वीरवीर नाम से किए हैं। ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिका का दोनों आचार्यों ने समान रूप से स्वकीया के अन्तर्गत वर्णन किया है। ज्येष्ठा के आचार पर किए गये परकीया के छह भेदों में से कृपायाम का एक भेद 'त्वन्वृत्ति' मतिराम के उपभेदों में नहीं मिलता, क्योंकि इन्होंने तुल्य छह भेद ही माने हैं और अनुपमना नायिका का वर्णन पक्ष्मी, वृक्षी तथा तीक्ष्णी अनुपमना के नाम से किया है और कृपायाम की 'चतुर्' को विदग्धा के नाम से उल्लिखित किया है। मतिराम ने 'विदग्धा' के 'बचनविदग्धा' और क्रियाविदग्धा दो उपभेदों का भी वर्णन किया है। कृपायाम ने सुन्ना के उपभेदों तथा मध्या एवं प्रौढ़ा का कवन 'उपमान्ना' अथवा गणिका के साथ भी किया है, किन्तु 'रसयक' में 'गणिका' के न तो इन उपभेदों का ही वर्णन किया गया है और न तो उसके भेदोपभेदों का ही, वैसा कि हितहरिणी में पाया जाता है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित भरत मुनि द्वारा नायिकाओं के आठ भेद न जित कर कृपायाम ने मातुरस के आधार पर स्वामीन पतिव्रत आदि उसके दस भेदों का वर्णन किया है जो मतिराम में भी कुछ नाम परिवर्तनों के साथ पाए जाते हैं। कृपायाम ने गर्विता नायिका के भेदोपभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किन्तु रसयक में यह विस्तार नहीं पाया जाता है। इसके अतिरिक्त परकीया के उद्गा भेद के अन्तर्गत इन्होंने जो दो उपभेद 'परप्रिया और परविषाहिता' माना है उसे भी मतिराम ने स्वीकार नहीं किया है। इनके द्वारा किया गया प्रौढ़ा के अन्तर्गत 'उमहिता' भेद भी 'रसयक' में नहीं मिलता।

सुरदास और मतिराम

सुरदास की मूळता मध्य कवि थे, आचार्य नहीं। लीलायामु श्रीहृज के दिल स्वरूप को इस प्रतिमावासी कवि ने अपने गीतों का विषय बनाया है वह उनका गृह्यारिक स्वरूप है। यही कारण है कि उस समय का गृह्यारिक साहित्य नायक-नायिका-भेद की विलोपी पर लिखा जा रहा था, उसका प्रभाव सुरदास के गीतों पर स्पष्ट रूप से उल्लिखित होता है। यद्यपि सुरदास के गीत नायिका-भेद का उदाहरण स्वरूप नहीं लिखे गये हैं, किन्तु उन्हें लक्ष्यों के छिपे उत्तमोत्तम उदाहरण मरे पड़े हैं। मायकाशीन हिन्दी कवियों की ऐसी रचनाएँ जिनके सामने नायिका-भेद के लक्ष्य अवश्य ही वर्तमान थे, विदारी आदि के दोहों का रूप

में 'सुरात' के बाद भी होती रही। इनके पदों में परकीया नायिका सम्बन्धी उदाहरण नहीं प्राप्त होते जिनका आगे के कवियों ने बड़ी ही रुचि क साथ वर्णन किया है। सुरात के नाम से 'साहित्य सङ्घ' एक नायिका मेद पर लिखा संक्षिप्त ग्रन्थ मिलता है, किन्तु अनेक विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता में संदेह उठाया है। इसकी रचना सूर ने की अथवा नहीं इससे ठठना प्रयोजन नहीं मिलना कि ग्रन्थ से। ग्रन्थ का अस्तित्व हिन्दी संसार के संसार है, अतः वह हमारे विषेय का विषय है।

साहित्य सङ्घी और रसरञ्ज

साहित्य सङ्घी में ग्रन्थकार ने नायिका के तीसरे मेद में 'सामान्या' का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु रसरञ्ज में 'यनिका' अथवा 'यनिका' का उल्लेख है तथा उक्तकी स्वाधीन पठिका आदि इस अवस्थाओं का भी वर्णन किया गया है, किन्तु बाद की रचनाओं में बिल प्रकार 'सामान्या' के मेदोपदेशों का भी कुछ आशायों न विचारपूर्वक वर्णन किया है, ऐसा वर्णन इसमें नहीं पाया जाता। 'साहित्य सङ्घी' में मुग्धा के शत और अरात दोबारा दो ही उपमेद किए गए हैं। रसरञ्ज की शीर्ष इसमें नबोदा और विभक्त नबोदा उपमेदी का वर्णन नहीं मिलता। रसरञ्ज की शीर्ष इसमें मय्या और प्रोदा के उपमेदी का वर्णन नहीं मिलता, बल्कि उनका उल्लेख मात्र करके ही शीर्ष और ज्येष्ठ-कनिष्ठ को किया गया है। इसमें रसरञ्ज में पाये जाने वाले परकीया मेद, उदा और अनुदा में से उदा का उल्लेख नहीं किया गया है तथा परकीया के प्रविष्ट छ मेरों में से चौथ का ही वर्णन किया है और 'कुष्ठरा' का उदा दिया है। अक्षरानुसार किए गए नायिका के दस मेरों में से एक मेर 'विमलगा' का वर्णन साहित्य सङ्घी में नहीं मिलता और रसरञ्ज में बिल नायिका को प्रवृत्तिप्रवृत्ति कहा गया है उसे साहित्यसङ्घीकार न 'पठिग्रन्थी' की संज्ञा दी है।

मन्दराज और मठिराम

मन्दराज की सम्बन्धी पर विद्वान् का आग्रह प्रमाण होने का कारण ऐसी नायिकाओं का उल्लेख छाड़ दिया गया है जिससे इनके नायिका मेद का क्रम प्रवृत्ति कम से बहुत कुछ भिन्न है। मठिराम में मुग्धा, मय्या और प्रोदा तीनो मेरों का कुछ स्वकीया नायिका में माना है, किन्तु मन्दराज ने इनका वर्णन परकीया और सामान्या में ही किया है। इन्होंने मुग्धा के नबोदा तथा विभक्त नबोदा की स्वर्त मेरों का उल्लेख कर पुनः अरात और शत यौवना मेद किए हैं, किन्तु मठिराम में नबोदा को शत यौवना और विभक्त नबोदा का नबोदा के उपमेद का रूप में उल्लिखित किया है। मन्दराज ने स्वकीया का ज्येष्ठ और कनिष्ठ मेरों का भी उल्लेख नहीं किया है। इन्होंने न ता परकीया का मेरों में कुष्ठरा, सुदिता तथा अनुपमना आदि मेरों का वर्णन किया है और न ता उसका उदा एवं अनुदा भेदों का ही उल्लेख किया है। जिन तीन मेरों में इन्होंने 'सामान्या' का उल्लेख किया है वह मठिराम का विराहा का ही उपमेदी का एक उपमेद बचन लिखा ही है। इस प्रकार अत्यन्त लघु रूप में नायिका का का विषय मन्दराज ने किया है जिससे मठिराम काय किए गए दोष विधुत वर्णन उनमें नहीं का पाये हैं।

रहीम और मतिराम । ।

रहीम द्वारा दिये गये 'बरवा-नायिका भेद' में वर्णन क्रम का मोक्ष मतिराम के वर्णन क्रम से बैठ जाता है। दोनों आचार्यों ने स्वकीया, परकीया के भेदोपभेद तथा नायिका नायिक का वर्णन एक ही प्रकार किया है। रहीम ने मतिराम की भाँति मानवती नायिका का उल्लेख नहीं किया है। संक्षेप में इसका कहा जा सकता है कि रहीम ने नायिका भेद के चिन प्रयोगों को उठाया है उनका संपूर्ण वर्णनक्रम मतिराम के वर्णनक्रम के अनुसार है। इसी आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि या तो रहीम के इस ग्रन्थ का संपादन स्वयं मतिराम ने किया हो अथवा इसका संपादन रसराज की रचना हो जाने के पश्चात् उसी को सामने रख कर किया गया हो।

आचार्य केशव और मतिराम

हिन्दी काव्यशास्त्र की शुद्ध साहित्यिक आचार्य परम्परा में आचार्य केशव का नाम सर्वप्रथम है। रसिकप्रिया के केशव-नायिका-भेद तथा रस भेद के आचार्य प्रथम हैं और कुछ बाद में। संस्कृत काव्यशास्त्र के महान् पण्डित होने के कारण इनका आचार्यत्व अनेक संस्कृत साहित्य के आचार्य ग्रन्थों से प्रमाणित है। मीमांसिका के अभाव में केशव का पंडित्य अपने पीछे अपनी परम्परा का निर्माण नहीं कर सका, वैसे कि सरस्वता और मीमांसिका के कारण मतिराम का आचार्यत्व कर सका है। आचार्य केशव द्वारा बजाई नायिका भेद की वर्णन प्रणाली को मतिराम ने स्वीकार नहीं किया। केशव के अंशों पर संस्कृत के आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट है और वह प्रभाव एक आचार्य का नहीं अनेक आचार्यों का है। अन्वयक्रम में उन्होंने रस वर्णन किया है, तदुपरान्त नायक अथवा फ साय नायक-नायिका-भेद का वर्णन किया है, केशव के नायक अंश पर साहित्यदर्पणकार का व्यक्तित्व प्रमाण है। इसके अनुसार नायक को दाता कृत, पण्डित, कुशीन, सम्राट्, लोगों का अनुकरण का पात्र, रूप, बौद्ध और अज्ञात से युक्त, सेवस्वी, पट्टर और सुशील होना चाहिये।^१ केशव ने भी बहुत कुछ उसी प्रकार नायक का अविमान, त्यागी, तप, कोककर्मियों में प्रवीण, मध्य, क्षमी, सुन्दर, धनी, शुचिर्बन्धु तथा कुशील पुरुष माना है।^२ किन्तु मतिराम के अंशों और उदाहरणों में ऐसी बात नहीं पाई जाती। उन्होंने वहाँ से भी प्रभाव ग्रहण किया है, उन्हें इस प्रकार आत्मसात कर लिया है कि वे मूलतः मतिराम का हो गये हैं।

जाति अनुसार केशव ने 'प्रांसीनी', 'जिनिनी', 'शैलिनी' और 'हस्तिनी' नायिका के चार भेद किए हैं, किन्तु मतिराम ने इस प्रकार से नायिकाओं का भेद नहीं किया है। नायिका के तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या में ता दोनों आचार्यों ने, समानता

१ आचार्य केशव : डा० हीराकाक दीक्षित, प्र० सं०, पृ० २६१।

२ त्यागीकृतकुशील कुशीलोरूपवीरगौरादी।

दक्षोऽमुरच्छोकस्तत्रो वैदग्ध्यशौकवानेता ॥३०॥

अविमानो त्यागी तप, कोककर्म प्रवीण।

—साहित्य दर्पण

माध्यक्षी सुन्दर धनी, शुचिर्बन्धु सदा कुशील ॥—रसिक प्रिया, प्रकरण २, पृ० २०

है, किन्तु चेतन को मति मतिराम में मुग्धा, मध्या और प्रीदा में प्रत्येक के नवय बपू, नव मौनता, नवय अनन्या और सम्प्राप्य चार उपभेदों का वर्णन नहीं है। मध्या और प्रीदा के बीरदि भेद अस्या न लिखकर उन्हीं के साथ स्थित किया है जिनका मतिराम ने अलग उपभेद के रूप में उल्लिखित किया है। वेश्या और चरित्रा का भी उल्लेख केदार में नहीं किया है। आकृष्ट बोधना, प्रगल्भ बचना, प्रागुर्भूत मनोमया और सुरति विचित्रा नाम से किए गए चेतन के मध्या के चार भेदों को भी मतिराम ने इस रूप में स्वीकार नहीं किया है। 'बहिर रतिछात' और 'अन्तर रतिछात' नाम से किए गये रति-क्रिया के आधार पर नायिका के इन दो भेदों का भी वर्णन मतिराम ने नहीं किया है। आचार्य चेतन ने पर कीया में ब्रज छद्म और अनुदा का उल्लेख कर अन्य छः भेदों का नाम नहीं दिया है तथा उन्होंने गवित्र नायिका को भी रचान नहीं दिया है जो मतिराम के रसयज में पाई जाती है। नाट्यशास्त्र से प्रभावित होने के कारण उन्होंने नायिकाओं के ब्रज आठ भेदों का ही वर्णन किया है, किन्तु मतिराम ने 'प्रपञ्चतपठिका' और 'भागवतपठिका' का दो और नायिकाओं का वर्णन कर उनकी संख्या दस मानी है। यह वर्णन संभवतः मानुसक कृत रसमञ्जरी के आधार पर किया गया है जो हिन्दी में कृपायाम से ही प्रचलन पा चुका था।

चेतन ने आठों प्रकार की नायिकाओं के मुग्धा, मध्या, प्रीदा, परकीया और सामान्या भेद न करके 'प्रपञ्च और प्रपञ्च' नामक प्रत्येक के दस-दस भेद मिले हैं। चेतन दस का यह भेद भोजगज कृत 'शृंगार प्रपञ्च' के आधार पर किया गया जान पड़ता है। जिसको आगे चलकर आचार्य कवि देव को छोड़कर किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। चेतन द्वारा किए गए अमिशारिका के छ भेद भी न तो मतिराम में ही मिलते हैं और न ही अन्य परवर्ती आचार्यों में ही। उनके चरित्र छद्मा और कृपा अमिशारिका का ही आगे प्रचलन रहा। इन्होंने रसकिया का वर्णन अलग न करके उसे अमिशारिका के अन्दर ही स्थित किया है। मतिराम में पाई जाने वाली अन्य संभवतः कुनरता, गतिता और मान वाली नायिका के ये तीन भेद भी रसकिया में नहीं पाये जाते। चेतन में कुल मिलाकर १६ नायिकाओं का वर्णन किया है।

'रतिप्रिया' और 'रसयज' दोनों ही शब्दों में ब्रज नायिका-भेद का ही वर्णन नहीं है, बरिष्ठ दानों में ही नायक-भेद, सरती, बूली तथा रस का सहित्तर्क वर्णन किया गया है। क्योंकि दानों दो शृंगार रस के प्रधान समर्थक शब्द हैं। किन्तु दानों के वर्णन तथा संख्या शब्द में अन्वेषिक अन्तर है। नायक के प्रमुख भेद तथा दर्शन भेद दानों आधार्यों के समान हैं। किन्तु दम्पति मिथन के प्रथम रचान का वर्णन मतिराम में नहीं किया है जैसा कि चेतन में किया है। उन्होंने प्रथम मिथन, रचानों का संख्या, राती के घर, सहेय के घर, पार के घर, लो पार, निराधार के मिथन, अतिमन का मिथन, उत्तर का मिथन, व्याधि मिथ, ज्योते के मिथ, बन बिहार तथा ब्रज बिहार गान्ध मानी और सखद शृंगारों का बड़ी मुशक्ति के साथ वर्णन किया है। किन्तु मतिराम में यह विचार नहीं मिलता। वे अपेक्षित वर्णन उनका किता न किसी भेद के अन्दर अन्तर्भूत कर स्थित रूप है। देव

केदार के अतिमय के मिथुन को हम मतिराम के क्रिया चतुर नामक के उदाहरण में देख सकते हैं। मतिराम ने नायक भेद का वर्णन केदार के भेद वर्णन की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ किया है। नामक-नायिका का स्वयं वृत्त केदार ने स्वीकार किया है, किन्तु मतिराम ने नहीं। इसके अतिरिक्त रस का कितना विस्तृत एवं कमबद्ध वर्णन केदार ने किया है, उतना मतिराम ने नहीं।

चिन्तामणि और मतिराम

चिन्तामणि ने अपने सबसे प्रमुख ग्रंथ कविदुष्य कस्यतर में काव्यशास्त्र के समस्त भागों का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है। इन्होंने नायिका भेद का वर्गीकरण जिस प्रकार किया है उससे ऐसा लगता है कि इतनी प्रवृत्ति आपार्य केदार और मतिराम में पाई जाने वाली वर्णन प्रवृत्ति को समन्वित रूप देने की ओर रही है। ग्रंथ के पंचम अध्याय में इन्होंने अमिथा, कृता और अजना का उल्लेख करके 'मायभेद' का साधारण कथन किया है। नायिका भेद का विस्तृत वर्णन चिन्तामणि ने शृंगार रस के विभावतरंग ही किया है। इनके द्वारा किए हुए दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, नायिका के तीन भेद मतिराम ने तो नहीं पाए जाते, वे रस को छोड़कर हिन्दी के अन्य किसी बड़े आपार्य में भी नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त वेद ने भी इन नायिकाओं को प्रधान वर्गों में न बितकर स्वकीया व अन्तर्गत ही किया है। केदार ने जिस सामान्या नायिका का उल्लेख नहीं किया था, वह चिन्तामणि और मतिराम दोनों में पाई जाती है। इन्होंने भी मुग्धा, मय्या और प्रीदा तीनों मेरों को एक साथ स्वकीया नायिका में ही माना है। मतिराम ने भेद और उपभेद अब मिश्रकर मुग्धा के चार ही भेद माने हैं, किन्तु चिन्तामणि ने उसका छः भेद माना है तथा प्रीदा के चार मेरों का उल्लेख किया है जिन सबके नामों का मेघ मतिराम के नामों से नहीं लाता। धुरतगोपना आदि परकीया के अलग छः मेरों को न मानकर इन्होंने इन्हें कदा के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है और बाद में अवृद्धा मिश्रकर परकीया में समाप्त किया है। मतिराम में पाए जाने वाले मय्या और प्रीदा के भीरादि भेद इनमें ही मिलते हैं तथा इन्होंने अपेक्षा और कनिष्ठा का भी वर्णन किया है। नायिका के यवित्ता यदि भेद तथा उसका आठ प्रकारों का वर्णन मतिराम से न मिश्रकर 'किशोर' से ही मिलता है, किन्तु आठ नायिकाओं में मुग्धा, मय्या और प्रीदा तथा परकीया और सामान्या का ज्ञान समान रूप से मतिराम की ही मौलिक है। मतिराम की ही मौलिक उपमा, मय्या और उपमा का कथन इन्होंने अन्त में किया है। इस प्रकार चिन्तामणि का नायिका भेद ध्यावदास से मिलता हुआ भी उससे अधिक विस्तृत तथा मिश्र है और मतिराम तथा उनके रसवर्ती व्याचार्यों के अधिक निकट भी।

प्रचार्य कवि देव और मतिराम

नायिका भेद की प्रौढ़तम रचना करने वाले आपार्य कवियों में मतिराम के पश्चात् महाकवि देव का नाम सर्वप्रथम किया जा सकता है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में उनके प्रथमा सम्पन्न कवि रूप ही हुए। इन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्र का अंग-प्रत्यंग का

विरतुत विवेचन किया है। इससे अतिरिक्त इन्होंने कई मौखिक उद्घाषणायें भी की हैं। बेधर की मौखिक इनमें पंडित्य प्रदर्शन तथा महिराम की-सी मार्मिकता का सम्भव संपूर्ण प्रत्यक्षदर्शन हिंदी साहित्य के किसी भी आचार्य कवि में उतना नहीं ही पाया है जितना कि देव में हुआ है। इनके लगभग ७२ ग्रन्थ बताए जाते हैं, किन्तु ३० ग्रन्थ आदर्श प्रसिद्ध हैं। 'देव' न नायिकाओं को प्रधान रूप से जाति, धर्म, गुण, वेष, व्यक्त, वय व्रत, प्रकृति और सत्व आठ प्रमुख भेदों में विभाजित कर उनके अन्त उपभेदों का वर्णन किया है।

आचार्य कवि देव के पूर्व नायिका में प्रथम पर इतनी मौखिकता एवं विस्तार का साथ हिन्दी के अन्य किसी आचार्य ने विचार नहीं किया, जितना उन्होंने। 'देव' ने नायिका भेद का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। 'उन्होंने स्थान-स्थान पर नायिकाओं के ऐसे छान्दस्य भीये हैं, जिनके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर पाठक भी विवश हो जाता है। देव के इतने अधिक ग्रन्थों में एक मात्र नायिका-भेद का कोई ग्रन्थ नहीं, किन्तु उन्होंने अपने कई ग्रन्थों में मिश्र-मिश्र प्रकार से नायिका-भेद का इतना विस्तार विवेचन किया है कि उनसे अधिक इस विषय पर अन्य कोई कवि अवका आचार्य नहीं मिल सकता है।^१ महाकवि देव ने अपनी मौखिक प्रतिभा द्वारा नायिका भेद विस्तार का जो आग्रह दिखाया है, वह उनके बाद में आने वाले आचार्यों का पथ प्रदर्शक बन गया। देव के दिन ग्रन्थों में नायिका भेद का कथन हुआ है, उनमें सुलतागतरंग मुख्य है। इसे उन्होंने अपनी प्रौढ़ावस्था में पिहानी वाले स्नान काली अथवा रोज़ के लिये सं० १८५४ वि० में बनाया था। ऐसा दाव होता है कि इस ग्रन्थ की रचना सतत रूप से नहीं हुई। देव ने अपने ग्रन्थों के सुन्दर छन्दों को लेकर इसकी रचना की है, अर्थात् यह एक संदृष्ट ग्रन्थ है।^२ अपने 'माध विस्तार' ग्रन्थ की रचना इन्होंने उस समय की जब वे सावरण वर्ग की अवस्था के थे। इसमें नायिका भेद का वर्णन विरतुतरूप से नहीं हुआ है, किन्तु सभी आवश्यक कालों पर विचार हो गया है।

'माध विस्तार' का वर्णनम महिराम से उतना नहीं मिलता, जितना कि वह बेधर की 'रतिकर्मदा' के निष्ठ है। इन दोनों ग्रन्थों में नायिका की संख्या का विस्तार पाया जाता है। रतिकर्मदा में इनकी संख्या ३५० मानी गई है, किन्तु देव में उन्हें और दशहर ३८४ कर दी। बाद के लिये नाम वाले अथवा ग्रन्थों में भी उन्होंने वि० रूप से नायिकाओं के विस्तार में रुचि दिखाई है, जिससे इनकी नायिकाओं की संख्या में बृद्धि विस्तार हो गया है। जिस प्रकार महिराम में नायक-नायिका का गूंगार का आच्छन्न माना है, ठीक उसी प्रकार देव में भी उन्हें गूंगार का आधार माना है।^३ नायक के अनुप लक्ष्य तथा वर्मानुसार नायिका के तीन भेदों का वर्णन महिराम के समान ही है। जिस सामान्या का वर्णन आचार्य वचन में नहीं किया था, उतना वर्णन महिराम की मौखिक देव में किया है।

१. मात्र साहित्य का नायिका भेद प्रमुखताक मौखिक, हि० सं०, पृ० ११०।

२. वही।

३. 'माध सहस्र सिंघार की ओर कहिये आवाह।

सो है नायक नायिका ठाकी करत विचार है'

मुग्धा, मध्या और म्रीदा के बितने भेद देव ने किये हैं, वे मतिराम में नहीं पाये जाते हैं। उन्होंने मुग्धा के बयः रंघि, नव मधू, नव यौवना, नवछ अनंगा और सख्य रति, पांच भेद मध्या के बद्ध यौवना, मातुर्भूत मनामया, प्रगल्भ वचनता और उच्चित्र सुरता, चार भेद वयः म्रीदा के सम्भाषित, रति कोविद, आशान्त नायिका और छविप्रभा, चार भेद किये हैं। देव के ये चार भेद कथाय के व्यापार पर किये जान पड़ते हैं। स्वर्चीया के दो भेद वेद्य-कनिष्ठा मतिराम की ही भांति पाये जाते हैं। इन्होंने स्वर्चीया के पांच उपभेद किये हैं जिनमें वयस्कम के अनुसार देवी (७ वर्ष), देव गोपनी (१४ वर्ष), गोपनी (२१ वर्ष), गोपनी-मातुपी (२८ वर्ष), मातुपी (३५ वर्ष) छिटा है। परकीया के दो भेद, पति के साथ रति में क्वचि न रखने वाली तथा म्रीदाकन्या पिता से छिपा कर रति की सेवा करने वाली को किये हैं, वे मतिराम द्वारा किये गए ऊढ़ा और अमृदा भेद ही हैं। इन्होंने इसके छः भेदों को स्वतन्त्र न मानकर ऊढ़ा के उपभेद के रूप में ही छिन्न दिया है। काव्यनुसार देव ने मतिराम की भांति नायिकाओं के दस भेद न मानकर चत्वार्य की भांति आठ ही भेद माना है जिसमें प्रवच्छिन्नपतिव्रता और आगतपतिव्रता को इन्होंने छान्न दिया है। इसके अतिरिक्त देव ने नायिकाओं के भेद और उपभेदों के वयस्कम का भी उल्लेख कर दिया है जिसका उल्लेख हिन्दी के अन्य किसी व्याख्यान में नहीं किया है।

मान के व्यापार पर मध्या और म्रीदा के बीरदि भेदों का भी उल्लेख देव ने किया है। इनका देशानुसार किया हुआ नायिका वर्णन अद्भुत है। अनेक ग्रन्थों में व्याप्त हुए देव के नायिका भेद को हम वर्णन के अनुसार इस प्रकार रख सकते हैं कि उन्होंने 'बाति भेद के अन्तर्गत पद्मिनी, शिविणी, शक्तिनी और हस्तिनी; कर्म भेद के अन्तर्गत स्वर्चीया, परचीया और सामान्या; गुणभेद के अन्तर्गत उत्तमा, मध्यमा और अधमा देशभेद के अन्तर्गत मन्त्रदेव, मन्त्रवधू, कीदृक्वधू, पाटक्वधू, उत्कल, कटिमा, कामरूप, बैमाक तथा अन्य अनेक किवों का वर्णन है। वयस्कम के भेद के अन्तर्गत मुग्धा, मध्या और म्रीदा, प्रकृतिभेद के अन्तर्गत वात गुणी, पित्त गुणी, कफ गुणी तथा सत्व भेद के अन्तर्गत देव सत्व, मानुष सत्व, गन्धर्व सत्व, वृक्ष सत्व, पिशाच सत्व इत्यादि का वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त वे नायिका के अष्टांग-जीवन, रूप, गुण, प्रेम, धीर्य, क्रोध, वैभव, श्रृंगार का विवरण देते हैं और अन्त में नारायणी और ब्राम्या अनेक नायिकाओं, जैसे—राजपुर नारायणी, पूजनहारी, द्वारपालिका, राजस नायकी, बाई, वृषी, दासी, दरभिन, खोहरी, पटविन, सुनारिन, गंधिन, सखिन आदि का बड़ा संक्षेप एवं मनोमोहनी वर्णन देकर नायिका भेद पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं।^१ इससे स्पष्ट है कि बितना नायिका भेद का विस्तार देव ने किया उतना हिन्दी के अन्य किसी व्याख्यान में नहीं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती व्याख्याओं के बर्गीकरण से छान्न उठाकर अपनी मौखिक प्रतिमा एवं सूत्र का अद्भुत समरूप रचवाया है। रस और असंकारों के क्षेत्र में भी देव की इस प्रतिमा का परिचय मिथ्या है, जिन्हें विलसने के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है।

अपनी इन्हीं पुष्ट विधिप्रताओं के कारण मतिराम से प्रभावित होने पर भी देव नायिका भेद के क्षेत्र में कथाय की भांति सबसे अलग रहे। उनका परवर्ती व्याख्या में भी

विषय विस्तार की दिशा में देश के आदर्शों पर कुछ कार्य करना चाहता है, किन्तु 'रसस्थेन', 'दास' आदि ने उनके प्रपान बर्णों में ही भेदोपभेद बढ़ाकर उनकी वृद्धि की है। अलग से इस शास्त्रांग का इस प्रकार विस्तार आगे के आचार्यों द्वारा नहीं हो सका। देश द्वारा किए गए नवीन एवं अद्भुत भेदों के आविष्कार शोकप्रियता न पाने के कारण अपनी परम्परा का निमाम नहीं कर सके।

रसस्थेन और मतिराम

'रस प्रबोध' रसस्थेन की का नायिकाभेद का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनका पूरा नाम सैवद गुलाम नबी बिलखामी 'रसस्थेन' था। नरसिंह बर्मन पर लिखा 'अंग दर्पण' नामक इनका एक और सुन्दर ग्रन्थ प्राप्त है। इनकी शकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इनके निम्नलिखित दोहों का बिहारी क दोहों क साथ मिला लिया जाता है—

'अमिय, हाहाल मर मरे, सेठ स्वाम खनार।

त्रिपल मरत छुकि-छुकि परत, केहि पितवत इक बार ॥' —भंगारपत्र

आरम्भ में रस का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् 'रस प्रबोध' में भाव का स्वरूप वर्णन कुछ अधिक विस्तार से किया गया है। गूंगार रस में भीकृष्ण प्रसरण क पश्चात् नायिका भेद का वर्णन किया गया है। इनकी नायिकाओं की संख्या तो देश की संख्या की भी कई गुनी है। इन्होंने एक स्वकीया, दो परकीया, एक सामान्या जो सब व्यक्त नायिकाओं से मिलकर बनी होती हैं, प्रत्येक के उच्चमा, मध्यमा तथा अधमा में मिला कर ९६ और जाति अनुसार पद्मिनी आदि चार भेद कर देने पर उनकी संख्या ३८४ हो जाती है, इसके अतिरिक्त लवके दिव्या-दिव्य भेद करके उन्होंने कुल नायिकाओं की संख्या १३५२ लिखी है।^१ इन्होंने शिष्ट प्रकार नायिकाओं की संख्या में विस्तार किया है, उस प्रकार नायिकाओं क और भी न जाने कितने तरह से बाधन भेद किए जा सकते हैं। अनादिकाल विस्तार से स्पष्ट हो जाता है कि इनकी रचि नाम गिनाने की आर अधिक रही है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने बितनी प्रकार की नायिकाओं का नाम ले रखा था, उनकी संपूर्ण तुनी रसस्थेन के वर्णन में तो मिला ही जाती है और उसके अतिरिक्त इनकी विस्तारकर्मिता का समस्तार भी देखने का मिला जाता है। मतिराम ने सामान्या के भेदाभेदों का वर्णन नहीं किया था और इस वर्णन की ओर धन्य आचार्यों की भी रचि कम ही रही है, किन्तु रसस्थेन की ने गत ऐक्य उत्कल भेगोभेदों का वर्णन किया है। सामान्या क इन्होंने चार भेद लिये हैं, जिसे स्वज्जा, जननीआधीना, जेमता और जेमगुगिता कहत हैं।

१ 'इक मुकिया है बरकिया, सामान्या मिळि बारी।

जट नायिका मिळि सोई बलिय होत विचारि ॥

उत्तमादि सो मिळि उदै, धुन प्रियावै होत।

हुनि जोरामी तीन सी, परमिन आदि उहोत ॥

तेरा ही बाधन बहुरि दिव्यारिदय के संग।

या गनना में नायिका, बहुनी बुझि लरंग ॥

आचार्य भित्तारीदास और मतिराम

'शृंगार निर्बन्ध' आचार्य भित्तारीदास का नायिका-भेद पर लिखा अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन्होंने भी मतिराम की मूर्ति आरम्भ में नायक और नायिका को शृंगार रस का कारण बताते हुए ग्रन्थ निर्माण का अभिप्राय प्रकट किया है। नायिका-भेद का आरम्भ में वर्णन करके इन्होंने सर्वप्रथम नायकभेद का वर्णन किया है। इन्होंने नायक का एक भेद साधारण मान कर उसके 'पति' एवं 'उपपति' दो उपभेदों का वर्णन किया है, तत्पश्चात् उसके अर्थात् पति के 'अनुकूल' आदि उपभेद किए हैं। मतिराम ने नायक के एक स्थल 'भौतिक' का भी वर्णन किया है और अनुकूल आदि उपभेदों का वर्णन 'पति' के अन्तर्गत ही किया है, किन्तु 'दास' ने उपपति के साथ भी किया है। इसके अतिरिक्त मतिराम की मूर्ति अभिमानी आदि विविध भेद न करके उसके दो भेदों 'बचन-बहुर' और 'क्रिया-बहुर' का वर्णन दक्षिण 'उपपति' के अन्तर्गत ही कर दिया है।

'दास' ने नायिका भेद के आरम्भ में व्यास धर्म के आचार पर उसके स्वामी और परकीया दो भेद किये हैं और उनके भेदोपभेदों के वर्णन के पूर्व नायिका के नलाक्षि का अत्यन्त श्रमार्थक एवं मनोहर वर्णन किया है, रसराज में जिसका अर्थ अभाव है। इन्होंने 'सामान्या' नायिका का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इनके द्वारा किये गए पतिव्रता, उदारिका और माधुर्य, स्वामी के तीन भेदों का वर्णन मतिराम में नहीं पाया जाता। अवस्थानुसार सुखादि चित्त भेदों का वर्णन मतिराम ने केवल स्वामी के अन्तर्गत ही किया था, 'दास' ने इनके स्वामी और परकीया दोनों में ग्रहण है। इसके अतिरिक्त ज्येष्ठ-कनिष्ठ नायिका के साधारण ज्येष्ठ दक्षिण की ज्येष्ठ-कनिष्ठ, घट की ज्येष्ठ, छत की कनिष्ठ, पूठ की ज्येष्ठ और पूठ की कनिष्ठ, छत उपभेदों का वर्णन केवल दास ने ही किया है। परकीयारि नायिकाओं के भी भेदोपभेद 'दास' के मतिराम से मिष्ट हैं। सुखा के अग्रत पीबना और शय पीबना भेदों का वर्णन स्वामी को छोड़कर परकीया में भी 'दास' को छोड़कर अन्य किसी ने किया ही नहीं है और ऐसा करना उचित भी नहीं मान पड़ता। क्योंकि यह ऐसी अवस्था है जिसके समाप्त हो जाने पर ही परकीयत्व का स्वरूप प्रकट होने की संभावना रहती है। मतिराम की दस नायिकाओं की न मानकर इन्होंने बेछाव आदि की मूर्ति अष्ट नायिका ही स्वीकार की हैं। इसके अतिरिक्त उनकी अपनी एक और भी विविधता रही है कि उन्होंने उन्हें संयोग शृंगार और वियोग शृंगार की बर्णों में विभाजित किया है। संयोग शृंगार में पड़ते ग्वाधीन पतिव्रता को लिखा है जिसका अन्तर्गत रूप गर्विता, प्रेम गर्विता और गुण गर्विता का कथन किया है, फिर बासकृष्ण को स्निग्धर उठी के अन्तर्गत अग्रत पतिव्रता को लिखा है। तीसरी नायिका अभिचारिका है, जिसमें दुःखा और दुःखा दोनों भेद किये गये हैं। उन्होंने संयोग शृंगार की तीनों नायिकाओं को स्वामी और परकीया दोनों में लिखा है। वियोग शृंगार की उत्प्रेक्षा, लक्षणा, यत्नशालिका, विप्रसम्भा और प्रोषित भर्तृका, इन पाँच भेदों को लिखा है। इसमें रीतिता के अन्तर्गत पीरदि भेद और मानिनी नायिका का उल्लेख कर मानिनी में मान भेद का भी उल्लेख कर दिया है।

‘चतुर्दशिका’ के अन्तर्गत भी मान में का कथन है। विप्रसम्भा के अन्तर्गत अन्य सम्मेलन दुर्गरिता और प्रीतिपत मर्तुका के अन्तर्गत प्रवसस्यप्रसूती, आगतपतिष्ठा एवं आगतपतिष्ठा का उल्लेख किया गया है।^१ इससे स्पष्ट हो जाता है कि ‘राम’ कवि आपस्य सचने से कि किसी भी पूर्वोक्त का प्रभाव उनकी वर्णन प्रभावी पर स्पष्ट न हो पाये। इन्होंने अपनी स्वतन्त्र परम्परा स्थापित करनी चाही है। इसके अतिरिक्त देव और रसार्थन की शक्ति अनेक प्रकार की नवीन नायिकाओं की भी इन्होंने उद्गाढनाये की हैं। अपने इस नवीन संस्थापन में इन्होंने बिल कोशक का परिपक्व दिया है, उससे इनकी मौलिक प्रक्रिया का अनुमान हो जा जाता है, किन्तु बहुत सी बातों में भी उल्लेखन का गई है, जिसके कारण से उठने अक्षमिय नहीं हो पाये बिलनी छोकप्रियता मठिराम को मिल्ने।

नायिका भेद समाप्त करने के परचाए ‘रसराज’ की शक्ति इन्होंने ‘शृंगार निर्मय’ में भी शृंगार क उद्गीर्ण सजी, वृत्ती आदि का विस्तृत वर्णन किया है और भावानुभासों पर भी यत्नीमति विचार किया है।

पद्माकर और मठिराम

कवि पद्माकर ने अपने सच छन्दों के कारण उसनी ही छोकप्रियता प्राप्त की थी, बिलनी कि महाकवि मठिराम को मिल्ने थी। मठिराम की कविताओं क पद्माकर मर्मस्पर्शी एवं हृदयहारी भावों के स्थिर यदि किसी सच कवि का नाम किया जा सकता है, तो नाम-छापी कवि पद्माकर ही हैं। वे मूर्च्छा कवि थे, आचार्य नहीं। किन्तु समय क प्रभाव से व्याकर इन्होंने भी अपनी उत्तम रचनाओं की छल्लानुद्ध कनाने का प्रयत्न किया है। नायिका-भेद सम्पन्नी इनकी रचना ‘अगहिनाद’ है, जो नायिका भेद प्रन्वी में रसराज की शक्ति ही मिल्ने है। रसराज द्वारा स्थापित नायिका-भेद की परम्परा का सर्वोत्तम उदाहरण यदि हम किसी को मान सकते हैं तो वह पद्माकर का अगहिनाद ही है। मठिराम की ही शक्ति इन्होंने आरम्भ में नायिका का छल्लन दिया है जो उनके छल्लन का ही भावानुभास जान पड़ता है।^२ नायिका-भेद का वर्णन कम भी पद्माकर ने मठिराम के ही रचा है।

अगहिनाद में कुछ बातें ऐसी पायी जाती हैं जिनका उल्लेख रसराज में नहीं मिल्ता। मठिराम ने प्रीति नायिका का एक भी भेद नहीं माना है, किन्तु अगहिनाद में उल्लेख रति प्रीति और आनन्द संमोहिता नामक दो भेद किये गए हैं। प्रीति के इन दो भेदों का कथन कई प्रमुख कवियों ने किया है। नायिका-भेद समाप्त कर देने के पद्माकर रसराज की

१. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-भेद, प्रोफेसराक जीतल, द्वितीय संस्करण पृ० ११५।

२. अथवा यदि किसी के बिल भीक रस-भाव।

छाहि ब्रजभाषा नायिका, के प्रवीन कविता ३५३ रसराज
रस शिगार को भाव उर, अथवा छाहि निहार।

छाहि की कवि नायिका, ब्रजभाषा विचार ३१३ अगहिनाद

आचार्य भित्तिराम और मतिराम

'शृंगार निर्बन्ध' आचार्य भित्तिराम का नायिका-भेद पर लिखा अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन्होंने भी मतिराम की भाँति आरम्भ में नायक और नायिका को शृंगार रस का कारण बताते हुए ग्रन्थ निर्माण का अभिप्राय प्रकट किया है। नायिका-भेद का आरम्भ में वर्णन करके इन्होंने सर्वप्रथम नायकभेद का वर्णन किया है। इन्होंने नायक का एक भेद साधारण मान कर उसके 'पति' एवं 'उपपति' दो उपभेदों का वर्णन किया है, तत्पश्चात् उसके अर्थात् पति के 'अनुकूल' आदि उपभेद दिए हैं। मतिराम ने नायक का एक सत्त्व 'वैधिका' का भी वर्णन किया है और अनुकूल आदि उपभेदों का वर्णन 'पति' के अन्तर्गत ही किया है, किन्तु 'दास' ने उपपति के साथ भी किया है। इसके अतिरिक्त मतिराम की भाँति भूमिमाती आदि विविध भेद न करके उसके दो भेदों 'वचन-वस्तु' और 'क्रिया-वस्तु' का वर्णन दक्षिण 'उपपति' के अन्तर्गत ही कर दिया है।

'दास' ने नायिका भेद के आरम्भ में आर्य वर्ग के आधार पर उसके स्वकीया और परकीया दो भेद किये हैं और उनके भेदोपभेदों के वर्णन के पूर्व नायिका के लक्षणों का अत्यन्त शृंगारिक एवं मनोहर वर्णन किया है, रसराज में जिसका अत्यन्त अभाव है। इन्होंने 'सामान्या' नायिका का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इनके द्वारा किये गए पतिव्रता, सहायिका और मातुल, स्वकीया के तीन भेदों का वर्णन मतिराम में नहीं पाया जाता। व्यवस्थानुसार सुधादि किन भेदों का वर्णन मतिराम ने केवल स्वकीया के अन्तर्गत ही किया था, 'दास' ने उनको स्वकीया और परकीया दोनों में माना है। इसके अतिरिक्त ज्येष्ठ-कनिष्ठा नायिका के साधारण ज्येष्ठ दक्षिण की ज्येष्ठ-कनिष्ठा, छठ की ज्येष्ठ, छठ की कनिष्ठा, पूठ की ज्येष्ठ और पूठ की कनिष्ठा, छः उपभेदों का वर्णन केवल दास ने ही किया है। परकीयादि नायिकाओं के भी भेदोपभेद 'दास' के मतिराम से भिन्न हैं। सुधा के अष्टाष्ट वीरना और छठ वीरना भेदों का वर्णन स्वकीया को छोड़कर परकीया में भी 'दास' को छोड़कर अन्य किसी ने किया ही नहीं है और ऐसा करना उचित भी नहीं मान पड़ता। क्योंकि यह ऐसी अवस्था है जिसके समाप्त हो जाने पर ही परकीयत्व का स्वरूप प्रकट होने की संभावना रहती है। मतिराम की वस नायिकाओं को न मानकर इन्होंने वेश्य आदि की भाँति आर्य नायिका ही स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त उनकी अपनी एक और भी विशेषता रही है कि उन्होंने सदैव संयोग शृंगार और वियोग शृंगार दो वर्गों में विभाजित किया है। संयोग शृंगार में पहले स्वाधीन पत्रिका को लिखा है जिसके अन्तर्गत रूप गर्बिता, प्रेम गर्बिता और गुण गर्बिता का कथन किया है, फिर वासकसजा को धिक्कर उसी के अन्तर्गत आगत पत्रिका को लिखा है। तीसरी नायिका भूमिमाती है, जिसमें छद्मा और कृप्य दोनों भेद किये गये हैं। उन्होंने संयोग शृंगार की तीनों नायिकाओं को स्वकीय और परकीया दोनों में विभाजित है। वियोग शृंगार की ललितता, वीरिता, वसहासिता, विप्रलम्भा और मोहित भर्तृका, इन पाँच भेदों को लिखा है। इसमें वीरिता के अन्तर्गत वीरव्रति भेद और मानिनी नायिका का उल्लेख कर मानिनी में मान मंद का भी उल्लेख कर दिया है।

'कलहावलिता' के अन्तर्गत भी मान भेद का कथन है। विप्रसम्भा के अन्तर्गत अन्य सम्मोहा दुःखिता और प्रीतिव भर्तृका के अन्तर्गत प्रवत्सलप्रपत्नी, आगतपतिका एवं आगतपतिका का उल्लेख किया गया है।^१ इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'दास' कवि प्रसन्न सचक दे कि किसी भी पूर्वानुसार का प्रमाण उनकी वर्णन प्रशंसी पर स्पष्ट न हो पाये। इन्होंने अपनी स्वतन्त्र परम्परा स्थापित करनी चाही है। इसके अतिरिक्त देव और रत्नमयी की मूर्ति अनेक प्रकार की नवीन नायिकाओं की भी इन्होंने उद्भावनाओं की हैं। अपने इस नवीन संस्कारार्थन में इन्होंने जिस कौशल का परिचय दिया है, उससे उनकी मौलिक प्रतिभा का अनुमान तो लग जाता है, किन्तु बहुत सी सच बातों में भी झगड़ने का गर्ह है, जिसके कारण वे उतन लोकप्रिय नहीं हो पाये जिसनी लोकप्रियता मतिराम का मिले।

नायिका भेद समाप्त करने के पश्चात् 'रसराज' की मूर्ति इन्होंने 'गृहपर निर्मल' में भी गृहपर के उद्दीपन सखी, बूढ़ी आदि का विस्तृत वर्णन किया है और भावानुमाओं पर भी मधुमति विचार किया है।

पद्माकर और मतिराम

कविबर पद्माकर ने अपने सरस छन्दों के कारण उतनी ही लोकप्रियता प्राप्त की थी, जितनी कि महाकवि मतिराम को मिली थी। मतिराम की कविताओं के पश्चात् मर्मरसपूर्ण एवं हृदयवहारी भावों के स्थिर यदि किसी सरस कवि का नाम दिया जा सकता है, तो पद्माकर ही हैं। वे मुख्यतः कवि थे, आचार्य नहीं। किन्तु समय के प्रसाह में पद्माकर इन्होंने भी अपनी उत्तम रचनाओं को व्यञ्जनात्सुक बनाने का प्रयत्न किया है। नायिका-भेद सम्बन्धी इनकी रचना 'बगदिनोद' है, जो नायिका भेद ग्रन्थों में रसराज की मूर्ति ही प्रसिद्ध है। रसराज द्वारा स्थापित नायिका-भेद की परम्परा का सर्वोत्तम उदाहरण यदि हम किसी को मान सकते हैं तो वह पद्माकर का बगदिनोद ही है। मतिराम की ही मूर्ति इन्होंने आरम्भ में नायिका का छन्द लिया है जो उनके छन्द का ही भावानुवाद मान पड़ता है।^२ नायिका-भेद का वर्णन कम भी पद्माकर ने मतिराम के ही रसों से किया है।

बगदिनोद में कुछ बातें ऐसी पायी जाती हैं जिनका उल्लेख रसराज में नहीं मिलता। मतिराम ने प्रोढ़ नायिका का एक भी भेद नहीं माना है, किन्तु बगदिनोद में उत्कृष्ट रति प्रीता और आनन्द समाहिता नामक दो भेद मिले गए हैं। प्रोढ़ का इन दो भेदों का कथन कर मनुष्य कवियों ने किया है। नायिका-भेद समाप्त कर छन्द के पश्चात् रसराज की

१. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-भेद, प्रमुद्रपाठ नीलकण्ठ, द्वितीय संस्करण पृ० १२६।

२. उपर्युक्त साहित्य विद्वानों के विचार भी स-संगत।

साहित्य ब्रजभाषा नायिका, जो प्रवीण कविताव ४५३ रसराज

रस सिंगार की भाषा उद्, उपर्युक्त साहित्य विद्वानों।

साहित्य की कवि नायिका, ब्रजभाषा विविध विचारों ४११३ बगदिनोद

मौलि ही इन्होंने नामक का मेर-वर्णन किया है और तत्पश्चात् भाव, अनुभाव तथा संचारियों का सुन्दर वर्णन किया है। सखी, वृत्ती आदि उद्दीपनों का बैसा ही सुन्दर वर्णन है, बैसा 'रसराज' में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त बगदिनोद में किया गया ऋतुओं का भव्य वर्णन रसराज में नहीं मिलता। पद्याकर की यह अपनी विशेषता थी कि उन्होंने वृत्तों के नामों को सरलतम, सुन्दर एवं नवीन स्वरूप प्रदान किया है, बगदिनोद जिसका अत्यन्त सदाहरण है।

मतिराम और नायिका-मेर के अन्य आधार

जिन प्रमुख नायिका-मेर के आधारों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य अनन्त कवियों ने नायिका-मेर पर सुन्दर रचनार्थ की हैं। धुरति मित्र की छिन्नी नायिका-मेर पर सुन्दर रचनाएँ मिलती हैं। श्रीपति द्वारा लिखा कामरसेय काव्य के समस्त अंगों पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, जिसमें प्रसंगानुसार नायिका-मेर का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इनके कई अन्य रीति ग्रन्थों में नायिका-मेर सम्बन्धी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। 'शुभा निधि' नामक ग्रन्थ में तोष कवि द्वारा किया हुआ नायिका-मेर का विवेचन अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

रतुनाथ के काव्य कलाधर में माध-मेर, रस-मेर और नायिका-मेर आदि सभी का वर्णन है, किन्तु कवि ने इसके अन्तर्गत नायिका-मेर का वर्णन विस्तार के साथ किया है। सोमनाथ का 'रस पीयूष निधि' उनके प्रमुख कवि एवं आधार होने का ज्ञात प्रमाण है। इसमें दृष्टांत काव्य का विशाल विवेचन हुआ है। इसमें कवि ने शृंगार रस के व्याख्यान विभाव के अन्तर्गत नायिका-मेर का भी वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इसमें परकीया और इस प्रकार की नायिकाओं का कथन अन्य नायिकाओं से अलग किया गया है। कदाचित् मौलि इन्होंने नायिका के आधार पर पद्मिनी आदि नायिकाओं का उल्लेख किया है। मतिराम द्वारा किये गये स्वकीया के सभी मेरोंपमेर प्रायः इनमें मिल जाते हैं। परकीया के गुप्तादि मेरों का इन्होंने मतिराम की मौलि ब्रह्म न मानकर उसके दूसरे मेर 'परोक्षा' अर्थात् उद्गा क अन्तर्गत ही माना है। इनकी भी प्रवृत्ति सरल और संक्षेप की ओर रही है।

'बिनी प्रवीण' का 'नवरस तरंग' मतिराम के 'रसराज' के आधार पर लिखा गया अत्यन्त मनाहर ग्रन्थ है। कविवर प्रतापसाहि का 'ध्वन्यालोक' इतकिये अत्यधिक महत्व रखता है कि इसमें ध्वन्यकाव्य द्वारा समस्त नायिकाओं का वर्णन कर दिया गया है। 'माला' कवि का रसरंग नामक रस रीति पर लिखा हुआ ग्रन्थ यद्यपि माध-मेर और रस-मेर प्रधान ही है, किन्तु इसका उत्कृष्टतम अंश नायिका-मेर का ही है। इसके अतिरिक्त द्विजदेव, नवीन, सेवक, सरहाय, लक्ष्मण, प्रतापनारायण सिंह, जगन्नाथ मराठ 'मातु' और विहारीदास मट्ट आदि कवियों की रचनाओं में नायिका-मेर का सुन्दर वर्णन पाया जाता है।

नायिका-मेर साहित्य के विषय पर एक विरहम दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि इसका क्रमिक विषय आधार्य कवि मतिराम का 'रसराज' के बाद ही होता है।

नायिका-भेद साहित्य की भी भूमि मतिराम ने प्रस्तुत की, आगे के आचार्यकवियों ने उसे ही आधार बनाकर इस कार्य को आगे बढ़ाया है। कृपायाम की हितचरित्रगी का नायिका भेद का विरहित इतिहास प्रस्तुत करने का गौरव अवश्य है, आचार्य कवि कदाचि काव्य के प्रथम मोड़, आचार्य होने का सौभाग्य अवश्य प्राप्त है, किन्तु जिस आचार्य कवि की आकृषिय सरस एवं मार्मिक रचनाओं को अपनी परम्परा के निमाण का गौरव प्राप्त है, वे हैं अनुपम प्रतिभा सम्पन्न महाकवि मतिराम और नायिका-भेद पर लिखा उनका अनुपम ग्रन्थ 'रसराज'। इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि कृपायाम और कदाचि की रचनाओं की आदर्श मान कर व्यापक रूप से नायिका-भेद ग्रन्थों का निमाण हिन्दी के मध्यकालीन कविता साहित्य में नहीं हुआ। किन्तु मतिराम के पश्चात् एक भी प्रमुख ऐसा कवि नहीं मिलेगा जिसने कि नायिका-भेद के सम्बन्ध में कुछ न कुछ न लिखा हो, अपना उलझी रचनाओं में से नायिका-भेद सम्बन्धी उदाहरण प्रस्तुत न किए जा सकें हों। पद्माकर आदि जैसे कवियों ने तो 'रसराज' के आदर्श पर अनेक अनुपम नायिका-भेद ग्रन्थों का निमाण किया है।

इस लोकप्रियता के पीछे मतिराम की रचनाओं की अपनी मौखिक विशेषताएँ हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा किसी ऐसे नवीन प्रसंगों की उद्घाटना नहीं की है या उनके पूर्व विद्यमान न रही हो, किन्तु वृत्तों की उलझी हुई अस्पष्ट बातों का अत्यन्त स्पष्ट रूप लेकर सरलतम ढंग से अपनी बना कर फिर प्रकाश प्रकट किया जा सकता है। इसकी कल्पना महाकवि मतिराम को आती थी। इनके अन्दर नायिका भेद में आने वाली नायिकाओं की संस्थाहृदि का आग्रह नहीं पाया जाता, बल्कि उन्होंने प्रमुख नायिकाओं का ही उल्लेख किया है। परकीया और सामान्या की संस्था कदाचि से अधिक बढ़ा देने पर भी दोनों की संस्था में अधिक अन्तर नहीं आया है। 'रसराज' के अन्तर्गत अन्य इतने स्पष्ट तथा उदाहरण इतने सरल एवं मार्मिक हैं कि वह अनेक कवियों और साहित्य मन्त्रों के लिए अनुकरणीय तथा पाठ्य हो गया।

मतिराम की दृष्टि उपग्रहीत सामाजिक व्यवस्था की ओर अत्यन्त सजग रही है। अनादिकाल से मर्यादित रहने वाले तथा सरलता एवं सरलता के अत्यन्त प्रेमी मतिराम ने सरलतम प्रयत्न किया है कि युग का प्रतिनिधि जिस उनका रचनाओं में अवश्य आ जाय। वेद्य में सामान्या नायिका का विषय नहीं किया है, किन्तु उस समय समाज में सामान्या नायिकाएँ थी और उनका परोक्ष सम्मान भी था। वे जानती थी कि उनका कथिप्रिया ग्रन्थ से ही अनुमान लगाया जा सकता है। वे सभी ललितकथाओं में दख एवं नारी मुग्ध आकृषय से परिपूर्ण रहती थी जिससे किसी भी सरल नायक का उनका रूप बाह्य में प्रकट होना कोई बड़ी बात नहीं थी। यही कारण है कि मतिराम ने सामान्या नायिका का अन्त रसराज में स्थान दिया है। मुक्ति सम्पन्न तथा सामाजिक मर्यादों की संस्था में निराश रहने वाले मतिराम सामान्या की पक्षांश करके भी उसका प्रथम सामाजिक कुरावियों का उद्घाटन नहीं जान पड़ते, क्योंकि उन्होंने उसका नेगेटिविटी का वर्णन नहीं किया है। वे जानते थे कि समाज का कुछ आचार्यों में पाया जाता है। औरकारिष्ठा का ही नाथ सामान्या का स्थान दिया गया है।

ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि उत्कलधीन समाज के एक प्रतिनिधि चित्र से अपने अन्य रसरत्न को वे अपूरण नहीं रखना चाहते थे ।

परकीया नायिका के अगुदा भेद का भी उन्होंने सरस वर्णन किया है जिससे कुछ लोग नाक भी सिकोड़ सकते हैं, किन्तु उत्कलधीन कबारी कन्याओं के सरस प्रेम व्यापारों का आदान-प्रदान समाज में प्रचलता था, इतिहास इसका साक्षी है । समाज का साधारण स्तर की बात यदि छोड़ भी दी जाय तो इसके उत्कट नमूने हमें मुगल दरबारों में प्राप्त हो सकते हैं, जिसकी वस्तुओं की लाक राजे-महाराजों से लेकर कवि एवं माट तक छनते रहते थे । मुगल कुमारियों में बहानारा तथा जेमुमिसा के प्रथम व्यापारों के सम्बन्ध में इतिहास सुखर है जिसकी पर्चा अन्यत्र हो चुकी है । ऐसी स्थिति में यदि मतिराम की रचनाओं में अगुदा नायिका का उल्लेख न मिलता तो यह उनकी अपूर्णता ही होती । इन सभी दृष्टियों से 'रसरत्न' नायिका-भेद की एक मौदुम रचना है ।



मतिराम और अलंकार वर्णन

अलंकार वर्णन की पूर्व परम्परा

इसकी बातों की या सुकी है कि काव्य शास्त्र के क्षेत्र में हिन्दी कवियों एवं आचार्यों को संस्कृत साहित्य का हाथ मिला है। अलंकार वर्णन की परम्परा का विकास संस्कृत साहित्य में क्रमशः होता रहा है, जहाँ से हिन्दी कविताओं में अलंकार वर्णन के सूत्र बँटते जा सकते हैं। 'कव्येष्ट' की कृषाओं में अलंकारों का दर्शन होता है, जिससे तथा संख्या १-१२४-७, १-१२४-२०, १-१२४-११ में क्रमशः उपमा, अतिशयोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकार पाये जाते हैं। आलंकारिकों ने 'रामायण' तथा 'महाभारत' से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनकी रचनाएँ ढाई हजार वर्ष से भी पूर्व की हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस काल की कविताओं में भी अलंकार योजना की गई है। शार्ङ्गधर ने उपमा तथा यत्नार्थ ने निरुक्त में अलंकार का वर्णन किया है। पामिनी न भी कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिसमें कुछ काव्य का भी हो सकते हैं, जिससे पता चलता है कि उस समय तक उपमेय तथा उपमान आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रचार हो चुका था।

पामिनी रचित 'पाठाङ्ग विजय' तथा 'बामनन्ती विजय' दो काव्यों का उल्लेख मिलता है, पर यह निश्चित नहीं कि काव्यकार तथा नैयाकरणी पामिनी एक ही हैं या दो हैं। पात्वायन का बार्हिक में आख्यायिका का उल्लेख हुआ है। पतञ्जलि न अथन महामात्य में वाचस्पति, मुनिसागर तथा भिन्नरणी तीन आख्यायिकाओं और एक बरहसि काव्य का उल्लेख किया है। 'जस-जस' तथा 'बलि-धन' का प्रत्यक्ष विवरण का वर्णन से दो नाटकों का भी वर्णन पता जाता है। इनके सिवाय और भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण अन्य ग्रंथों से मिले हुए महामात्य में मौजूद हैं जिनमें कविता नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी साहित्यिक बातों का वर्णन आता है।^१ तात्पर्य यह कि विष्णुधर का आरम्भ होने तक संस्कृत कविताओं का अन्वेषण हो गया था जिससे उनकी व्याख्या तथा निम्न निर्धारण की आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी काव्य रचना तथा साहित्यिक निम्नों की विशेषता साध-साध होने लगी।

सन् १५० ई० में लिखे गये मृगानुद के रङ्गमन खजर के शिष्यलेख से शत होता है कि उस समय तक काव्य की सुपरिचित साहित्यिक विवेचना आरम्भ हो गई थी, जहाँ क इसमें काव्य का गद्य, पद्य तथा लुट, मृदु, पत और ठगर गुणों का उल्लेख हुआ है। इसका अतिरिक्त लेख में 'कम्प' भी गूँथ आया है। अलंकार की रचना पद्धति का देखाकर कहा जा सकता है कि वे स्थूल शास्त्र का अन्वेषण शताब्दों और इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत का 'नाट्यशास्त्र' भी इसी का आसपास बना हुआ जिसमें ल, गुण, नाट्यकला

और व्यंग्यकारों की विवेचना की गई है। मामूह तथा इन्हीं ऐसे आलेखकारिक आचार्यों एवं कवियों के समय तक संस्कृत साहित्य में आलेखकारों का वैभव तो का ही गया था, कवियों एवं लेखकों ने तत्सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग आरम्भ कर दिया था। इसी काल में मुकुन्द ने 'वासवदत्ता' और वाचस्पति ने अपनी 'अष्टाध्यायी' आदि रचनाओं में पारिभाषिक शब्दों का व्यापक प्रयोग किया है। इस प्रकार एक ओर तो अलंकृत शैली में ग्रन्थ रचे जा रहे थे और दूसरी ओर तद्विपर्यय शास्त्र ग्रन्थों की भी सृष्टि हो रही थी। मामूह और इन्हीं ने अपनी रचनाओं में पूर्वोक्तार्थों के नामों का भी उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इनके पूर्व भी शास्त्र ग्रन्थ लिखे जा रहे थे, वे अब मर चुके ही उपलब्ध न हो।

संस्कृत साहित्य के आचार्यों और कवियों की अलग-अलग सीमाएँ रही हैं। आचार्य केवल उच्च शिक्षा देने का कार्य करते थे और उदाहरण के लिये अन्य कवियों की कृतियों से रचनाएँ अंश-श्राव्य कर उपस्थित करते थे। मारुति, माण्डव्या आदि की अलंकृत कविताओं को जो उद्धृत होने का सबसे अधिक गौरव प्राप्त है उसका एकमात्र कारण यही है कि जिन व्यंग्यकारों के लक्षण आचार्यों ने निर्मित किये, उनका इन कवियों की रचनाओं में चरम विकास हुआ। अतएव न होगी यदि कहा जाय कि इन अलंकृत ग्रन्थों के ही आधार पर उक्तों का निर्माण हुआ है। कृतियाँ पहले बनती हैं और उनका निम्न बाद में। इस प्रकार यदि देखा जाय तो व्यंग्यकारों का स्वाभाविक रूप में क्रमिक विकास हुआ है जिन्हें बाद में आचार्यों ने शास्त्रीय स्वरूप देना आरम्भ कर दिया।

हिन्दी के आचार्यों की स्थिति संस्कृत के आचार्यों की-सी नहीं रह सकी, क्योंकि उन्हें मूल रूप में कृत्यों का निर्माण नहीं करना था, बल्कि संस्कृत के शास्त्र ग्रन्थों को भाषान्तर करके हिन्दी में सर्वप्रथम बनाना था। यही कारण है कि हिन्दी के अधिकांश आचार्य कवि भी हैं और उन्होंने उदाहरण देने के लिये स्वयं कविताएँ पढ़ी हैं जिससे अलेखकार प्रयोग साधन न होकर साध्य हो गया। कुछ आचार्य कवि तो ऐसे हैं जो मूलतः कवि हैं, किन्तु ऐतिहासिक परम्परा का निर्वाह करने के लिये ही उन्होंने कृत्रिम प्रयत्न किये हैं, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि उनकी रचनाओं में आचार्यत्व की अपेक्षा काव्यत्व अधिक प्रौढ़ रूप में दिखाई पड़ता है। मतिराम का 'अस्तिस्मयम्' इस प्रकार का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस काल के कुछ कवियों को छात्र पर प्रायः सभी अन्य कवियों ने काव्यशास्त्र के एक-एक अंग का लेख्य अपर्णात, व्यष्ट तथा कहीं-कहीं आमक परिभाषाएँ देकर उनका उदाहरणों के लिखने में अपनी सारी कविता शक्ति समर्प दी है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार संस्कृत में आचार्य वर्ग अलग था उस प्रकार हिन्दी में न हो सका। इससे मुख्य कारण हिन्दी के आचार्यों में काव्यशास्त्र सम्बन्धी भोक्तृत्व का अभाव तथा गद्य साहित्य का न होना है, जिसकी गम्भीर विवेचना के लिए विशेष आवश्यकता होती थी। ये कविगण भाषा पर भी नियंत्रण नहीं रख सके और 'मात्र अनुद्धो चाहिये भाषा वैशिष्ट्य होय' का सिद्धान्त प्रसारित हो गया जिससे इस काल के आचार्य कवि छात्रों को सादृ-मर्याद कर प्रयोग करने तथा ब्रह्म अपर्णा आदि भाषाओं के शब्दों को मुविधानुसार मिश्रण करने का वे काम दबाने नहीं कर सके।

हिन्दी अष्टाचार धारण का वास्तविक आरम्भ 'पुष्प' कवि की व्याप्य रचना को छोड़ देने पर आचार्यकवि केशव की 'कविप्रिया' से ही होता है। संस्कृत काव्य (रीतिशास्त्र) के पूर्व मति काव्य में काव्यशास्त्र के कुछ अंगों पर रचनाएँ हो चुकी थीं जिनका उल्लेख हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रसंग में हो चुका है, किन्तु वे रचनाएँ अष्टाचार धारण की सामने रस का व्यवस्था अष्टाचार वर्णन की, दृष्टि से ही नहीं की गई हैं। काव्य शास्त्र सम्बन्धी सभी उपलब्ध सामग्रियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेरणाशाली हिन्दी के सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने एक व्यवस्थित ढंग पर अष्टाचारों के सधन और उदाहरण प्रस्तुत किए। संस्कृत के प्रकाशित पंडित होते हुए भी प्रेरणा में अपनी अष्टाचार धारण सम्बन्धी रचना हिन्दी में की, जबकि उनके बाद तक भी पण्डितराज ब्रह्माचार्य को 'रस संग्रहण' ऐसे संस्कृत काव्य ग्रन्थ प्रस्तुत करने का आकर्षण बना रहा तो अवश्य ही इससे वे किसी विनोद अन्विष्टा की सिद्धि करना चाहते थे। आचार्य केशव हिन्दी में समस्त काव्यशास्त्र को सुलभ बना देना चाहते थे, किन्तु उनके परचाह इस भावना के परम्परा रूप में विकसित न होने के कारण यह कार्य असम्भव हो गया और मुसलमानों की दरबारी सम्मति ने बिना प्रचार रूप शिष्य, संगीत तथा चित्रकला आदि को प्रभावित किया उन्हीं प्रकार काव्यशास्त्र के इस महत्वपूर्ण धर्म का मत, जिससे अत्यन्त ग्रन्थ प्रस्तुत करना एक कला प्रदर्शन का आवेग और कुछ नहीं रह गया।

इसमें किसी प्रकार का संदेह किया ही नहीं जा सकता कि 'केशव' आचार्य की भावना से संस्कृत ज्ञान-वर्धित युवकों के लिये हिन्दी में काव्यशास्त्र छिद्र रहे थे। उन्होंने ब्रह्माचार्य में समस्त काव्यशास्त्र को सुलभ बना देने का जो भीगवेष्ट किया था, उसका महत्वांकन न कर लक्ष्मी के कारण आब का अनुग्रही आलोक में बचन की संस्कृत की पुगनी परम्परा का आचार्य मान बैठता है, वह यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि प्रेरणा न भाषा में काव्यशास्त्र को प्राप्य बनाने का मार्ग युक्तों के लिये भी प्रकाश कर दिया था। बचन प्रस्तुत एक बड़े आचार्य से जिनका पाण्डित्य अतर्क्य है, उन्होंने पाण्डित्य में जितना अंगों का विवेचन किया उतने अंगों का दूसरे आचार्यों ने नहीं। रीतिशास्त्र के सामान्य प्रकार से वे केवल इसी आधार पर अलग किए जा सकते हैं कि उनका आचार्य पूर्ण तथा व्यापक है, एकदली नहीं, परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण विनोद प्रेरणा का कवि शिवा मिश्रना है—रीतिशास्त्री आचार्यों ने रस का व्यवस्था के लक्षण, उदाहरण प्रस्तुत किए, परन्तु बचन में कविप्रियावासी युवकों की साधना का मार्ग दिखाया।^१

आचार्य केशव के उदात्त विद्वान्मित्र से लेकर पचास तक एक सम्मति दिगन्त है। विद्वान्मित्र ने जबिकुल चरित्र का तथा वाचस्पति की रचना बनस अष्टाचार वर्णन की दृष्टि से नहीं, काव्यशास्त्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही की है। चरित्र आचार्यों के सधन और उदाहरण प्रस्तुत करने अपना अष्टाचार धारण का निर्माण करने के लिए मति रस में पूर्व महत्वपूर्ण चरित्र एक ग्रन्थ रूप में १६९५ में समाप्त रणदंगिद रूप में प्रस्तुत किया गया है, अथवा इस कोष का मतिरामरुत 'कविप्रिया' प्राप्त ग्रन्थों में

प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अलंकारों को कंठस्थ करने की दृष्टि से वसुधैतसिंह कुछ माया-भूषण अर्थात् महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, अन्यथा अलंकार शास्त्र का विद्युत् विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं हो पाता है। अलंकार शास्त्र संबंधी ग्रन्थ लिखते वाले जिन आचार्यों के संबंध में यह कहा जाता है कि वे आचार्य बाद में और स्वच्छन्द कवि पहले थे, उनमें महाकवि मतिराम ध्येयी थे। जिस प्रकार नामक-नाविका-मेद के क्षेत्र में मतिराम सर्वप्रथम आचार्य हैं जिनका परवर्ती कवियों ने सबसे अधिक अनुसरण किया, उसी प्रकार अलंकार वर्णन के क्षेत्र में भी उन्होंने एक नवीन अध्याय की सृष्टि की।

मतिराम और उनके अलंकार ग्रन्थ

‘संस्मृतस्यमम’ अलंकारों पर लिखा हुआ मतिराम का अत्यंत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसे अतिरिक्त अलंकार पंचाधिक्य, एक और अलंकार ग्रन्थ कवि मतिराम कुछ माना जाता है। इस ग्रन्थ के पूर्णरूपेण न मिलने के कारण, इसके संबंध में कुछ कहना कठिन बात पड़ता है। अलंकार पंचाधिका की रचना कवि न कुमायूँ के राजा उद्योतचन्द के पुत्र अन्नचन्द को अलंकारों को सिखा देने के लिये ही की थी, ऐसा जान पड़ता है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

‘अन्नचन्द के गुन घने गमै मने गुनवंत,
वारिधि के मुक्तान को दौने पाबी अंत।
संदेपि यथामति लो क्यो छन्द अर्य अमिराम,
अलंकार पंचाधिक्य रची रहिर मतिराम।

पुस्तक के प्राप्त न होने के कारण निम्नपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु किताब कथं मिला है उससे यही जान पड़ता है कि उन्होंने ‘संस्मृतस्यमम’ में कड़े मरु अक्षरों के आचार पर संक्षेप में कुमायूँ नरेश की प्रशंसात्मक उक्तियों के साथ थोड़े बहुत परिवर्तनों के सहारे मधुर-उगाहरण प्रस्तुत किये होंगे।

संस्मृतस्यमम

‘रसरस’ के बाद ‘संस्मृतस्यमम’ मतिराम का काव्य की दृष्टि से सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कवि ने इस ग्रन्थ का संभवतः अपने आभयगंगा बौरी के महाराज माधमिह के लिये किया है, जिसमें अलंकारों का वर्णन है। मतिराम मूलतः प्रसन्नगी कवि हैं जिससे इनके अलंकार-ग्रन्थों का भी महत्त्व अपेक्षाकृत काव्य लोच्य की दृष्टि से अधिक है। गजानन्यार की औपचारिकता से विवश होकर ही उन्हें ‘संस्मृतस्यमम’ को अलंकार ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करना पड़ा होगा अन्यथा अपने अलंकारों के उदाहरणों में रस हो उसप्रकृता दिग्दर्शक पड़ता है तथा प्रायःकालों की मध्य-मध्यम उन्नत मर्याद संप्रदित उन्नतों में विद्यमान है। रीति-ग्रन्थों का लिखना तथा उन्हें आभयगंगाओं को समर्पित करना उस काल की सम्मता का एक भाग था जो गया था जिसकी मतिराम उपेक्षा नहीं कर गये। कवि सम्मान प्राप्त करने के लिये अलंकार ग्रन्थ लिखना अनिवार्य था, जिसका परिणाम ‘संस्मृतस्यमम’ है। मतिराम ने एतदर्थ सिंह की दधि का ध्यान करते हुये सम्मानार्थ ‘संस्मृतस्यमम’ लिखा और उन्हें मनेउत्सव सम्मान उससे मिश्र हो, जिसमें उन्होंने विश्वास था साथ बताया भी प्रकट की है कि जो भी कोई इसे कंठस्थ कर लेगा उसे राजसभाओं में पर्याप्त आदर मिलेगा—

‘बूँट करे जो, समानि मैं, सोमे अति अभिराम ।

मयो सकल संसार हित, करिषा अस्तित्वमम ॥’ अस्तित्वमम ४०१

‘माद सिंह की रीस की, करिषा भूपन-धाम ।

इय सुकवि मतिराम यह, कीनी अस्तित्वमम ॥’ अस्तित्वमम १८

स्वयं रचनाओं को ही मतिराम ने छन्द छिपकर उद्धृत कर दिया है, ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि करिषाओं की-सी प्रौढ़ता उनके छन्दों में नहीं है। अस्तित्वमम में आये कुछ छन्दों की संख्या ४०१ है जिसमें लगभग आधे गढ़े और दोष करिष-संकेत हैं। इसके अतिरिक्त आधे से अधिक छन्द तो ऐसे हैं जो अन्य उनकी रचनाओं में हैं अथवा राय माऊसिंह की प्रशंसा में करे गये हैं। कुछ थोड़े से छन्द ऐसे हैं जिनकी रचना कवि ने उदाहरणस्वरूप लिखी है। ‘अस्तित्वमम’ के आरम्भिक पाँच छन्दों में मंगलप्रारम्भ है जिनमें एक छन्द राय माऊसिंह को स्वयं करके लिखा गया है। मंगलप्रारम्भ के बाद के छन्दों में ‘बूँटी-नगर वर्णन’ तथा ‘छल्लह छन्दों में ‘सुपरस वर्णन’ किया गया है। जिसमें भी कवि ने दो छन्द पूर्णतः राय माऊसिंह को ही स्वयं करके लिखा है। मतिराम अपने आभरणवाता राय माऊसिंह पर पूर्णतः रीस गये जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अस्तित्वमम के लगभग आठ छन्दों में गिछ खोछकर महाराज की प्रशंसा की है। राय छन्दों में हकीमसिंह छन्द कवि ने अपनी अन्य रचनाओं ‘रसराज’ तथा ‘रससूत्र’ से लेकर उद्धृत कर दिये हैं और अन्तिम तीन छन्दों में कवि ने शुभकामना प्रकट की है। इस प्रकार छन्द स्तुति के लिये छिपे गए यदि एक सौ बीसवाँ दोहो को भी निकाल दिया जाय तो आधे से अधिक ऐसे निम्न बात हैं जिनकी रचना अलंकारों के उदाहरणस्वरूप नहीं लिखी जान पड़ती, बल्कि अस्तित्वमम के चार सौ एक छन्दों में एक सौ अष्टतिष्ठ छन्द ऐसे हैं जिन्हें कवि ने ‘अस्तित्वमम’ ऐसे अलंकार अन्य के संवहाराय लिखा होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वाक्याष्टीन छन्द प्रयोगों की परम्परा अपनी राजदरबार की औपचारिकता से प्रेरित होकर ही उन्हें अलंकार अन्य प्रस्तुत करना पड़ा है। यही कारण है कि ‘अस्तित्वमम’ मतिराम की प्रथम प्रविष्टि की प्रौढ़ता का जितना सातन करता है उतना उनका आचार्यत्व का नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मतिराम में आचार्य होने के गुण वर्तमान ही नहीं थे, उनमें आचार्य होने की पूर्ण समता थी, किन्तु अपनी रचना और प्रशंसा में वे कवि प्रथम और आचार्य बाद में हैं। वहाँ तक समसामयिक हिन्दी आचार्य परम्परा का प्रश्न है, वाक्याष्टीन वन हिन्दी आचार्यों के विचार उठाने पर यह एवं मुझे दुष्ट है जिसकी आचार्य कवि मतिराम के।

कवि मतिराम के व्यङ्ग्यरचारी में हमें यह स्पष्ट भी प्रमाण मिलता है कि उन्होंने ‘अस्तित्वमम’ में वाक्याष्टीपरी का बदन न करके अष्टाष्टीपरी का ही वर्णन किया है। अन्य के तीन सौ आठ छन्दों में अष्टाष्टीपरी का वर्णन किया गया है। जिसमें मतिराम में वाक्याष्टीपरी की वाक्याष्टी ही नहीं की है, इसका अतिरिक्त उन्होंने चार सन्दर्भ आदि, तीन आशेष आदि तथा आठ प्रमाण अष्टाष्टीपरी को ही रचाने नहीं दिया है। आचार्य प्रथम में अन्य के प्रारम्भ में तथा भूषण में अन्त में अष्टाष्टीपरी की रूप दी है, किन्तु इन अष्टाष्टीपरी की रूपों की ‘अस्तित्वमम’ में नहीं की गई है। ‘अस्तित्वमम’ में वर्णित अष्टाष्टीपरी की संख्या तथा कम अन्वय ‘सुन्दरानन्द’ के ही अनुसार है। फलतः एक अष्टाष्टीपरी ‘अस्तित्वमम’

को 'कुलक्ष्यानन्द' में मिलता है, 'संछितछम्भम्' में नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त बर्चन पद्यति पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव 'संछितछम्भम्' पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। भाषा भूपथ आदि के समान 'चित्र' अक्षरों का भी इस ग्रन्थ में स्थान मिल गया है।

यह कहना कठिन है कि 'संछितछम्भम्' पर किसी एक संस्कृत छन्द ग्रन्थ का प्रभाव है, क्योंकि अपनी रचि के अनुसार कविक ने कई ग्रन्थों का सहारा लिया है ऐसा जान पड़ता है। वैसा कि देखा जा सकता है 'अक्षरों के भेद सर्वत्र कुलक्ष्यानन्द के आधार पर नहीं हैं। किसी एक मुख्य का आधार भी नहीं माना जा सकता। अतिरिक्त, अप्रसुत प्रशंसा तथा अन्य के भेद नहीं भी दिये गये—अप्रसुत प्रशंसा के भेदों की व्यवस्था पर ध्यान देना पड़ेगा। विनाक्ति, अर्थान्तरन्यास तथा भाविक के भी भेद नहीं मिले, परन्तु दो-दो उदाहरण दे दिये हैं, जिनसे व्यक्त अर्थ भेद स्पष्ट हो जाते हैं—विनाक्ति का प्रथम उदाहरण चन्द्रालोक में बंशित हीनत्व-प्रतिपादन बाध है, और दूसरा 'कुलक्ष्यानन्द' में बढ़ाया गया शोभनत्व प्रतिपादन बाध। अर्थान्तरन्यास का प्रथम उदाहरण सामान्य से विशेष का समर्थन करता है और दूसरा विशेष से सामान्य का। भाविक का प्रथम उदाहरण भूवास्य का है तथा दूसरा मविष्कृत्य का। केवल तथा तुल्य-प्राप्ति के दो-दो भेदों का ही उल्लेख है।^१ कुछ अक्षरों के तो मतिराम ने नामों में भी परिवर्तन कर दिये हैं—कैतव्यपङ्क्ति, प्रविशमान उद्योता, अन्वोन्य तथा कारकमात्र को पयायवाची शब्दों द्वारा बदल कर उन्होंने कम से कमपङ्क्ति, गुहाप्रेक्षा, परस्पर तथा हेतुमात्र लिखा है। इस परिवर्तन का कोई ठोस आधार नहीं जान पड़ता—कविक यह कवि की रचि का ही परिचायक है।

ऐसा जान पड़ता है कि मतिराम को नाम बन्धने का शौच था था, वैसा कि उन्होंने अक्षर शब्द के लिये छन्द शब्द का उपयोग किया है और अपने ग्रन्थ का नाम संछित छम्भम् रखा है। 'छम्भम्' का अर्थ है सुन्दर, शान्दर्य या अलंकार, और संछित का अभिप्राय है सुकुमारपयोगी—अप्ययीक्षित ने भी अपने स्वयं छन्द संग्रह का संछित ही बनाया था ('संछित' कियते तेषां छन्द छन्द संग्रहः ॥४॥—कुलक्ष्यानन्द) इस प्रकार संछितछम्भम् का अर्थ हुआ ऐसा अलंकार ग्रन्थ जो सुकुमार बुद्धि पाठकों के लिये उपयुगी हो।^२ प्रथम टापस की और उन्मुख हमने के पारस मतिराम ने बहुत से अक्षरों के नामों में से अछर तक कम करन का प्रयत्न किया है। उन्होंने विशेष के स्थान पर विशेष और विपादन के स्थान पर विपाद लिखा है जो विशेष खरक्या भी नहीं और अर्थ समाने में भी किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होती, किन्तु कठिनाईयों ऐसे स्थान पर आ जाती हैं जहाँ पर एक ही नाम से दो अक्षरों को स्वीकृति दे दी जाती है। 'संछितछम्भम्' में इन कठिनाई का अनुपपन्न उस स्थान पर होता है जहाँ कवि ने एक स्थान पर तो विशेष का विशेष बना दिया और दूसरे स्थान पर भी विशेष नामक एक दूसरे अक्षर का भी वर्णन कर दिया है। इस अतिरिक्त कवच और उदाहरण की सटीक संगति या कहीं-कहीं नहीं बैठ पाती, उनका छिद मतिराम की स्वतंत्र चम्प्य प्रतिभा ही उत्तरदाई है जो छन्दों के अन्तर्गत नहीं पड़ पाती। पूर्ववर्ती

१ हिन्दी अलंकार साहित्य, ओम्प्रकाश, प्र० सं०, पृ० ११।

२ वही।

आचार्यों में श्रुति तथा स्मरण, भ्रान्ति तथा भ्रम का हेरफेर और संस्कृत में स्वभावोक्ति तथा वाचि का एक दूसरे का पर्याय होना तो सामान्य-सी बात रही है, किन्तु अलंकारों के नामों में स्वच्छन्दता की आवश्यकता उन लोगों में नहीं समझी है जो कवित्वकलाम में पाई जाती है।

कवित्वकलाम में वर्णित अलंकारों की संख्या अगणन एक ही अरसी फ है जिनमें भेद-उपभेद भी संमिश्रित हैं। कुछ अलंकारों के तो कबल उदाहरण ही प्रस्तुत किए गए हैं जिनमें मुख्यतः प्रमुख अलंकारों के भेद-उपभेद ही हैं। अन्य पूरवर्ती आचार्यों ने जहाँ लघुय देने के साथ ही साथ भेदोपभेदों का नाम भी मिला मिला है, वहीं मतिराम ने बहुत से भेदोपभेदों का स्वतंत्र वर्णन किया है जिससे यह पता लगाना अत्यंत कठिन हो जाता है कि कब उन्हें स्वतंत्र अलंकार मानता था, कबवा उपभेद के रूप में स्वीकार करना चाहता है। ऐसा कि कुछ अन्य आचार्यों ने पूर्णोष्मा, ह्रस्वोष्मा, माधोपमा आदि को उपमा के भेद माने हैं, किन्तु मतिराम ने इसका कहीं भी संकेत न करके उनका स्वतंत्र वर्णन किया है।

अलंकार वर्णन

उपमा-वर्णन

कवित्वकलाम में उपमा के अनेक भेदों का कथन किया गया है, किन्तु इसकी रूपना मतिराम में नहीं दी है कि वे उपमा के अमुक-अमुक भेदों का वर्णन कर रहे हैं ऐसा कि अन्य आचार्यों ने किया है। उपमा अलंकार को 'कवित्वकलाम' में विंशति महत्त्व दिया गया है और अन्य का आरम्भ उपमा अलंकार से ही होता है। उपमेय और उपमान का लक्षण देकर उपमा का लक्षण दिया गया है जिस पर अवश्य का शङ्क प्रसार है^१।

जिसका वर्णन किया जाय उसे उपमेय और जिसकी समता दी जाय उसका उपमान कहते हैं। जहाँ उपमेय और उपमान की समान सुन्दरता का वर्णन हो, मतिराम वहाँ उपमा अलंकार मानते हैं। इसका भेदों के अन्तर्गत पूर्णोष्मा, ह्रस्वोष्मा, माधोपमा, उपमोष्मा और रचनाष्मा का उन्होंने वर्णन किया है। हमारे पूर्णोष्मा का लक्षण अत्यन्त विविध है और माधोपमा, रचनाष्मा तथा उपमोष्मा का लक्षणों पर काव्य प्रकाश और काव्य दर्शन का स्पष्ट प्रभाव कथित होता है^२।

१. जहाँ वर्णित बुद्धि की सम छवि को उल्लास।—(कवित्वकलाम)

उपमावत् सादृश्यकर्मोपपत्तिरिति ह्योः।—(उपदेश)

२. (क) जहाँ एक उपमेय को दोनो बहुत उपमान। —कवित्वकलाम
माधोपमावत् कस्योपमानं बहुदरपते। —साहित्यदर्पण
- (ख) जहाँ प्रथम उपमेय सा, होत जात उपमान। —कवित्वकलाम
पयोवत्पुष्पमेयवत् यदि रसायुपमानता। —साहित्यदर्पण
- (ग) जहाँ होत है वरपर, उपमेयो उपमान। —कवित्वकलाम
पयोवत्पुष्पमेयवत्पुष्पमेयमा मता। —साहित्यदर्पण
विषयवत् उपमेयोपमा तयोः। —काव्यप्रकाश
- (घ) जहाँ एक ही बात को उपमेयोपमान। —कवित्वकलाम
उपमानोपमेयवत्पुष्पमेयवत्पुष्पमेयवत्। —साहित्यदर्पण

अनन्वय

एक ही वस्तु को जब उपमेय और उपमान दोनों कहा जाता है तो वही अनन्वय-अंकार होता है।

प्रतीप

प्रतीप अंकार में प्रसिद्ध उपमान को ही उल्ट कर उपमेय कहा जाता है। मठिराम ने द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम नाम से इसके अन्य भेदों का भी वर्णन किया है।

रूपक

जहाँ उपमान और उपमेय को अमिश्र मानकर उद्गूढ़ वर्णन किया जाय, वहाँ रूपक अंकार होता है। 'कवितृत्त्वाम' में समोक्ति अमिश्र रूपक, हीनोक्ति अमिश्र रूपक और अविकोक्ति अमिश्र रूपक नामक रूपक के तीन प्रमुख भेद स्वीकार किए गए हैं। किन्तु उदाहरण प्रस्तुत करते समय अमिश्र और उद्गूढ़ रूपक को अष्टय-अष्टय मानकर समोक्ति, हीनोक्ति तथा अविकोक्ति के वर्णन दोनों के साथ-साथ अष्टय-अष्टय किए गए हैं।

परिणाम

परिणाम अंकार में उपमान और उपमेय मिलकर (अमिश्र होकर) किसी कार्य का संपादन करते हैं।

उत्प्लेख

उत्प्लेख अंकार के दो भेद माने गये हैं। जहाँ एक ही वस्तु का वर्णन अनेक छेगों द्वारा अनेक प्रकार से किया जाय, वहाँ प्रथम उत्प्लेख और जहाँ एक ही वस्तु का वर्णन एक ही व्यक्ति द्वारा अनेक प्रकार से किया जाय वहाँ द्वितीय होता है।

स्मृति-भ्रम और सन्देह

मठिराम ने स्मृति-भ्रम और सन्देह का स्वयं एक ही साथ दिया है, किन्तु प्रत्येक के उदाहरण अष्टय-अष्टय दिये हैं। जहाँ किसी वस्तु की वस्तु और किसी वस्तु का स्मरण, भ्रम तथा संदेह हो वहाँ उपरोक्त तीनों अंकार होते हैं। तीनों अंकारों का स्वयं एक साथ दे देने से स्वयं किन्तु ही स्पष्ट नहीं होता, जब कि उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट हैं। स्वयं देने में कवि का संकाय सर्वत्र दिखलाई पड़ता है।

अपनुति

किस रचाना पर बाह्यविक्रम (उपमेय) की छिपाकर अन्य-धर्म (उपमान) की स्थापना की जाय, वहाँ द्रष्टापनुति अंकार होता है। 'कवितृत्त्वाम' में अपनुति का स्वयं तथा उदाहरण न देकर द्रष्टापनुति से आरम्भ कर उसके द्रष्टापनुति, देखापनुति, पर्यक्षापनुति, भ्रान्त्यापनुति, छेकापनुति तथा छद्मपनुति आदि छ' भेदों का भी वर्णन किया गया है।

उत्प्रेक्षा

जहाँ किसी वस्तु की सम्भावना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अंकार होता है। शिखरे वस्तुप्रेक्षा, हेतुप्रेक्षा तथा फलोप्रेक्षा मुख्य तीन भेद हैं और प्रत्येक के उपभेदों का भी वर्णन

किया गया है। उक्तविषया और अनुक्तविषया वस्तुष्येष्टा के दो भेद तथा हेतुष्येष्टा और कसोष्येष्टा में प्रत्येक के सिद्धविषया और अतिरिक्त विषया दो भेद होते हैं। इतक अतिरिक्त जहाँ जानक शब्द का अभाव होता है, वहाँ गुणष्येष्टा नाम से एक अलंकार छन्दोबद्धात्म में और स्वीकृत किया गया है। मतिराम के उल्लेख का सूत्रम मम्मटा तथा विश्वनाथ पर हो आधारित है।^१ 'आद्यः भेदः किय गये हैं उनका उदाहरण उपयुक्त है, परन्तु अनुक्तविषया वस्तुष्येष्टा का उदाहरण विचारार्थ है। यह भेद यहाँ माना जाता है, वहाँ उल्लेख की विषय भूत वस्तु का कथन न हो।'^२

अतिशयोक्ति

मतिराम ने अतिशयोक्ति का सूत्र नहीं दिया है, परन्तु इसके रूपकातिशयोक्ति, सापेक्षतिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, द्विविधसंबंधातिशयोक्ति, त्रिविधसंबंधातिशयोक्ति, अकामातिशयोक्ति, संबन्धतिशयोक्ति तथा अत्यंतातिशयोक्ति आदि भेदों का वर्णन किया है। रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण हैं परन्तु बड़े अस्पष्ट।

प्रथमदुस्योगिता

'छन्दोबद्धात्म' में प्रथमदुस्योगिता के नाम से ही दुस्योगिता का सूत्रम किया गया है और अवर्ण्य तथा वर्ण्य का एक-एक उदाहरण दिया गया है। उपमानों अपभ्रंश उपमयों का वहाँ एक घम वर्णित है। वहाँ मतिराम ने दुस्योगिता अलंकार माना है।

द्वितीय दुस्योगिता

वहाँ हित और अहित दोनों में वर्ण्य का समान भाव दिखाया जाय, वहाँ द्वितीय दुस्योगिता अलंकार होता है।

दीपक

वर्ण्य-अवर्ण्य अपवा उपमेय और उपमान के वहाँ एक ही घन बताये जायें, वहाँ दीपक अलंकार होता है।

दीपकावृत्ति

वहाँ दीपक में (घमबाधी शब्दों की) आवृत्ति पायी जाय वहाँ दीपकावृत्ति अलंकार होता है। यह आवृत्ति शब्द, अर्थ और शब्दार्थ तीन प्रकार की होता है जिसके आधार पर उन्होंने शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति तथा शब्दार्थावृत्ति तीन प्रकार के दीपकावृत्ति के भेद माने हैं।

प्रतिस्मृत्तमा

जहाँ दो भिन्न पदों में विभिन्न एकावर्तनाधी शब्दों द्वारा एक घम की ही व्यंजना की जाय वहाँ प्रतिस्मृत्तमा अलंकार होता है।

- | | | |
|---|--|----------------|
| १ | सम्भारनमग्यादित्वा । | —काव्यप्रकाश |
| | सहाय्यसम्भारनापेक्षा । | —साहित्यरूपम |
| | ऊर्ध्व कीर्ति सम्भारना, सापेक्षा जाति । | —छन्दोबद्धात्म |
| २ | हिन्दी अलंकार साहित्य, ओम्कारिका, प्र० १०, पृ० १ | |

अनन्वय

एक ही वस्तु को जब उपमेय और उपमान दोनों कहा जाता है तो वहाँ अनन्वय-अंकार होता है।

प्रतीप

प्रतीप अंशकार में प्रसिद्ध उपमान को ही उल्ट कर उपमेय कहा जाता है। मतिराम ने द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम नाम से इसके अन्य चारों का भी वर्णन किया है।

रूपक

जहाँ उपमान और उपमेय को अमिश्र मानकर तद्वत् वर्णन किया जाय, वहाँ रूपक अंशकार होता है। 'छवितत्त्वप्राम' में समोक्ति अमिश्र रूपक, हीनोक्ति अमिश्र रूपक और अधिकोक्ति अमिश्र रूपक नामक रूपक के तीन मुख्य भेद स्वीकार किए गए हैं। किन्तु उदाहरण प्रस्तुत करते समय अमिश्र और तद्वत् रूपक को अस्म्य-अस्म्य मानकर समोक्ति, हीनोक्ति तथा अधिकोक्ति के वर्णन दोनों के साथ-साथ अस्म्य-अस्म्य किए गए हैं।

परिणाम

परिणाम अंशकार में उपमान और उपमेय मिलकर (अमिश्र होकर) किसी कार्य का संपादन करते हैं।

उत्प्लेख

उत्प्लेख अंशकार के दो भेद माने गये हैं। जहाँ एक ही वस्तु का वर्णन अनेक छेनों द्वारा अनेक प्रकार से किया जाय, वहाँ प्रथम उत्प्लेख और जहाँ एक ही वस्तु का वर्णन एक ही व्यक्ति द्वारा अनेक प्रकार से किया जाय वहाँ द्वितीय होता है।

स्मृति-श्रम और सन्देह

मतिराम ने स्मृति-श्रम और सन्देह का अलग एक ही साथ दिया है, किन्तु प्रत्येक के उदाहरण अलग-अलग दिये हैं। जहाँ किसी वस्तु की बेलखर और किसी वस्तु का रमण, श्रम तथा सन्देह हो वहाँ उपरोक्त तीनों अंशकार होते हैं। तीनों अंशकारों का अलग एक साथ दे देने से अलग विस्तृत ही स्पष्ट नहीं होता, जब कि उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट है। अलग देने में कवि का संकाय सर्वत्र दिखलाई पड़ता है।

अपनुत्ति

जिस स्थान पर वास्तविक धर्म (उपमेय) को छिपाकर अन्य धर्म (उपमान) की स्थापना की जाय, वहाँ अज्ञापनुत्ति अंशकार होता है। 'छवितत्त्वप्राम' में अपनुत्ति का अलग तथा उदाहरण न देकर अज्ञापनुत्ति से आरम्भ कर उसका अज्ञापनुत्ति, हेतुपनुत्ति, पर्यस्तापनुत्ति, ज्ञानस्थापनुत्ति, छकापनुत्ति तथा अक्षपनुत्ति आदि छः भेदों का ही वर्णन किया गया है।

उत्प्रेक्षा

जहाँ किसी वस्तु की सम्पादना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अंशकार होता है। जितने वस्तुप्रेक्षा, हेतुप्रेक्षा तथा फलोप्रेक्षा मुख्य तीन भेद हैं और प्रत्येक के उपभेदों का भी वर्णन

किया गया है। उक्तविषया और अनुक्तविषया बलुल्लेखा के दो भेद तथा हेतुल्लेखा और कलाल्लेखा में प्रत्येक के सिद्धविषया और अविद्ध विषया दो भेद होते हैं। इसका अतिरिक्त जहाँ बाधक शब्द का अभाव होता है, वहाँ शुभतल्लेखा नाम से एक अलंकार अलङ्कारम्भ में और स्वीकृत किया गया है। मतिराम के उल्लेखा का अर्थ मम्मू तथा विधनाय पर हो आधारित है।^१ 'जा छः भेद किए गए हैं उनका उदाहरण उपयुक्त है, परन्तु अनुक्तविषया बलुल्लेखा का उदाहरण विचारणीय है। यह भेद वहाँ माना जाता है, जहाँ उल्लेखा की विषय भूत बलु का प्रयोजन न हो।'^२

अतिशयोक्ति

मतिराम ने अतिशयोक्ति का लक्षण नहीं दिया है, परन्तु इसके रूपान्तरातिशयोक्ति, तात्पर्यातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, द्विविधसंबंधातिशयोक्ति, द्वितीयासंबंधातिशयोक्ति, अकस्मातिशयोक्ति, संबन्धातिशयोक्ति तथा अस्पष्टातिशयोक्ति आदि भेदों का वर्णन किया है। रूपान्तरातिशयोक्ति के उदाहरण हैं परन्तु बड़े अस्पष्ट।

प्रथमतुल्योगिता

'अलङ्कारम्भ' में प्रथमतुल्योगिता के नाम से ही तुल्योगिता का अर्थ किया गया है और अवर्ण्य तथा वर्ण्य का एक-एक उदाहरण दिया गया है। उपमानों अथवा उपमेयों का वहाँ एक वर्ण वर्णित है वहाँ मतिराम ने तुल्योगिता अलंकार माना है।

द्वितीय तुल्योगिता

वहाँ हित और अहित दोनों में वर्ण्य का उमान माप लिखाया जाय, वहाँ द्वितीय तुल्योगिता अलंकार होता है।

दीपक

वर्ण्य-अवर्ण्य अथवा उपमेय और उपमान के वहाँ एक ही चम बताये जायें, वहाँ दीपक अलंकार होता है।

दीपकावृत्ति

वहाँ दीपक में (वर्ण्यवाची शब्दों की) आवृत्ति पायी जाय, वहाँ दीपकावृत्ति अलंकार होता है। यह आवृत्ति शब्द, अर्थ और शब्दार्थ तीन प्रकार की होती है जिसके आधार पर उद्देश्ये शब्दावृत्ति, अभाववृत्ति तथा शब्दार्थावृत्ति तीन प्रकार के दीपकावृत्ति के भेद माने हैं।

प्रतिस्वरूपमा

वहाँ दो विषय वस्तु में विभिन्न प्रकार्यवाची शब्दों द्वारा एक चम की ही प्रवृत्ति की जाय वहाँ प्रतिस्वरूपमा अलंकार होता है।

- | | | |
|---|--|-------------|
| १ | सम्भाव्यवर्ण्यप्रवेष्टा । | —आप्यप्रकाश |
| | अवर्ण्यवर्ण्यप्रवेष्टा । | —सादिरूप |
| | वर्ण्य वृत्ति सम्भावना, सोल्लेखा जानि । | —अतिशयोक्ति |
| २ | द्वितीय अलंकार सादिरूप, ओम्प्रकाश, प्र० सं०, पृ० । | |

अनन्वय

एक ही वस्तु को जब उपमेय और उपमान दोनों कहा जाता है तो वहाँ अनन्वय-अंकार होता है।

प्रतीप

प्रतीप अंकार में प्रसिद्ध उपमान को ही उल्टा कर उपमेय कहा जाता है। मतिराम ने द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम नाम से इसके अन्न यैहों का भी वर्णन किया है।

रूपक

वहाँ उपमान और उपमेय को अमिश्र मानकर तद्रूप वर्णन किया जाय, वहाँ रूपक अंकार होता है। 'सहितछन्दस्य' में छोटोति अमिश्र रूपक, हीनोति अमिश्र रूपक और अधिकोति अमिश्र रूपक नामक रूपक के तीन प्रमुख यैह स्वीकार किए गए हैं। किन्तु उदाहरण प्रस्तुत करते समय अमिश्र और तद्रूप रूपक को अलग-अलग मानकर छोटोति, हीनोति तथा अधिकोति के वर्णन दोनों के साथ-साथ अलग-अलग किए गए हैं।

परिणाम

परिणाम अंकार में उपमान और उपमेय मिलाकर (अमिश्र होकर) किसी धर्म का संघटन करते हैं।

उल्लेख

उल्लेख अंकार के दो भेद माने गये हैं। वहाँ एक ही वस्तु का वर्णन अनेक छन्दों द्वारा अनेक प्रकार से किया जाय, वहाँ प्रथम उल्लेख और वहाँ एक ही वस्तु का वर्णन एक ही व्यक्ति द्वारा अनेक प्रकार से किया जाय वहाँ द्वितीय होता है।

स्मृति-भ्रम और सन्देह

मतिराम ने स्मृति-भ्रम और सन्देह का अलग एक ही साथ रिया है, किन्तु प्रत्येक के उदाहरण अलग-अलग दिये हैं। वहाँ किसी वस्तु को देखकर और किसी वस्तु का स्मरण, भ्रम तथा संदेह हो वहाँ उपरोक्त तीनों अंकार हाव हैं। तीनों अंकारों का अलग एक साथ दे देने से अलग विस्तृत ही स्पष्ट नहीं होता, जब कि उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट हैं। अलग देने में कवि का संकोच सर्वत्र दिखलाई पड़ता है।

अपन्हुति

त्रिंश रयान पर बाह्यविक धर्म (उपमेय) को छिपाकर अन्य-धर्म (उपमान) की स्थापना की जाय, वहाँ दृष्टापन्हुति अंकार होता है। 'सहितछन्दस्य' में अपन्हुति का अलग तथा उदाहरण न देकर दृष्टापन्हुति से आरम्भ कर उसके दृष्टापन्हुति, दत्तापन्हुति, पर्यस्तापन्हुति, भ्रान्तापन्हुति, छेकापन्हुति तथा छम्पपन्हुति आदि छः भेदों का ही वर्णन किया गया है।

उत्प्रेक्षा

वहाँ किसी वस्तु की सम्भावना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अंकार होता है। त्रिंश वस्तुप्रेक्षा, दत्तप्रेक्षा तथा धृष्टप्रेक्षा मुख्य तीन भेद हैं और प्रत्येक के उपभेदों का भी वर्णन

किया गया है। उक्तविषया और अनुक्तविषया वस्तुषेधा के दो भेद तथा हेतुषेधा और फलषेधा में प्रत्येक के सिद्धविषया और अविद्य विषया दो भेद होते हैं। इसमें अतिरिक्त जहाँ वाचक शब्द का अभाव होता है, वहाँ गुणाशेधा नाम से एक अक्षर अलिखितग्राम में और स्वीकृत किया गया है। मतिराम के उल्लेख पर छलम मम्म" तथा विधनाय पर हो आधारित है। "को छ भेद किए गए हैं उनमें उदाहरण उपयुक्त है, परन्तु अनुक्तविषया वस्तुषेधा का उदाहरण विचारणीय है। यह भेद वहाँ माना जाता है, वहाँ उल्लेख की नियम भूत वस्तु का कथन न हो।"

अतिशयोक्ति

मतिराम ने अतिशयोक्ति का लक्षण नहीं दिया है, परन्तु इसके रूपकातिशयोक्ति, साधनकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, द्विविधसंबंधातिशयोक्ति, द्वितीयसंबंधातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, संबन्धातिशयोक्ति तथा अत्यंतातिशयोक्ति आदि भेदों का वर्णन किया है। रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण हैं परन्तु बड़े अस्पष्ट।

प्रथमतुल्योक्ति

'ललितकल्पम' में प्रथमतुल्योक्ति के नाम से ही तुल्योक्ति का छलम किया गया है और अवर्ण्य तथा वर्ण्य का एक-एक उदाहरण दिया गया है। उपमानों अथवा उपमेयों का वहाँ एक पद वर्णित है वहाँ मतिराम ने तुल्योक्ति अक्षर माना है।

द्वितीय तुल्योक्ति

वहाँ द्वितीय और अद्वितीय दोनों में वर्ण्य का समान भाव दिखाया गया, वहाँ द्वितीय तुल्योक्ति अक्षर माना है।

दीपक

वर्ण्य-अवर्ण्य अथवा उपमेय और उपमान के वहाँ एक ही पद बताये जायें, वहाँ दीपक अक्षर होता है।

दीपकावृत्ति

वहाँ दीपक में (पर्मवाची शब्दों की) आवृत्ति पायी जाय, वहाँ दीपकावृत्ति अक्षर होता है। यह आवृत्ति शब्द, अर्थ और शब्दार्थ तीन प्रकार की होती है भिन्नके आधार पर उन्होंने शब्दावृत्ति, अभावृत्ति तथा शब्दार्थावृत्ति तीन प्रकार के दीपकावृत्ति के भेद माने हैं।

प्रतिस्मरण

वहाँ का भिन्न पदों में विभिन्न एकार्पणवाची शब्दों द्वारा एक पद की ही स्मरना की जाय वहाँ प्रतिस्मरण अक्षर होता है।

- | | | |
|---|--|-----------------|
| १ | सम्भावनामन्त्रोत्पत्ति । | — वाच्यप्रकार |
| | मन्त्रप्रमाणोत्पत्ति । | — सादृश्यप्रकार |
| | जहाँ कीर्ति सम्भावना तोत्पत्ति जानि । | — कलितकल्प |
| २ | द्वितीय अक्षर सादृश्य, अक्षरवाच्य, प्र० सं०, ५ । | |

द्विष्टान्त

जहाँ दो पद-समूहों में एक ही धर्म का विपक्ष-प्रतिविपक्षभाव वर्णित हो, वहाँ द्विष्टान्त अलंकार होता है।

निदर्शना

कवित्तत्त्वप्राम में निदर्शना अलंकार का उदाहरण भीर उदाहरण नहीं दिया गया है, किन्तु प्रथम, द्वितीय और तृतीय निदर्शना के उदाहरण और उदाहरण दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त तृतीय निदर्शना के अस्त और अस्त नाम से दो उदाहरण दिए हैं। जहाँ दो उदाहरण वाक्यों में एक ही धर्म का आरोप किया जाय, वहाँ मतिराम ने निदर्शन माना है।

व्यतिरेक

जहाँ उपमेय में उपमान से विविधता का वर्णन हो, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है।

सहोक्ति

धरण के साथ धर्म का होना न दिखाकर जब उलटका होना अन्य के साथ दिखाया जाता है, तो सहोक्ति अलंकार होता है।

विनोक्ति

जहाँ बिना किसी बात के प्रसंग आये हो वस्तु की हीनता अपना भेदका का वर्णन किया जाय, वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है।

समासोक्ति

प्रस्तुत वस्तु से जब अप्रस्तुत का ज्ञान हो जाय, तो वहाँ समासोक्ति अलंकार मानना चाहिये।

परिक्लृप्त तथा परिक्लृप्तकृत

जहाँ बिना विशेष का (व्यक्ति विशेष) वर्णन सामान्य विशेषों द्वारा किया जाय वहाँ 'परिक्लृप्त' और वहाँ विशेष का सामान्यता से वर्णन किया जाय, वहाँ 'परिक्लृप्तकृत' अलंकार होता है।

श्लेष

एक ही धर्म से जहाँ अनेक धर्म उत्पन्न होते हैं, वहाँ श्लेषालंकार होता है। प्रकृत, अप्रकृत और प्रकृताप्रकृत इसका तीन भेदों का ही उदाहरण कवित्तत्त्वप्राम में दिया गया है।

अप्रस्तुत प्रदर्शना

प्रस्तुत का नाम ऐसे रूप वहाँ अप्रस्तुत की प्रदर्शना की जाय वहाँ अप्रस्तुत प्रदर्शना अलंकार होता है।

प्रस्तुतांकुर

प्रस्तुत कर के जहाँ प्रस्तुत प्रकृत किया जाय, वहाँ प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है, किन्तु इसके सिधे का उदाहरण दिया गया है, वह 'पर्यायादि' का है।

पर्यायोक्ति

छटितकथन में पर्यायोक्ति का उदाहरण प्रथम पर्यायोक्ति के नाम पर दिया गया है, किन्तु उदाहरण उससे दो भेद प्रथम तथा द्वितीय पर्यायोक्ति का ही दिए गए हैं। अन्य बचनों से वहाँ गुप्त अर्थ उत्पन्न हो जाय, वहाँ पर्यायोक्ति अर्थकार होता है।

व्यामसुति

निन्दा करने से वहाँ बड़ाई और बड़ाई करने से निन्दा का आभाव हो जाय, वहाँ व्यामसुति अर्थकार होता है।

व्याज निन्दा

जिस वस्तु का व्यक्ति की निन्दा की जाय, उससे उस वस्तु या व्यक्ति की निन्दा न होकर दूसरे की निन्दा प्रकट हो, वहाँ व्याज निन्दा अर्थकार होता है।

आशेष

छटितकथन में आशेष का उदाहरण नहीं दिया गया है और प्रथम आशेष के नाम पर आशेष अर्थकार का ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। वहाँ अपनी कही हुई बात का समस्तकर निषेध किया जाय, वहाँ आशेष अर्थकार होता है। इसका प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भेदों के वर्णन किये गये हैं।

विरोधाम्भस

वहाँ विरोध का आभाव मान होता है, किन्तु वास्तविक विरोध नहीं रहता, वहाँ विरोधाम्भस अर्थकार होता है।

विमावना

विमावना के छः भेदों के उदाहरण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसका रूप से विमावना के उदाहरण और उदाहरण नहीं दिए गए हैं, किन्तु प्रथम विमावना का उदाहरण और उदाहरण विमावना अर्थकार का ही है। वहाँ कारण के अभाव में कार्य का होना कहा जाय, वहाँ विमावना अर्थकार होता है।

स्मिपोक्ति

पूर्ण कारण का रहते हुए भी वहाँ कार्य की सिद्धि न हो, वहाँ स्मिपोक्ति अर्थकार होता है।

असंभव

वहाँ प्रयोजन के सिद्ध होने की सम्मानना न प्रकट की जाय, वहाँ असंभव अर्थकार होता है।

असंगति

वहाँ कारण और कार्य में संगति न मिलता कर कारण अन्यथा और कार्य अन्यथा दिखता जाय, वहाँ असंगति अर्थकार होता है। इसका तीन भेदों का वर्णन किया गया है। असंगति का वर्णन प्रथम असंगति का अर्थार्थ ही किया गया है।

विषम

दो वस्तुओं में समानता न होने पर भी उन्हें एक दूसरे के अनुकूल बताया जाय, तो विषम अक्षर होता है। इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है और विषम का वर्णन प्रथम विषम के अन्तर्गत ही हुआ है।

सम

वहाँ दो समान रूपों का वर्णन किया जाता है, वहाँ समासकार होता है। उचित-समास में इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है और सम का वर्णन प्रथम सम के अन्तर्गत ही है।

विविध

वहाँ छन्द की इच्छा प्रयत्न के विपरीत की जाती है, वहाँ विविध अक्षर होता है।

अधिक

आशेष को वहाँ आधार से भी बड़ा कहा जाय, वहाँ अधिकालक्षर होता है। इसके दो भेदों का वर्णन किया गया है। प्रथम अधिक का अन्तर्गत ही अधिक का वर्णन है।

अल्प

वहाँ अल्प आशेष हो किन्तु आधार उससे भी अल्प हो तो, वहाँ अल्प अक्षर माना जाता है।

परस्पर

वहाँ दो वस्तुएँ परस्पर उपकारी हो और उनके नाम बताये जायें, तो वहाँ परस्पर अक्षर होता है।

विशेष

प्रसिद्ध आधार के अभाव में वहाँ आशेष का वर्णन हो, वहाँ विशेष अक्षर होता है। इसके तीन भेद कहे गये हैं और प्रथम विशेष के अन्तर्गत ही विशेष का वर्णन है।

व्याघात

वहाँ एक ही वस्तु का प्रभाव दो विभिन्न रूपों में वर्णित हो, वहाँ व्याघात अक्षर होता है। प्रथम और द्वितीय व्याघात के नाम से इसका वर्णन किया गया है।

हेतुमात्र

पूर्व में कारण प्रकट करत हुए वहाँ कार्य का होना बताया जाय, वहाँ हेतुमात्र अक्षर होता है। इसके दो भेद होते हैं। प्रथम हेतुमात्र का अन्तर्गत ही हेतुमात्र अक्षर का वर्णन होता है।

एकाक्षरी

वहाँ एक के बाद एक को लेकर और एक को उन्वृत बात है, वहाँ एकाक्षरी अक्षर होता है।

माध्य दीपक

एकपक्षी और दीपक अष्टांग का वहाँ योग हो जाता है, वहाँ माध्य दीपक अष्टांग होता है।

सप्त तमा यथासत्य

इन दोनों के स्थान एक ही दोहों में दिए गए हैं, किन्तु उदाहरण अलग-अलग हैं। क्रम से वहाँ आये उत्कर्ष का होना दिखाया जाय, वहाँ 'तार' और वहाँ किसी वस्तु को क्रम से गिनाकर तदनुसार क्रम से बाद में उत्कर्ष वर्णन किया जाय वहाँ यथासत्य अष्टांग होता है।

द्विविध पर्याय

वहाँ क्रम से एक में अनेक और अनेक में एक पर्याय के समान रिक्त दिखाये जाय, वहाँ द्विविधपर्याय अष्टांग होता है। एक में अनेक और अनेक में एक के अलग-अलग उदाहरण अष्टांगग्रन्थ में दिए गए हैं।

परिवृत्ति

क्रम और अधिक दो बातों को वहाँ पलट दिना जाय, वहाँ परिवृत्ति अष्टांग होता है।

परिसंख्य

कुछ बातों को अन्य स्थानों से हटाकर अब एक ही स्थान पर उनका वर्णन किया जाय तो परिसंख्या अष्टांग होता है।

विचित्र

समान वस्तुवाची दो बातों का वहाँ विशेष वर्णन हो, वहाँ विचित्र अष्टांग होता है।

समुच्चय

वहाँ एक ही स्थान पर एक ही समय बहुत सी बातों का (हुक) वर्णन किया जाय, वहाँ समुच्चय होता है। प्रथम और द्वितीय समुच्चय एक ही भेद प्राप्त है। प्रथम समुच्चय में ही समुच्चय का वर्णन किया गया है।

आरक-दीपक

क्रम से वहाँ एक में अनेक बातों का (हुक) वर्णन हो, वहाँ आरकदीपक अष्टांग होता है।

समाधि

दूरे के कारणों से वहाँ अन्य कार्य की सिद्धि होती हो, वहाँ समाधि अष्टांग होता है।

मत्पत्नीक

इस अष्टांग का अन्तम आदर्श आरक है। 'प्रकृत शत्रु का पक्ष पर वहाँ विचित्र अष्टांग' से कोई बात स्पष्ट नहीं होती, किन्तु उदाहरण से स्पष्ट होता है कि वहाँ शत्रु का प्रतिमान होने से उत्कर्ष किसी संस्था का बाधा पहुँचाने का वर्णन हो वहाँ मत्पत्नीक अष्टांग होता है।

विषम

दो वस्तुओं में समानता न होने पर भी उन्हें एक दूसरे के अनुपम बताया जाय, तो विषम अर्थकार होता है। इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है और विषम का वर्णन प्रथम विषम के अन्तर्गत हो हुआ है।

सम

जहाँ दो समान रूपों का वर्णन किया जाता है, वहाँ समासकार होता है। कवित्व-कर्म में इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है और सम का वर्णन प्रथम सम के अन्तर्गत ही है।

विचित्र

जहाँ एक की हल्का प्रकाश के विपरीत की जाती है, वहाँ विचित्र अर्थकार होता है।

अधिक

आपेक्ष की वहाँ आधार से भी कहा कहा जाय, वहाँ अधिकार्थकार होता है। इसके दो भेदों का वर्णन किया गया है। प्रथम अधिक के अन्तर्गत ही अधिक का वर्णन है।

अल्प

जहाँ अल्प आपेक्ष हो किन्तु आधार उससे भी अल्प हो तो, वहाँ अल्प अर्थकार माना जाता है।

परस्पर

जहाँ दो वस्तुएँ परस्पर उपकारी हों और उनके नाम बताये जायें, तो वहाँ परस्पर अर्थकार होता है।

विरोध

प्रतिद्ध आधार के अभाव में वहाँ आपेक्ष का वर्णन हो, वहाँ विरोध अर्थकार होता है। इसके तीन भेद कहे गये हैं और प्रथम विरोध का अन्तर्गत ही विरोध का वर्णन है।

व्यापाठ

जहाँ एक ही वस्तु का प्रमाण दो विभिन्न रूपों में वर्णित हो, वहाँ व्यापाठ अर्थकार होता है। प्रथम और द्वितीय व्यापाठ के नाम से इसका वर्णन किया गया है।

देहमात्र

पूर्व में कारण प्रकट करते हुए वहाँ कार्य का होमा बताया जाय, वहाँ देहमात्र अर्थकार होता है। इसके दो भेद हाठ हैं। प्रथम देहमात्र के अन्तर्गत ही देहमात्र अर्थकार का वर्णन होता है।

एकावली

जहाँ एक के बाद एक की लेकर और एक को उत्तरा जाय, वहाँ एकावली अर्थकार होता है।

अवस्था

वहाँ एक क गुन-दोष से दूसरे को गुन-दोष न प्राप्त हो, वहाँ अवस्था अलंकार होता है।

अनुप्रा

वहाँ दोषमुक्त पदार्थ को गुन समझकर बाधा आय, वहाँ अनुप्रा अलंकार होता है।

लेख

वहाँ दोष का गुण रूप में और गुण का दोष रूप में वर्णन किया जाय वहाँ लेख अलंकार होता है। अलितकाम्य में दोष से गुण और गुण से दोष, दो भेदों का वर्णन किया गया है।

मुद्रा

वहाँ वास्तविक अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्दों से ही अन्य किसी सुसनीय अर्थ का भी बोध कराया जाय, वहाँ मुद्रा अलंकार होता है।

रत्नप्रबली

प्रस्तुतार्थ के वर्णन में वहाँ कुछ अन्य क्रमिक पदार्थों के नाम भी वयाक्रम रखे जायें, वहाँ रत्नप्रबली अलंकार होता है।

तटपुन

वहाँ कोई वस्तु अपना रंग छोड़कर अन्य वस्तु का रंग धारण कर लेती है, वहाँ तटपुन अलंकार होता है।

पूर्व रूप

कोई वस्तु जब दूसरी वस्तु का रंग छोड़कर पुनः अपना रंग धारण कर लेती है ता उन्ने पूर्व रूप कहा जाता है। इसके दो भेद हैं। प्रथम पूर्वरूप में ही पूर्व रूप का वर्णन है।

अन्तर्गुण

वहाँ कोई वस्तु साथ में रहने पर भी दूसरी वस्तु का रंग ग्रहण नहीं करती, वहाँ अन्तर्गुण अलंकार होता है।

अनुगुण

अनुगुण रंग पाकर वहाँ किसी वस्तु में आकर्षण दियाया जाय, वहाँ अनुगुण अलंकार होता है।

मीक्षित

वहाँ दो वस्तुयें मिलाकर एक हो जाती हैं और भेद रसद नहीं होता, वहाँ मीक्षित अलंकार माना जाता है।

समामन्य मीक्षित

दो वस्तुओं के मिश्र रूप होते हुए भी वहाँ कोई विशेष अन्तर न रसद हो, वहाँ सामान्य मीक्षित अलंकार होता है।

अन्यार्थापत्ति

इसका अर्थ भी 'प्रत्यनीक' की भाँति स्पष्ट नहीं है। किन्तु उदाहरण से स्पष्ट होता है कि वहाँ इस प्रकार का वर्णन किया जाय कि अमुक वस्तु जब ऐसी है तो अमुक वस्तु उसके समान कैसे हो सकती है।

अर्थान्तरन्यास

वहाँ विशेष का कथन करके सामान्य का अथवा सामान्य का कथन करके विशेष का वर्णन किया जाय, वहाँ अर्थान्तरन्यास अर्थकार माना गया है।

विकस्तर

विशेष का कथन करके वहाँ सामान्य का और पुनः विशेष का कथन किया जाय, वहाँ विकस्तर अर्थकार होता है।

प्रौढोक्ति

उत्कर्ष के अकारण (उपयुक्त कारण नहीं) को वहाँ उत्कर्ष का कारण मान लिया जाय, वहाँ प्रौढोक्ति अर्थकार होता है।

संभावना

वहाँ 'यों होय' इस प्रकार किसी अर्थ की कल्पना करके 'तु होय यों' इस प्रकार से किसी सम्भावितार्थ (संभव अर्थ) की सिद्धि की जाय, वहाँ संभावना अर्थकार होता है।

मिथ्याभ्यवृत्ति

वह अर्थकार वहाँ होता है वहाँ एक वृत्त को सिद्ध करने के लिए अन्य वृत्त का वर्णन किया जाता है।

छलित

वहाँ वर्ण्य वस्तु का वर्णन न करके उसके प्रतिबिम्ब रूप किसी अप्रत्युत वस्तु का वर्णन किया जाय, वहाँ छलित अर्थकार होता है।

ग्रहर्षण

इसके तीन भेदों का वर्णन किया गया है और प्रथम ग्रहर्षण में ही 'ग्रहर्षण' का अर्थ दे दिया गया है। मतिराम ग्रहर्षण अर्थकार वहाँ मानते हैं, वहाँ प्रत्यक्ष किए बिना ही उत्पन्न अर्थ की सिद्धि का वर्णन ही।

विपाद

इच्छा के प्रतिकूल अर्थ की वहाँ प्राप्ति दिखायी जाय, वहाँ विपाद अर्थकार होता है।

व्युत्पत्ति

वहाँ एक के गुण दोष से दूसरे को गुण-दोष प्राप्त हो, वहाँ व्युत्पत्ति होता है। छलितकथन में गुण से गुण, दोष से दोष, गुण से दोष और दोष से गुण, चार प्रकार के व्युत्पत्ति के उदाहरण दिये गये हैं।

मार्मिक

प्रदित जीर करने वाली अवरण का जहाँ वर्णन प्रत्यक्ष-वर्तमान काल में किया जाता है, वहाँ मार्मिक अर्थकार होता है।

उदात्त

सम्बन्धसम्मान में उन्नत का स्थान नहीं दिया गया है। उसके दो भेद 'प्रतिष्ठा' और 'उपलब्ध' का वर्णन किया गया है। प्रथम में संपत्ति के आधिक्य का वर्णन होता है और दूसरे में किसी महान पुरुष का अंग या मानकर उसके प्रति से अंगी व महत्त्व प्राप्त होने का वर्णन होता है।

भृत्युक्ति

लट्टी झुल्लता का बहुत बड़ा-बड़ाकर वर्णन करना भृत्युक्ति है।

निरुक्ति

जहाँ किसी नाम का किसी योग्यता प्रसिद्ध अर्थ स्थापित भृत्युक्ति द्वारा अन्याय प्रस्थित किया जाय, वहाँ निरुक्ति अर्थकार होता है।

प्रतिषेध

जहाँ किसी वस्तु का निषेध प्रसिद्ध होते हुए भी पुनः अभिप्रायान्तर से गर्भित निषेध किया जाय, वहाँ प्रतिषेध अर्थकार होता है।

विधि

जहाँ किसी बात की सिद्धि अथवा प्रसिद्धि का प्रथम वर्णन करके पुनः उसकी ही सिद्धि अथवा प्रसिद्धि का वर्णन किया जाय, वहाँ विधि अर्थकार होता है।

हेतु

जहाँ कारण का कार्य-सहित वर्णन हो, वहाँ हेतु अर्थकार होता है। इसका तीन भेद माने हैं और हेतु का अन्तर्गत ही प्रथम हेतु का वर्णन किया है।

अलंकारों के लक्षण

मतिराम के उपाहरण जितने सुन्दर बन गये हैं, उतने स्पष्ट नहीं। कवि का मन जहाँ रम गया है, उसका सिये एक से अधिक उपाहरण करने में भी उतने संकोच नहीं किया है। यदि उसने संकोच नहीं किया है तो उपाहरण प्रस्तुत करने में। मतिराम ने कभी कभी भी दाहों में ही लिखा है, कितनों का तो स्पष्ट से नहीं परन्तु उपाहरण द्वारा ही प्रस्तुत किया है। एक अर्थकार अथवा एक भेद का उपाहरण प्रस्तुत करने में मतिराम ने एक से अधिक दाहा रचने नहीं करना चाहा है। यही कारण है कि इनके लक्षण जहाँ-जहाँ अदुर्लभ रह गये हैं। यदि दाहे का पाठ करके से उन्होंने उपाहरण लिखा होता, तो उनमें पूर्णता आने की अधिक संभावना थी। किन्तु आकाश रक्त हुए भी उन्होंने दूगों का अनुकरण करना चाहा है जिससे स्पष्ट इतने संशय हो गये हैं कि कहीं-कहीं दाहा ही नहीं का पाठ। उपाहरण का लिय अनन्वय, भेदका-वैयर्थ्य, समासार्थ, विरोधाभास तथा एकरस्य का विना का लक्ष्य है।

उन्मीलित

सामान्य मीलित में वहाँ भेद सूत्रक विशेषता दिखाई जाय अर्थात् अपनी कुछ विशेषता के कारण हो पहचान में न आनेवासी वस्तुओं में भेद स्पष्ट हो जाय, वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है। छन्दोबद्धम में विशेष उन्मीलित का भी एक उदाहरण दिया गया है।

गूढोत्तर

वहाँ किसी बात के उत्तर से विशेष अमिमांश व्यक्त होता हो, वहाँ गूढोत्तर होता है।

चित्र

इसके दो भेद स्वीकार किए गए हैं। प्रथम चित्र में ही 'चित्र' अलंकार का उदाहरण दिया गया है। वहाँ प्रश्न के अंशों में ही उत्तर विद्यमान हो वहाँ चित्र अलंकार होता है।

सूक्ष्म

अन्य व्यक्ति के मन की बात समझ कर वहाँ अमिमांश सहित चेष्टा का वर्णन हो वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।

पिहित

वहाँ अन्य व्यक्ति की क्रिया जानकर दूसरा भी अमिमांशयुक्त कार्य करे, वहाँ पिहित अलंकार होता है।

व्यावृत्ति

वास्तविक कारण के स्थान पर वहाँ दूसरा कारण बताकर वास्तविक कार्य को छिपाया जाय, वहाँ व्यावृत्ति अलंकार होता है।

गूढोक्ति

किसी बात उससे न कह कर दूसरे से कहने में गूढोक्ति अलंकार होता है।

विवृत्ति

रस्य के सहारे वहाँ छिपे अर्थ को प्रकट किया जाय, वहाँ विवृत्ति अलंकार होता है।

युक्ति

वास्तविक भाव को छिपाने के लिए वहाँ अवास्तविक कार्य प्रकट किया जाता है, वहाँ युक्ति अलंकार होता है।

श्लोकोक्ति तथा ऐकोक्ति

वहाँ एक में प्रचक्षित उक्ति का अनुकरण किया जाय वहाँ श्लोकोक्ति और वहाँ श्लोक प्रचक्षित उक्ति विशेष अर्थ छिपे वर्णित हो, वहाँ ऐकोक्ति अलंकार होता है।

कर्मोक्ति

रस्य और वचन प्रकटा से वहाँ वास्तविक अर्थ में परिवर्तन आ जाय वहाँ कर्मोक्ति अलंकार होता है।

जाति

वहाँ जिसका पैसा खर्चा हो, वहाँ पैसा वर्णन करना जाति अलंकार होता है।

मनिक

मनिक और पटने वाली अवरया का यहाँ वर्णन ग्रन्थ-वर्तमान काल में किया जाता है, यहाँ मनिक अष्टकार होता है।

उत्पत्ति

मनिकग्रन्थ में उत्पत्ति का उल्लेख नहीं दिया गया है। उसके ही में 'मनिक' और 'उत्पत्ति' का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ में उत्पत्ति के आधिक्य का वर्णन होता है और दूसरे में किसी महान् पुरुष का अंग भाग मानकर उसके चरित्र से अंगी क महत्त्व प्राप्त होने का वर्णन होता है।

मनिक

मनिक सुन्दरता का बहुत बड़ा-बड़ाकर वर्णन करना आसुक्ति है।

मनिक

यहाँ किसी नाम का किसी योग्यता प्रसिद्ध अर्थ त्यागकर मनिकता द्वारा अन्याय कल्पित किया जाय, यहाँ मनिक अष्टकार होता है।

मनिक

यहाँ किसी वस्तु का निषेध प्रसिद्ध होते हुए भी पुनः अभिप्रायान्तर से वर्णित निषेध किया जाय, यहाँ मनिक अष्टकार होता है।

मनिक

यहाँ किसी बात की सिद्धि अथवा प्रसिद्धि का प्रथम वर्णन करके पुनः उसकी ही सिद्धि अथवा प्रसिद्धि का वर्णन किया जाय, यहाँ मनिक अष्टकार होता है।

हेतु

यहाँ कारण का कार्य-सहित वर्णन हो, यहाँ हेतु अष्टकार होता है। इसके हीन में माने हैं और हेतु का अन्तर्गत ही प्रथम हेतु का वर्णन किया है।

अष्टकारों के लक्षण

मतिराम के उद्गारण बितने सुन्दर बन पड़े हैं, उतने स्पष्ट नहीं। यदि का मन यहाँ रम गया है, उसके लिये एक से अधिक उद्गारण देने में भी उसने संकोच नहीं किया है। यदि उसने संकोच नहीं किया है तो अष्टकार प्रस्तुत करने में। मतिराम ने सभी लक्षणों को हाथों में ही लिखा है, किन्तु को तो लक्षण से नहीं परम् उद्गारण द्वारा ही प्रस्तुत किया है। एक अष्टकार अथवा एक में क अष्टकार प्रस्तुत करने में मतिराम ने एक से अधिक हाथों नहीं करना चाहा है। यही कारण है कि इनके लक्षण कहीं-कहीं अस्पष्ट रह गये हैं। यदि दाहिने का बायाँ कारण में उन्होंने लक्षण लिखा होता, तो उनमें पूर्णता आने की अधिक संभावना थी। किन्तु अस्पष्ट रहते हुए भी उन्होंने दूसरों का अनुकरण करना चाहा है जिससे स्पष्ट इतने संक्षिप्त ही लगे हैं कि कहीं-कहीं स्पष्ट ही नहीं हो पाते। उद्गारण के लिये अनन्य, मेदप्रतिपक्ष, समाप्ति, विरोधाभास तथा एकत्रण का किया जा सकता है।

अनन्वय

उपमेय ही को वहाँ उपमान बतल दिया जाय, वहाँ 'अनन्वय' अर्थकार होता है किन्तु ऐसा न किन्ना कर मतिराम का यह कहना कि 'एक ही बात को उपमेय तथा उपमान बनाना अनन्वय है, अनन्वय के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाता।

वहाँ एक ही बात को उपमेयो उपमान।

तहाँ अनन्वय कहत है कवि 'मतिराम' सुखान ॥५३॥ अस्तिस्मयम

मतिराम के अनुसार यदि यह कहा जाय कि 'यह आँक उस आँक के समान सुन्दर है' तो अनन्वय अर्थकार होगा, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनन्वय अर्थकार तो सब होगा जब यह कहा जाय कि 'उन अक्षियों के समान सुन्दर तो वे ही अक्षियों हैं।' इत अर्थकार में आग्रह उठी बल का रहता है, उठी बात का नहीं। उदाहरण देते समय स्वयं मतिराम ने अपने दिए हुए उदाहरण का अनुकरण नहीं किया है और 'उजि मावसिह केवी मावसिह भूमिपाछ में' ही मानी है।

मेदकातिशयोक्ति

वहाँ अभिन्न उपमेय को मित्र कहा जाय, वहाँ मेदकातिशयोक्ति अर्थकार होता है। 'औरें' या इसके पर्याय 'नवीन', 'न्याय' आदि भाषा इसके वाचक शब्द हुआ करते हैं। मतिराम ने 'औरें' को वाचक शब्द तो माना है, किन्तु उल्लेख से भाव स्पष्ट नहीं होता।

"औरें" को करि है वहाँ बरनत सोई बात।

मेदकातिशयोक्ति ठकि तई कहत मुदि अवरात ॥११६॥ अस्तिस्मयम

मतिराम ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट होता है कि नाविका बही है, किन्तु भाव उसकी 'कितन कलन और मृदु सुलक्षण' में कुछ ऐसे सुन्दर विविध गुण आ गये हैं जिनका वर्णन करना कठिन है, किन्तु उल्लेख के रोह से उदाहरण का भाव स्पष्ट नहीं हो पाता।

समासोक्ति

वहाँ प्रस्तुतार्थ के वर्णन में आए हुए समानार्थ-सूचक सिद्ध या अस्मिद्ध (वाच्य-रत्न) विशेषण—शब्दों की सहा से किसी अप्रस्तुतार्थ अर्थात् जिसका वर्णन करना हो, का बोध होता है, वहाँ 'समासोक्ति' अर्थकार होता है। मतिराम का उल्लेख इतना सामान्य है जिससे यह स्पष्ट ही नहीं हो पाता कि 'प्रस्तुत' अथवा 'अप्रस्तुत' से ठकाया क्या तात्पर्य है।

"जई प्रस्तुत में होत है अप्रस्तुत को ज्ञान।

समासोक्ति तई कहत है कवि बन परम समान ॥११७॥ —अस्तिस्मयम

'जई प्रस्तुत में होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान'—यह 'समासोक्ति परिसूक्ति' प्रस्तुत प्रस्तुतस्वभेद 'कन्नाकाक' का शिथिल अनुवाद है, परन्तु 'परिसूक्ति' में जो व्यंजना है वह 'ज्ञान' में न आ सकी।

विरोधामास

इस अलंकार का छठम उल्लिख्यग्राम में इस प्रकार दिया गया है जिससे अलंकार, विभावना, तथा विरोधादि आदि अलंकारों का भी बाध हो जाता है।

“जहाँ विरोध हो व्यक्त है, होत न लौन विरोध।

फरत विरोधामास तहाँ बुझ बन बुद्धि विरोध ॥” —छटितल्लग्राम

स्वामादिक संबंध के विपरीत वर्णन को अलंकार, कार्य और कारण के संबंध के अन्यामादिक वर्णन का विभावना तथा पूर्ण कारण के वर्तमान रहने पर भी कार्य के अन्याय के वर्णन का विरोधादि अलंकार कहते हैं जिससे स्पष्ट है कि मतिराम के उपरोक्त छंद से केवल विरोधामास अलंकार का ही बोध नहीं होता। छंदों का शास्त्रीय होना आवश्यक है।

एकवली

जहाँ पूर्ण कथित बातों का उत्तर कथित बातों से गृहसाधक रूप में जाना हो, वहाँ एकवली अलंकार माना जाता है। इसका छंदम मतिराम ने किया है—

एक अर्थ है छोड़िये और अर्थ है ताहि।

अर्थ पति इमि कहत है, एकवली तयहि ॥२५८॥ —छटितल्लग्राम

इस दोहे से भी कुछ स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार इनके काव्यार्थापत्ति, विकल्पा, मीमांसा तथा मिथ्याप्रसक्त आदि अलंकारों में भी अप्रगटता बेरती का सचरी है।

छंदम प्रस्तुत करने में मतिराम ने संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव विशेष रूप से ग्रहण किया है। ‘चन्द्रावली, कुवल्यानन्द का अविरक्त काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की चन्द्रावली का भी प्रभाव किया गया है। उपमा तथा राशेष्टा के प्रयोग विशेषतः इन्हीं से प्रभावित हैं। अमरनाम, धार तथा परिहृति के ये हान देरिये—”

- (क) पयोसर पेलूर्वस्य पूर्वस्वार्थस्य हेतुता। —काव्यप्रकाश
परं परं प्रति यदा पूर्वं पूर्वास्य हेतुता। —साहित्यदर्पण
पूरव-पूरव हेतु बौं उत्तर-उत्तर काव। —छटितल्लग्राम

- (ख) उत्तरातरमुत्कर्षो मयेत्तार परावधि। —काव्यप्रकाश
उत्तरीसर मुत्कर्षो वरान् सार उपपत्ते। —साहित्यदर्पण
उत्तर उत्तर उत्पत्तय, धार कहत वरान्। —छटितल्लग्राम

- (ग) परिहृति विनिमया या अपाना रपात्ममावने। —काव्यप्रकाश
परिहृति विनिमय समन्वुनाधिर्मदित्। —साहित्यदर्पण
याहि बादि हे बात का, जहाँ परदित्तो होत। —छटितल्लग्राम

अलंकारों के उदाहरण

अलितलक्ष्यम् के उदाहरणों में काम्यगत विरोधता धितनी अधिक है, उतनी उदाहरणगत नहीं। इसका मुख्य कारण यही है कि मतिराम क लक्ष्य व्यस्पष्ट है। जब तक अलंकारों के अर्थों में स्पष्टता नहीं होगी, जब तक कदापि उपयुक्त उदाहरण उपरिष्ठ नहीं किए जा सकते। यही कारण है कि कहीं-कहीं अर्थों के साथ उदाहरणों का मेल नहीं जाता। ममाद्य स्वरूप हम इनके रूपकाविधायिकों के उदाहरण का ले सकते हैं। रूपकादि धारणिक का उदाहरण मतिराम ने दो दोहों में दिया है, फिर भी स्पष्ट नहीं हो पाता—

हन्त्रबाध कर्य को, कहे कहा मतिराम।

आगि छपट, बर्षा करे, ताप बरे बनस्थाम ॥ —अलितलक्ष्यम्

‘आगि छपट’, ‘बर्षा’ तथा ‘ताप’ किसी के उपमान प्रसिद्ध नहीं हैं। विरहान्त, अनुभवार्थ तथा विरह ताप के स्थान पर इनका प्रयोग मानने से उपमेय-उपमान मात्र नहीं बनता। दूसरे उदाहरण में—^१

‘आल बाध बन समर को, प्रीयम करु की बेकि।’ अलितलक्ष्यम् नायिका के लिये ‘बिलि’ शब्द का प्रयोग तो परम्परासिद्ध है, किन्तु लालिक भावों के लिये ‘आल बाध’ का प्रयोग सुन्दर तो है, पर अप्रसिद्ध है। अलितलक्ष्यम् के उदाहरणों में यह प्रायः देखा जाता है कि वे किन् अलंकारों के लिये प्रयुक्त किए गये हैं, उनकी अपेक्षा दूसरे अलंकारों के समतकार उनमें अधिक सरल मारते हैं। उदाहरण के लिये अनुच्छिपया अलंकार को ले सकते हैं—

‘सिरे अंग-अंग मे मिटारि औ सुनारि मरी

मतिराम कहत प्रगट यह पाहय।

नायक के नैननि में नाइय मुषा सो, सब

छोवनि के छोवननि छोम-छो लगाइय ॥’ —अलितलक्ष्यम्

‘मुषा-छो’ और ‘छोम-छो’ में अनुच्छिपया अलंकार हो सकता है, किन्तु ‘मिटारि और सुनारि’ का कभी-कभार किया गया है जिसमें उद्योषा अलंकार का समतकार स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त ‘मिटारि’ से मुषा और ‘सुनारि’ से छोम में ग्राम अलंकार है तथा नायिका का अपने अंगों से एक की आँखों में अमृत बरसाना और दूसरी की आँखों में नमक छिड़कना आदि प्रसंग से ‘उत्सेल’ अलंकार का समतकार आ जाता है। ऐसी स्थिति में उद्योषा, ग्राम तथा उत्सेल अलंकारों का समतकार में अनुच्छिपया अलंकार गौण हो जाता है।

अलितलक्ष्यम् में अलम्बन्याविधायिक का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

कैसे वह बाध, छल, बाहर विजन आने।

विजन-बपारि लाग लजकठ छक है ॥ —अलितलक्ष्यम्

उदाहरण उदाहरण नहीं है। स्थान में पहले 'य' में अयोग का है तब अयोग में यग का, परन्तु उदाहरण पहले 'अयोग में यग' का है तब 'योग में अयोग' का। इसके अतिरिक्त अत्युक्ति का समतुल्य इतना अधिक है कि मुख्य प्रतिपाद विषय छिप जाता है। 'समासोक्ति' का उदाहरण भी संशय है—

'कहा कहीं धन, तब बेसी तलफट परया,
बास अछयेली को बियागी मन सब को।' —संस्कृतसंग्रह

उपरोक्त उदाहरण में मन का मानवीकरण किया गया है जिससे किसी अप्रत्युत बियोगी का संकट नहीं मिलता।

प्रथम विभावना में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होती है, किन्तु उदाहरण से स्पष्ट नहीं होता—

'धन मरी बोलियों बिहँसी बकि,
बल कहै बिन उत्तर बीनी ॥' —छविछन्द

परिवृत्ति अष्टाक्षर का स्थान तो न्यूनाधिक का विनिमय है, परन्तु समतुल्य नहीं रहता है, जहाँ सम्बन्धित व्यक्तियों का स्वयं प्रयास हो। इसीलिये विरचनाय का उदाहरण बरदे का उदाहरण से अधिक आकर्षक है। मतिराम का उदाहरण में प्रयत्न तीसरे ही व्यक्ति का है, विनिमय करने वाले की पुनरावृत्ति देखते रहते हैं—

गायन का बरसी कथाइन की आयु लख,
गायन की आयु लो फलाहमि ही बरसी। —छविछन्द

जितना ही संस्कृतसंग्रह में कवि ने छन्द प्रत्युत करने में संकोच किया है, वह उदाहरणों में उतना ही रहा है। मछे ही शानो की संगति न देख पाया है। बड़े-बड़े छन्दों में एक ही अष्टाक्षर का एक से अधिक उदाहरण प्रत्युत मिल गए हैं। शायद का प्रयत्न उदाहरण देने में बहुत कम किया गया है। प्रायः कवि और शब्दों का ही प्रयोग अधिक है। 'बो उदाहरण कवि या शब्दों में लिख्य है उनका पहले तीन चरणों में से अष्टाक्षर का प्रायः संबंध नहीं होता, कदाचित् प्रायः ही पदांत समस्त या लक्ष्य है। इतना ही नहीं, अनानुसृत चरण पाठक को भ्रम में भी डाल सकता है, यह सर्वप्रसिद्ध आचार्य में सर्वत्र स्पष्ट है।^१

✓ अन्य प्रमुख आचार्य और मतिराम

आचार्य केशव और मतिराम

आचार्य केशव दूधरा आचार्य थे। वे महाकवि मतिराम की भाँति कवि प्रथम, आचार्य बाद में नहीं, बल्कि आचार्य पहले और कवि बाद में थे। आचार्य भाषना से मेरित

१. दत्ता कदाचित्काली कदाह द्दर्व मम।

मया तु द्दर्व दत्ता, गृहीतो मदनमकरः ॥

२. कदाह वं द्दर्व मया कदाहम्-आनुसृष्टिनाम्।

३. दिग्धी कटकार सादित्य, आत्मकाल, प्र० म०, पृ० ९३।

४. वही, पृ० ९९।

होकर उन्होंने केवल काव्यशास्त्र के किसी अंग विशेष पर ही नहीं लिखा, बल्कि काव्यशास्त्र के विविध अंगों को समेटना चाहा है। काव्य में चमत्कार को महत्वपूर्ण रवान देने तथा आत्मकारिक सिद्धान्त पर अज्ञा रहने वाले हिन्दी आचार्यों में आचार्य केदार का नाम सर्वप्रथम किया जा सकता है। अलंकारों के अभाव में काव्यसुपमा की फसलना केदार के किये कठिन है—

“यद्यपि तु बाति सुखानी, सुवरन सरस सुदृष्ट ।

भूपर विनु न विराजई, कविता बनिता मित ॥”

—कविप्रिया

किन्तु व्याचार्यकर्म का निर्वाह करने के लिये उन्होंने माया का कार्य भी कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उसका उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के प्रकार, काव्य-दीप्य, अलंकार रख तथा विभिन्न प्रवृत्तियों अथवा पर चमत्कार रूप से विचार किया है। मतिराम का आचार्य इतना आग्रहक नहीं है। उन्होंने केवल तत्त्वार्थन रीति-परम्परा का निर्वाह करने के लिये ही अपनी अनुपम कविताओं को अर्थों के अनुसार उपलब्ध किया है, किन्तु आचार्य केदार आनन्दकर हिन्दीकवियों के लिये शास्त्र ग्रन्थ रख रहे थे।

केदार ने अलंकारों को १ साधारण २ विशिष्ट, दो भागों में विभाजित किया है, किन्तु उन्होंने न तो इनकी परिभाषा दी है और न उनकी व्याख्या करके उन्हें स्पष्ट ही किया है। मतिराम के अलंकारग्रन्थ में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं पाया जाता है। केदार का अलंकार विषयक ग्रन्थ कविप्रिया है, जिसमें उन्होंने विशिष्टालंकारों की नामावली गिनाई है—

‘बाति, स्वभाव, विभाषना, हेतु, विशेष विशेष ।

उद्देश्य, आक्षेप, क्रम, गणना, आधिपत्य छेप ॥

मेला, स्तब्ध, समेद है, नियम, विशेषी मान ।

सुम, छेप, निरर्थाता, उर्वस्वा पुनि जान ॥

एत अर्थान्तरन्यास है, मेद रहित व्यतिरेक ।

फेरि अप-भुति उक्ति है, बकपटि सविशेष ॥

अन्योक्ति, व्यधिकरण है, सुविशेषी कवि भावि ।

किरि सहोक्ति को कहत है, क्रम ही तो अविधाय ॥

व्यावृत्तुति निन्दा कहे, पुनि निन्दा सुति फल ॥

अमित सु पर्यायोक्ति पुनि, सुक सुना सब सन्त ॥

स समाहित बहु सिद्ध पुनि और प्रसिद्ध विपरीत ।

रूपक दीपक मेद पुनि, कहि प्रवेशिष्य मीठ ॥

अलंकार परवृत्त कहो उपमा कमक सुविष ।

माया इतने भूपमनि भूपित कीये मित ॥ —कविप्रिया

मतिराम ने अलंकारग्रन्थ में अलंकारों की कितनी प्रकार की सूची पद्य की भाँति दी है। आचार्य केदार ने मुख्य रीति-अलंकारों का नाम गिनाये हैं, किन्तु इनके अगन्तर मेरे

को मिश्रकर इनकी संख्या बढ़ गई है। प्रसृत अलंकारों में 'रसमय' ऐसे अलंकारों का भी नाम कछव ने किया है, किन्तु मतिराम ने एक भी आदर्शकार का वर्णन नहीं किया है। कछव अलंकारों में कुछ सामान्य नाम पूर्ववर्ती आचार्यों में आ नहीं मिलते आये हैं और कुछ के नामकरण मये हैं। केशव के स्वभावोक्ति, गूढ़ता, आशय, प्रेम, उर्म, रसवत्, अमिता, समाहित, सुसिद्ध, विपरीत, प्रसिद्ध, और प्रवेष्टिका आदि अलंकारों का वर्णन सविष्टछव्यम में नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त कुछ अलंकारों के भेदों में भी कछव और मतिराम में अन्तर पाया जाता है।

केशव ने जिन नवीन अलंकारों की उदाहरणों की हैं, अथवा नाम पड़े हैं, उनका पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर विवेचन भी किया है। उनकी प्रथमा एवं पाण्डित्य का वर्णन हमें उनके विविधालंकार प्रयोग में मिलता है। जिससे उनका बहुमुखी ज्ञान, व्यापक पाण्डित्य, निस्संग विवेचन तथा उपयुक्त उदाहरण देने की अद्भुत क्षमता का परिचय मिलता है। उनके समय में अलंकार शास्त्र का प्रवाह उचित भाषा में ही चल रहा था। कछव संस्कृत में भी लिख सकते थे, परन्तु 'प्रवीणता' का प्रति गेह या बाला-बासक्य का प्रति कर्मण्य की मानना उनको माया में ग्रीव झई और माया कवि का लिये इस आचार्य में एक नया क्षेत्र लोक दिया—विशुद्ध अस्तुता, अन्ततम तथा गम्भीर। पाण्डित्य की दृष्टि से वे माया कवियों के शिरोरत्न हैं और प्रथमा की दृष्टि से उनको संस्कृत का सामान्य आचार्यों के साथ आसन मिल सकता है। समारम्भवादी होने के कारण कछव का 'रसमय' और स्वाभाविकता का महत्व देने के कारण मतिराम का अपेक्षाकृत 'उपमा' अधिक पसन्द है। केशव द्वारा चलाई काव्यशास्त्र की परम्परा अधिक पूर्ण होने का नाठ मछे ही आग न बढ़ पाई हो, किन्तु निमित्त ही आचार्य की दृष्टि से उनका स्थान सर्वोपरि है।

वसन्त सिंह और मतिराम

'माया भूषण' वसन्तसिंह का एकमात्र अलंकार ग्रन्थ है, जिसके आरम्भिक तीन प्रकाशों में 'रस' सम्बन्धी वर्णन है। ग्रन्थ का शीघ्रे प्रकाश से अर्थालंकार का वर्णन दिया गया है। अरुनी कतिपय विशेषताओं का कारण यह ग्रन्थ सबसे अधिक पाठकों द्वारा पढ़ा जाता है। इसकी आ सबसे बड़ी विशेषता है, यह यह कि एक ही शीरे में अलंकार का ध्यान और उदाहरण दोनों दे दिया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना दाहो ही में हुई है जिससे कठ्य करने में बड़ी सुविधा होती है। शीरे की प्रथम पंक्ति में ध्यान और द्वितीय पंक्ति में उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

'उनमेव'ह उपमान बभ, कहत अनन्य तादि।

सरे सुग की मोर की, सरो ही सुत कादि ॥ ४१॥ मायाभूषण

अलंकारों की संख्या और कम प्रसृत कुछ लक्षणाग्राम का गा है। मायाभूषण से स्पष्ट है कि मतिराम का ध्यान विषय है। मायाभूषण और लक्षणाग्राम दोनों ही का आत्म्य उपमा तक ही है और तथा त 'दुःख' अलंकार का। मायाभूषणकार का प्रथम प्रकाश में आदर्शकारों का भी वर्णन किया है, किन्तु मतिराम में नहीं। मायाभूषण की रचना 'वसन्तसिंह' की शैली पर 'वसन्तसिंह' का अनुकरण करत हुए की गई है। यह

अपनी शैली का हिन्दी में सर्वोत्तम अलंकार ग्रन्थ है जिसके अनुकरण पर आगे और भी अलंकार ग्रन्थ लिखे गये। इस ग्रन्थ में संक्षेप में अलंकार के सभी तत्व आ गये हैं। छत्र मिश्रकर एक ही आठ अलंकारों का वर्णन इसमें हुआ है। पाठकस्मात्त में एक नहीं ऐसा अलंकार ग्रन्थ है, जो मतिराम के अस्तित्वसम से भी अधिक प्रसिद्ध हो सके है।

चिन्तामणि और मतिराम

चिन्तामणि मूलतः रसचिह्न आचार्य है, अलंकारवादी नहीं, किन्तु 'कवि कुल फलन-तब' में उन्होंने अलंकारों का भी साधारण वर्णन किया है। उन्होंने अलंकारों के स्पष्ट ही भेद स्वीकार कर उसे 'शब्दा' और 'अर्था' अलंकारों में विभक्त किया है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत उन्होंने 'वक्रोक्ति' अनुप्रास, स्मरानुप्रास, समक, स्तुत्य, चित्र और पुनरुक्ति वैद्यमास आदि आठ अलंकारों का वर्णन किया है। मतिराम ने शब्दालंकारों का वर्णन ही नहीं किया है और चिन्तामणि के 'चित्र' का वर्णन उन्होंने अर्थालंकार के अन्तर्गत ही किया है। चिन्तामणि के लक्ष्य और उदाहरण प्रायः उपयुक्त हैं। अर्थालंकारों के वर्णन में कोई नवीनता नहीं है, क्योंकि अलंकार इनका प्रिय शेष ही नहीं जान पड़ता।

मूल्य और मतिराम

महाकवि मूल्य का 'शिवराज भूषण' उनका अलंकार ग्रन्थ है, जिसमें उदाहरण स्वरूप उन्होंने अपने आमबदाता और केजरी शिवाजी की ही प्रशंसा की है। अन्य अलंकार ग्रन्थों से इस ग्रन्थ में यह सबसे बड़ी विशेषता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ और भाव के अन्तों में लिखा गया है। अलंकारों के सभी लक्षणों को एक ही व्यक्ति शिवाजी पर बताने के कारण इसके उदाहरणों में दोष भी आ गए हैं।

इस ग्रन्थ में अर्थालंकारों का वर्णन प्रस्तुत करने के पश्चात् शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है। चित्र और संकर अलंकारों का भी वर्णन शिवराज मूल्य में हुआ है। अन्त में शिवराज मूल्य में वर्णित अलंकारों की सूची कवि द्वारा प्रस्तुत की गई है। कुल मिश्रकर भूषण ने १०५ अलंकारों का वर्णन किया है जिनमें ९९ को अर्थालंकार, ४ शब्दालंकार तथा २ को चित्र और संकर अलंकारों के अन्तर्गत रखा है। अस्तित्वसम में शिवराज मूल्य की मौलिकता न ता अन्त में अलंकारों की सूची दी गई है और न शब्दालंकारों का ही वर्णन किया गया है। मतिराम ने संकर अलंकार का वर्णन ही नहीं किया है और चित्रालंकार का वर्णन प्रथम चित्र के नाम से अर्थालंकार के अन्तर्गत ही किया है, मूल्य की मौलिकता अलग नहीं।

स्वभावोक्ति अलंकार को लेकर विद्वानों में काफी बर्बाद रही है, कुछ लोगों ने इसे अलंकार माना ही नहीं है और कुछ लोगों ने इसे 'वाक्ता' का नाम दिया है। मतिराम ने भी इस प्रसंग को उठाया ही नहीं है, किन्तु मूल्य ने इनका नाम दिया है, किन्तु किसी सिद्धान्त की आर उनका विशेष महत्त्व नहीं दिखाई पड़ता।

'शिवराज भूषण' के लक्षणों पर अस्तित्वसम का अधिक प्रभाव है। बहुत से लक्षणों का तो भूषण ने तबहू से लिया है। उपमेष-उपमान, माधोपमा, भ्रान्तागन्तुवि, छद्मगन्तुवि, निर्दशना, सम्पापना, उदास तथा तद्गुण आदि अलंकारों के लक्षणों का तो

भूय ने एकाप धातु बन्ध कर पूर्णरूपेण अस्तिस्वभाव से ले लिया है। 'भूय' यद्यपि ये, आचार्य नहीं और कवि होकर वे कसिपुत्री राजाओं के पितासी गुप्तों से संतुष्ट न रह सकते थे। इसीलिये यानी को ठग रसैग बातावरण में निराश्रितों में ही उनका गौरव है, उतकी सबाधर स्वयं बातावरण में नवाना उनका न मुहावा, उनकी धरस्वती आभूषणों के प्रति कातरक नहीं है और यद्यपि वह सामयिक उपहारों की अवदेखना नहीं कर पाई, फिर भी उनसे अपने धारी के सजाने की कस्र उनमें न मिथेगी। भूय के अलग निर्दोष नहीं है और उनके कुछ ही उदाहरण उपलब्ध हैं। दास्तब में भूय अछूतारों के भारी आचार्य न होकर कामोत्कर्ष में महान् है, आचार्यत्व में मतिराम की विदोषता है।^१

कुम्पति मित्र और मतिराम

मतिराम की भाँति कुम्पति मित्र भेद कर्षि नहीं थे बल्कि वे भेद आचार्य थे। अस्कार वर्जन से अधिक महत्त्वपूर्ण उनका कार्य अस्कारों के सिद्धान्त प्रतिपादन के सम्बन्ध में है। उन्होंने अपनी अछूतार विषयक तीन मान्यताएँ स्थापित की हैं। उन्होंने माना है कि १ अछूतार रणोत्कर्ष का विषयक होना चाहिये, कपन का प्रमाणी का ही अछूतार मानना चाहिये और उपमा अस्कार की शिरामाण है। मुख्यतः कुम्पति रस के आचार्य हैं, अछूतार के नहीं। शब्दाच्छकारों में उन्होंने रस की स्थिति उतनी नहीं स्वीकार की है जितनी कि अर्थाच्छकारों में। इसीलिये शब्दाच्छकारों का उन्होंने अत्यन्त संशय में ही बचन किया है—

‘अमक, चित्र, अरु रस्य में, रस का नाहि हुलस।

यातें याद रस्य ही, बरने भेद प्रपास ॥ —कुम्पति

उपमा को अस्कारों का जिरमौर स्वीकार करते हुए भी उन्होंने शब्दाच्छकारों का वर्जन अर्थाच्छकारों से पहले किया है और उसका कारण भी दिया है—

‘प्रथम शब्द यातें कहे प्रथम शब्द के साथ’

कि काव्य में शब्द पहले आता है और अर्थ बाद में। इसलिये शब्दाच्छकारों का पहले वर्जन करना उन्होंने आवश्यक समझा। मतिराम सिद्धान्त विषयक प्रसंग का स्वीकृत रूप में उदाहरण नहीं है। उन्होंने अपनी रचित क अनुकूल अछूतारों के अलग-उदाहरण प्रस्तुत कर दिए हैं।

दश और मतिराम

आचार्य कवि केदार का आचार्यता बहुत जिनो बार महाकवि आचार्य देव में प्रकाश हुआ। उन्होंने भी कदार को भाँति काव्य कारण के विभिन्न अंगों पर लेगनी मलाई है। बिन कपों में अछूतार विषयक चर्चा हर म की है, उनमें भी उन्होंने रस आदि गुणों की चर्चा की है। अछूतार वर्जन का इनका श्राद्धतम प्रसंग ‘छन्द रणजन’ अथवा ‘काव्य रसावन’ है जिसके दूर की रानी इनकी रचना ‘मा-रिण्ण’ पर आचार्य कदार का प्रसार दाह गिगाई पड़ा है और यह सामादिक भी है, क्योंकि यह रचना उन्होंने उल्लेख के रूप में, यह इनका रूप रोड़ा का और अत्यन्त पूर्ण नहीं है। पावा या।

‘मावविद्यास’ के आरम्भ में नायिकाओं की चर्चा की गई है। इसमें देव ने अष्टछरों की कुल संख्या १९ मानी है जिसमें शम्भ्राष्ट्रकारों को नहीं गिनाया है। केवल ने भी प्रमुख अष्टछरों की संख्या १७ मानी थी, किन्तु वर्णन करते समय भेदापनेगों के माध्यम से उन्होंने अष्टछरों की संख्या काफ़ी बढ़ा दी है। देव ने अपन १९ अष्टछरों में किसी प्रकार का विस्तार नहीं किया है, बल्कि ठीक-ठीक १९ अष्टछरों का वर्णन कर दिया है। देव के समय तक एक ही अधिक अष्टछरों का प्रयोग होने लगा था और इनके पूर्ववर्ती आचार्य मतिराम ने स्वयं एक ही से अधिक अष्टछरों का वर्णन किया है। मावविद्यास का संक्षेप-रूप अस्पष्टभी अस्पष्टता ही हो सकती है, जिसका विपक्ष उन्होंने अपनी प्रौढ़ कृति ‘शम्भ्रसायन’ में की है।

मावविद्यास और शम्भ्रसायन में इतना ही अंतर है कि प्रथम में उनका कवि कम और द्वितीय में उनका आचार्य रूप प्रधान है। मावविद्यास में देव ने ‘छष्ट’ नामक एक संघारों और बढ़कर संघारियों की कुल संख्या १३ से १४ कर दी है, किन्तु ‘शम्भ्रसायन’ में आकर फिर उन्होंने ‘छष्ट’ को संघारियों में स्थान नहीं दिया है, बल्कि उसे ‘अवहितय’ के अंतर्गत ही स्वीकार किया है। ‘मावविद्यास’ में अष्टछरों का वर्गीकरण नहीं किया गया है, किन्तु ‘शम्भ्रसायन’ में विशेष वर्गीकरण के साथ शम्भ्राष्ट्रकारों के प्रमुख और अयाष्ट्रकारों के ४० मुख्य तथा १० गौण भेद कहे गये हैं। मावविद्यास में जिन १९ अष्टछरों का स्वीकार किया गया था, उनमें से १९ अष्टछरों को छेकर उनमें ८ नये जोड़ कर ‘शम्भ्रसायन’ में मुख्य अष्टछरों की संख्या ४ कर दी गई है और दोष ७ अष्टछरों में से उपमेयापमा तथा अनन्वय उपमा के भेद बना दिए गए हैं और भाविक, संकीर्ण तथा आधिप गौण कहलाये हैं, एवं समाहित तथा अर्थान्तरन्यास को छोड़ ही दिया गया है। केवल सत्तर अष्टछरों का ही ‘शम्भ्रसायन’ में वर्णन हो ऐसी बात नहीं है, देव न मुख्य और गौण के सिद्ध से अनन्त भेद अष्टछरों के हो सकते हैं, ऐसा स्वीकार किया है।

शम्भ्राष्ट्रकार आचार्य देव को अत्यंत प्रिय रहा है, क्योंकि ये ही उनका कवियों के प्राण हैं। मतिराम ने काव्य में रख की प्रधानता स्वीकार की है जिससे उन्होंने शम्भ्राष्ट्रकार की उपमा ही कर दी है। मतिराम के सन्निष्ठकाम की पद्धति ही देव ने सत्तर-बढ़ाकर प्रस्तुत करने में अपनाई है। उनके ‘काव्य-रसायन’ में प्रत्येक अष्टछर का छन्द एक दोहा में ही प्रस्तुत किया गया है और उदाहरण कविता आदि छन्दों में दिए गए हैं।

१

दूल्हा और मतिराम

दूल्हा कवि का ‘प्रति-मुख-वैद्यामरण’ अर्थात् प्रसिद्ध है जो मतिराम के सन्निष्ठकाम की अपेक्षा बेरूप की ‘कर्मप्रिया’ से अधिक प्रभावित है, किन्तु सन्निष्ठकाम की ही मति शम्भ्राष्ट्रकारों का इसमें भी नाम नहीं लिया गया है। दूल्हा के अष्टछरों की संख्या एवं क्रम विस्तृत ‘कुसुमदानन्द’ के ही समान है, किन्तु भाषाभूषणकार के समान संख्या में उन्होंने अष्टछरों की नहीं रखी है। ‘आचार्य जयदेव नरैण अष्टछरों की स्वीकृति के पक्ष में है, इसलिये अत्युक्ति (५।१।१९) के निरूपण के अनन्तर उन्होंने सप्त आदि अष्टछरों की

बर्षों की है, उनही प्रेरणा से आनन्द शिखर ने १५ अलंकारों का भी विवेचन कर दिया। दूबई कवि ने भी वैसा ही किया और इस चरम में कुपयुक्तानन्द का प्रभाव माना।^१ एतेने कुल ११५ अलंकारों का विवेचन किया है। मायाभूषण का भी प्रभाव प्रभाव इन पर है और उदाहरण सङ्कलनम भी मोति छन्दों में अधिक प्रस्तुत किये गये हैं।

आचार्य मिमारीदास और मतिराम

छन्द प्रन्थों के क्षेत्र में आचार्य मित्तारीदास और मतिराम की तुलना समर्पण नहीं जान पड़ती, क्योंकि मित्तारीदास का आचार्यत्व अपनी विजय पूर्वपरम्परा के अनुभव पर रहा हुआ था, जबकि मतिराम के आचार्य होने में ही संदेह लगा हुआ है। आचार्य मित्तारीदास का 'काव्य निर्णय' हिन्दी के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों में गिना जाता है और उसे काव्यशास्त्र पर लिखा उत्कृष्ट ग्रन्थ माना स्वीकार किया गया है। इसमें अनेक अलंकार वर्णन ही नहीं है, बरिक्त काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन करत हुए इसमें एक आचार्य की मोति ही अनेक समरसाओं पर प्रकाश डाला गया है। मित्तारीदास की कादंबरी बड़ा ही स्पष्ट, बलवान् और सुन्दर हुआ, वैज्ञानिक तथा विषय विवेचन पूर्ण है।

'काव्य निर्णय' पर एक ही नहीं, बरिक्त अनेक संस्कृत के काव्य ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। 'चन्द्रावली' तथा 'काव्यप्रकाश' का जगत् का कवि म. भूषण में स्वीकार भी किया है। चन्द्रावली अलंकार की काव्य का निम्न अंग भी मानता है। इसमें अलंकार विषयक प्रारम्भिक मूल्यों में है, यहाँ मीनेपमेदों का विस्तार नहीं है तथा एक ही छन्द छन्द में छन्द और उदाहरण समस्त पड़े हैं। काव्य निर्णय के मृतीय उदाहरण में भी वे समस्त मूल्यपूर्ण आई जाती हैं। प्रचार अलंकार के ही मीने का कथन है, प्रतीक संवृष्टि तथा संकर के ही उदाहरण बड़े छन्दों में हैं। अतः हमारा अनुमान है कि काव्य निर्णय का तर्जना उदाहरण चन्द्रावली के अनुकरण पर है, मछे ही इसमें अनुप्राणादि की स्थान न मिला है और इसके अलंकारों के मीनेपमेद स्थान, संवृष्टि चन्द्रावली के आधार पर न हो।^२

कहीं-कहीं दूसरों से प्रभावित छन्द और उदाहरण अलंकार अनुशाही कर रहे गये हैं, किन्तु अनेक दृष्टियों से यह उद्यम ग्रन्थ ऐरावत का आधारभूत स्थान के लिए प्रभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नायिका-मे वर्णन में मतिराम के परवर्ती आचार्यों का जितना प्रभावित किया है, अलंकार वर्णन में उतना नहीं कर सके हैं।

१ 'हिन्दी अलंकार साहित्य' आनन्दशिर, प्र. सं०, पृ० १४६।

२ 'हिन्दी अलंकार साहित्य' आनन्दशिर, प्र. सं०, पृ० १५५।

सतसई परम्परा और मतिराम

महाकवि मतिराम द्वारा किसी दोहों में एक अत्यन्त सरल एवं मीठ रसमय पुस्तक 'मतिराम सतसई' के नाम से उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के बाद में प्रकाश में आने तथा इसी ढंग की मीठतम रचना 'बिहारी सतसई' से हिन्दी पाठकों के इससे पूर्व ही परिचित हो जाने के कारण, मतिराम सतसई की काव्यगत विशेषताओं का मूल्यांकन हिन्दी संसार के सम्मुख उठाना नहीं हो पाया है, जितना अपेक्षित है। वह अनुपम साहित्य-निधि हिन्दी साहित्य के जिस मीठकाष्ठ की रचना है, वह मुक्तक काव्यों का काष्ठ है। 'सुख' और 'दुःखों' ने अनुपम कव्य-कृतियों के द्वारा हिन्दी काव्य के जिस मध्य भवन का निर्माण किया था, वहाँ पहुँचकर उसे सजाने का समय आ गया था। इसमें सन्देह नहीं कि मतिराम, बिहारी, बेर, तथा पद्माकर आदि महाकवियों ने अपने 'मुक्तक' रत्नों से उसे मध्यमोष्ण बनाया है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य के इस मध्यकाष्ठ में अथवा 'रीतिकाल' में मुक्तक काव्य की बाढ़ सी आ गयी। इस काष्ठ में प्रबन्धकाव्य और गीति काव्य भी मिले गये, परन्तु बहुत कम और वे भी कविता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं थे।^१ इन मुक्तकों की अपनी साहित्यिक विशेषता है जिसके कारण आसन्नकालिक कवियों को इसने अपनी और अत्यधिक आकर्षित कर लिया। इस काष्ठ में कव्यसमृद्धता एवं चमत्कार आने के लिये जिन मुक्तकों का प्रयोग किया गया, काव्य का वह वैभवंश रूप मध्यकालीन हिन्दी काव्य परंपरा के लिए एक आकर्षक घटना नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसका पीछे एक विद्यालय साहित्यिक परम्परा है जो संस्कृत साहित्य से ही बसी आ रही थी और उत्कलसीन परिचितियों के अनुकूल पढ़ने तथा अपनी अनेक विशेषताओं के कारण इस रोश के कवियों द्वारा अपना ली गयी।

मुक्तककाव्य

मुक्तक, काव्य की वह समर्थपूर्ण दोहरी है जिसे अभिप्रेत भावों का व्यक्त करने के लिये किसी भी प्रकार की सहायता अपेक्षित नहीं। अपनी स्वरु सीमा में पूर्ण लब्ध बिंदु की जैसी अनुपम अभिव्यक्ति मुक्तकों के माध्यम से सम्भव हो सकती है, वह प्रबन्ध काव्यों के लिए सदा की वस्तु है। 'काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तक में न तो किसी वस्तु का वर्णन ही होता है, न वह गद्य ही है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का अवस्था किसी एक दृश्य का या प्रकृति के किसी पक्ष विशेष का चित्र मात्र होता है। पूरे जीवन का चित्र नहीं होता। रात्रि समाप्तों और फवि सम्मेलनों के लिए यह बहुत उपयुक्त होता है।'^२

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीहृण्य झाक, पृ० १०, पृ० ११।

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्ण झाक, पृ० १०, पृ० ११।

ऐसे स्थानों पर कवि को अपने काव्य का समस्कार दिलखाने के लिए समय की सीमा होती है जिसके भीतर ही उसे अपने काव्य प्रमाणों की सृष्टि करनी होती है। 'यज्ञा महावज्राओं की सम्राज्य तथा सहाय कवि महत्त्वों में, अहाँ अनेक कवि अपनी प्रतिभा का समस्कार दिलखाने को बाधित करते हैं, वहाँ अपनी कवित्व शक्ति का समस्कार दिलाने के उद्देश्य से यदि कोई कवि प्रत्यक्ष काव्य लिखकर ले जाय तो वह कहाँ तक अपने महत्त्व की सदा स्वीकृति की आशा कर सकता है? इसके लिए मुक्तक का ही आशय सिमा का सचता है।^१ प्रकृत काव्य की तत्कालीन अनुविधानों की संपूर्ण काव्यगत मुक्तक के माध्यम से दूर किया गया। प्रकृत काव्य के प्रत्येक पद्य एक दूसरे के आश्रित रहते हैं और संयुक्त रूप में ही कवि मार का रहन करते हैं। कवि जब अपनी रचना द्वारा एक क्रमबद्ध सुसंगठित अक्षिप्त कथा प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे प्रत्यक्ष काव्य का सहाय लेना पड़ता है। ऐसे भावों की अभिव्यक्ति मुक्तकों के माध्यम से संभव नहीं हो सकती। प्रकृतकाव्य के प्रत्येक पद्य की अस्मिता तथा रही रहती, वह अपनी भावपूर्णता के लिए आगे पीछे आनेवाले छन्दों की अपेक्षा रखता है और उसे अपने अस्तित्व के लिये दूसरे पद्यों का सहाय लेना पड़ता है। साहित्य शास्त्र के अनुसार रस निष्पत्ति के लिये विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आदि विपुल सामग्रियों की आवश्यकता स्थायी भाव के साथ करना, जिसका प्रकृतों के माध्यम से संभव है, उतना मुक्तकों के माध्यम से नहीं। प्रकृत की विस्तृत भूमि ही अक्षिप्त कथा का प्रकार मार रहन कर सकती है, जिसके लिये मुक्तक सर्वथा असमर्थ हैं। प्रकृत की विद्यालता को अपनी छद्म सीमा में समेट न रखने की शक्ति रखते हुए भी 'मुक्तक' भरनी कतिपय मौखिक विनोदों के कारण अत्यधिक साकसिमता प्राप्त कर सकें।

प्रकृत काव्य की सारी अनुविधानों के अन्तर्गत में भावनिष्पत्ति के क्षेत्र में मुक्तक का कार्य प्रकृत काव्य से कहीं अधिक कठिन हो जाता है। प्रत्येक के पूरापर सम्बन्धों से वंचित रहने के कारण तथा परिस्मृतसाहचर्य के अभाव में, पूरापर प्रसंगों की कल्पना का प्रयत्न 'मुक्तकों' का सहाय पाठक या श्रोता पर ही छोड़ देना पड़ता है, जिससे उच्च लिये कथा की अपेक्षा प्रकृतों से अत्यधिक बढ़ जाती है, क्योंकि उसे अन्य पद्यों के सहाय का प्रयत्न नहीं रहता। अहाँ करी मी मुक्तक अपनी पूर्णता के अभाव में पूरापर प्रसंगों पर आश्रित होना चाहता है, यही उसकी दुर्दशा है। अभिनव गुप्ताचार्य के अनुसार—

“पूरापरनिरपेक्षापिहितेन रसचर्चक्रियते तदेव मुक्तकम्।”

अर्थात् पूरापर प्रसंग के निर्देश के लिये और पद्यों का सहाय न होने पर भी जिसने रस की अभिव्यक्ति हो जाय उसे मुक्तक कहते हैं।^२ स्वर्गीय पं० रामचन्द्र श्री गुरु ने प्रकृत और मुक्तक का परस्पर भेद स्थापित करते हुए कहा है कि 'यदि प्रकृत काव्य एक विस्तृत वनस्पति है तो मुक्तक एक सुना हुआ गुच्छर।'^३ निरक्षर मुक्तक वह सुना हुआ गुच्छर है जिससे काव्य गा उठे तथा सब लम्बाओं की धामा बढ़ी है। यह अन्त में पूर

१. सतसई सप्तक, सं० इयामुन्दरदास प्र० ६०, पृ० ४।

२. सतसई सप्तक — सं० इयामुन्दरदास, प्र० ६०, पृ० ११।

३. दिग्गी साहित्य की इतिहास, — पं० रामचन्द्र गुरु, पृ० १२१।

होता है जिसे दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि 'मुक्तक उस रचना को कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने के लिये स्वतः समर्थ हो। जिस छन्द का समर्थ पूर्ण-पर किसी दूसरे छन्द से नहीं होता, वह अनुबंधहीन स्वच्छन्द पर स्वतः अर्थसंगत में समर्थ रचना मुक्तक कहलाती है।'^१ मुक्तकों के माध्यम से दो प्रकार की रचनाएँ हुई हैं जिसे सरस या रसयुक्त तथा नीरस या रसविहीन कह सकते हैं। किन्तु मुक्तक की प्रत्येक रचना का क्लृप्तकार-विधायक हानी ही चाहिये, जो उसका अनिवार्य धर्म है। मुक्तक के क्षेत्र में जो ठा कवि, पनासरी और सबसे आदि सभी आते हैं, किन्तु मध्यमस्थान हिन्दी कवियों के लिये 'बोहा' उनका अत्यन्त प्रिय छन्द रहा है, जिसमें उन लोगों ने अपने भावों के मार्ग पिछे हैं।

सतसई का प्रिय छन्द बोहा

मुक्तक काव्य की रचना के लिये जिस 'दोहे' का व्यापक प्रयोग सतसईयों की परम्परा में हमें मिलता है, वह इन कवियों का आविष्कृत अपना कार्य नहीं कर सकता, बल्कि इसकी एक ही पंक्ति हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही वर्तमान थी, वहाँ से लेकर इन कवियों ने इसे अपने भावमिथ्या के माध्यम बनाया। इन लोगों ने कथक काव्य रूप 'दाहो', का ही नहीं ग्रहण किया, बल्कि उसका विषय-वस्तु एवं परम्परा को भी धाँधे परिवर्तनों के साथ तद्वत् ग्रहण कर लिया जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। दाहो का सुन्दर एवं बहुत प्रभाव हमें सर्वप्रथम अपभ्रंश साहित्य में मिलता है। वह 'अपभ्रंश का सादृश्य छन्द है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय साहित्य में इसका दर्शन होता है। प्रवेश ती इसका बहुत पहले ही हा सुन्न था, पर सातवीं, आठवीं शताब्दी में इसका गूँगाय का, नीर को, धर्म को और नीति को जोड़ कर जिस में प्रवेश काव्य का रूप लिया। धर्म के क्षेत्र में बा रेनु और रामसिंह के ममी उपदेशों को इसने प्रचारित किया, सरह, कन्ह विस्तोता आदि बौद्ध सिद्धों की रहस्यवादी भावनाओं का वाहन बना, मोरलनाथ जैसे अत्यन्त दानवालों का सहायक हुआ और कबीर जैसे पन्ना के छन्दों का वाहन बना। गूँगाय के क्षेत्र में इसकी तुलना भी बहुत पहले ही सुनी थी। इसका क व्याकरण, प्रवच किन्तामति, लन्दन सरस और दाहोमार्ग के दाहो में इस छन्द की भाव-वाहन-योग्यता अत्यन्त रूप में प्रमाणित है। सुनी थी। ऐसे छन्द का मुसली वातावरण काहें थे। इस पवित्र मति की मन्दाकिनी में लान करान का श्रेय उन्हीं का है।'^२ इस प्रकार हम देखते हैं कि दाहो में रचना काल की एक विधा परम्परा सतसईयों के पास वर्तमान थी जिसमें धार्मिक उपदेशों, रहस्यवादी उक्तिों, अन्ध-बुद्धिवादी उक्तियों, भक्तिभावना तथा गूँगायक अभिव्यक्तियों की छवि हा सुनी थी। सतसईयों के नाम से वर्तमान दाहो में हमें कथक गूँगायक ही नहीं, बल्कि धार्मिक उपदेशों, आलोचना उक्तियों, अन्योक्तिओं तथा मतिपरक भावों का सम्बन्धित दाहो भी प्रभूत भाषा में मिल जाते हैं जिसकी चर्चा हम आगे सतसई प्रयोग में करेंगे।

१ बिहारी—विहरनाथप्रसाद मिश्र, प्र. सं., पृ. ८५।

२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी प्र. सं., पृ. १०३।

सतसई परम्परा

इस प्रकार दाहों का व्यापक प्रयोग हिन्दी कवियों के लिए नया नहीं था, उन्हीं प्रकार सतसईयों के नाम से अन्य प्रस्तुत करने की परम्परा भी उनका अपना नहीं नहीं थी, बरिष्क मार्तण्ड साहित्य में उसकी एक दीर्घ परम्परा दर्जमान थी, जिसका स्वयं इन कवियों ने अवश्य उठाया। हमारे मार्तण्ड संग्रह कुछ ऐसे हैं जिसका कारण हम प्रायः कभी नहीं बता सकते हैं। हमारे संग्रहों की संख्या तीन है, महा विष्णु और महेश प्रमुख शिष्यों की हैं तथा पूर्वजों के की संख्या चार है आदि एक प्रमाण है किन्तु अनुक्रम हमारे सिध अनिवार्य अंग सा हो गया। हमारे इन संग्रहों का प्रत्यक्ष लेख में भी प्रकट होता अनिवार्य था और हुआ। 'वस्तुतः सात सौ या तीन सौ, या सौ कुछ पणों के संग्रह के रूप में सम्पत्तिपना की प्रथा इस वक्त में बहुत पुराने काल से होती आ रही है। गीता में सात सौ एक है, बाहु-बन्धन कर पर्वोपाठ में एक सौ की संख्या का भी सात सौ बनाने की कोशिश की गई है। मुसली आर रहीं के नाम के साथ भी सतसई का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। मार्तण्ड मार्त में कवि स्वयं प्राय ही अपनी कुछ-कुछ पणों की रचनाओं को संख्यापरक नाम दे दिया करते थे। सा पणों के संग्रह को शतक कहते थे। अमरक का शतक ता प्रसिद्ध ही है, भट्टारिक के भी तीन शतक प्रसिद्ध हैं, मयूर कवि का एक शतपरक एक शतक आर राम का पंडी की सुवि करनेवाला पंडी शतक प्रमाण प्रसिद्ध था कुछ है। हिन्दी शैलिकाल के आरम्भ होने के पहले भी और बाद में भी संस्कृत में शृंगरी शतको की परंपरा चलती रही है। बीरहरी शताब्दी से पहले आठवां शताब्दी ने सुन्दरी शतक लिखा था।^१ इस प्रकार यदि हम इन तीनों संख्यापरक संग्रहों के संग्रह प्रस्तुत करने की परम्परा बहुत पुराने जाती है, किन्तु अन्तिम स्वरूप हमें हिन्दी के सतसईयों में प्राप्त होता है।

सतसई अथवा शतक का नाम से मिलने संग्रह उल्लेख है, उन्हें देखने में स्पष्ट हो जाता है कि उन संग्रहों के अन्तर्गत एक-एक संग्रहों अथवा दाहों की संख्या सात सौ ही नहीं है, फिर भी सात सौ की संख्या न जान कवियों का इतनी प्रियकर क्यों हुई। 'सुसंको के संग्रहों में सात सौ की संख्या के लिए कितना आग्रह किया जाता है, उतना आर किसी संख्या के लिये नहीं। अमरक में शतक लिखा और खनिष ने हजारा लिखकर कुछ का हजारी का मतलब दिया नहीं, वस्तु विवेकतः हमें न पता प्रयत्न किया कि उन संग्रहों में लगभग सात सौ पण रहे। सात सौ से कुछ अधिक पण रहने पर भी उनके संग्रहों के नाम सतसई या सतसई ही रख दिए गए।^२ इस प्रकार के संग्रहों के सम्बन्ध से एक विशेष प्रकार की रचनाओं का ही प्रभाव पड़ा गया। आरम्भ में हिन्दी काव्य में आर्यों द्वारा जो अन्य प्रस्तुत किये गये, उनमें सुप्रसिद्ध ११ प्रकार की प्रस्तुत प्रस्तुतियों के स्थान मिलते हैं, जो उनके विभिन्न रा प्रस्तुतियों के प्रतीक हैं। 'पूर्व आर अर्ध आर प्रथम, आर्यामित्रतागरी और रुद्रि मुक्त व आर पंचिनी या मापदेव न

१. आठवां शताब्दी हिन्दी, हिन्दी साहित्य, प्र. सं., पृ. ३१५, ३१६।

२. बापू राममुन्दरदास, सतसई सतक, प्र. सं., पृ. ४।

आर्य अपेक्षाकृत अधिक रुढ़ि-रुढ़, परम्परा के पक्षपाती, शास्त्रप्रवण और स्वयंवादी थे। पूर्वी आर्यों में ही उपनिषदों की शान्तचर्चा, बाद और जैन आचार्यों का रुढ़ि से विद्रोह, बौद्ध और ब्राम्हणों की स्थापना, सहजमत और योगमार्ग के प्रचार और व्याख्यात्मकता-स्वरहित भावप्रवण नीति काव्य का विकास हुआ।^१ इस प्रकार या तो उस समय आध्यात्मिकता प्रवण ग्रन्थों के दर्शन हो पाते थे या तो परम्परा पापक कर्मकाण्ड प्रवण शास्त्रों का। इन दो प्रकार की प्रमुख रचनाओं के अतिरिक्त पूर्वी आर्यों में जो रुढ़ि विद्रोही एवं सरल नीति साहित्य का विकास को बल मिला रहा था, उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर इसी सन् के बाद एक ही तरह के प्रकार की भावधारा का अभ्युदय हुआ, जिसमें व्याख्यात्मकता, मोक्षकामी, कर्मकाण्डवादी तथा स्वयं कामी आदि रचनाओं को स्थान नहीं दिया गया। इनमें ऐहिकता मुख्य सरल कवित्व है। वे उस जाति की रचनाएँ हैं जिसे अंग्रेजी में 'सेक्यूलर' कविता कहते हैं। इसके पूर्व जिन दो प्रकार की रचनाओं की चर्चा है उनसे इनमें विशेष अन्तर है। ये पहली रचनाओं की नीति धार्मिक कर्म में नहीं किसी जाती थी और किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष के चरित्र का अवलम्बन करके भी नहीं गाई जाती थी, बल्कि कुलकर्म-स्रोतों के रूप में, छाटे-छाटे पद्यों में ही अपने भाव में सम्पूर्ण अन्व निरपेक्ष भाव से निर्यो जाती थी। आरम्भ में ऐसी रचनाएँ प्राकृत भाषा में लिखी गईं और बाद में बहुरूप संस्कृत में भी लिखी जाने लगीं।^२ सन् इसी का आरम्भिक काव्य ऐसी रचनाओं का आरम्भिक काव्य नहीं है, बल्कि वह काव्य है जबकि इस प्रकार की रचनाएँ अत्यन्त संख्या में लिखी गईं। इस प्रकार की रचनाओं का आरम्भ प्राकृत भाषा में ही हुआ और इस प्रकार की कविताओं का सर्वप्रथम उपलब्ध संग्रह ग्रन्थ 'हाल' की 'सप्तमती' या सप्तमरी है। इस ग्रन्थ का प्रभाव बाद के माछीय साहित्य पर भी पड़ा।

मुक्तक काव्यों के लिये अपनाये गये विषयों की भी कई श्रेणियाँ मिलती हैं। काव्य के अन्दर गूँगाय को जब तक स्वतंत्र रूप से स्थान नहीं मिला तब तक, तब तक ऐसी कविताओं के माध्यम से भक्तिपरक रचनाएँ होती रहीं, जिन्हें ही ऐसे संग्रहों को साहित्यिक संग्रह प्रदान करने का भेद है। 'हाल' और मति के ग्रन्थों के नाम सप्तक, सप्तमती आदि होते ही थे, पर जब लोग गूँगाय की रचना करने लगे तो इस क्रम में भी सप्तक और सप्तमती नाम का प्रवृत्त होने लगा। प्राकृत में जब सप्तक की भाषा सप्तमती का संग्रह हुआ, तब से गूँगाय के लिये ही सप्तमती मुक्तकों की रचना करने का और संग्रहों का भी होसला होने लगा।^३

मुक्तक काव्यों का संग्रह तैयार करने के लिये किसी एक निश्चित संख्या का होना आवश्यक था जिसके लिये भारतीय समाज उत्तरदायी है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। मुक्तकों का जो क कवचन में बँधने की परम्परा का प्रयोजन बहुत पहले हो चुका था, जिसका हिन्दी कवियों का जबकि अनुकरण भर करना था और उन्होंने किया भी।

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १०, पृ० १११

२. वही, पृ० १११, ११२।

३. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बिहारी की भाविव्यक्ति, पृ० १०, पृ० ५१।

‘सतसई’ और ‘सतसेवा’ शब्द संस्कृत में ‘सतसती’ और ‘सतसतीका’ शब्दों के रूपान्तर हैं, जो ‘सात सौ पणों का संग्रह’ इस अर्थ में कुछ योग रुढ़ से हो गये हैं।^१ हिन्दी कवियों में सतसई और सतसेवा शब्द ही साकप्रिय हो सके, निरुद्धेह या प्राकृत एवं संस्कृत संग्रह शब्दों की ठीक पर बनाया गया। हिन्दी सतसईयों के पूर्व दो सतसती अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं, जिनमें से एक सातबाइन द्वारा संघीत प्राकृत में लिखी ‘हाल’ की ‘गाथा सतसती’ और दूसरी संस्कृत में गोपधनाचार्य प्रणीत ‘आधा सतसती’ है। हाल की ‘सतसई’ में हमें सर्वप्रथम आध्यात्मिक, पौराणिक तथा पारलौकिक गम्भीर विचारों की शुद्धता की छाड़कर मानवजीवन के भौतिक सम्बन्धों, उसका जीवन में आनन्दान्ते ऐहिक आकर्षणों तथा जीवन के सरल एवं मर्मस्पर्शी विचारों तथा विचारों के दर्शन होते हैं। इसमें ‘जीवन की छत्ती-मीदी बटनाओं के साथ एक ऐसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है, जो इसके पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिका की रसमयी कीड़ाई और उनकी साथ प्रतिपाठ इस शब्द में अविद्यमान अतिरस में प्रस्तुति हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेमगाथाएँ, रामचरितों की गृह्यारोहणों, पद्मकी पत्नी हुई या पौषों की सीखती हुई मुन्तरियों के मर्मस्पर्शी विचार, विभिन्न कष्टों का मार्ग-लेखन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरल और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरस इस तरह शब्दों की ओर आकृष्ट होता है।^२ विवेचक विद्वानों के बीच भी इस पुस्तक ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की है। इसकी आधी से भी अधिक गाथाओं की साहित्य के आधार शब्दों में रचाना मिला है। आनन्दकर्मनाचार्य के ‘पञ्चालाक’, ‘मम्मटाचार्य’ के ‘काम्यकाण्ड’ तथा ‘मन्देक’ के सरस्वतीकण्ठामर में गाथासतसती की गाथाओं का उल्लेख मिलता है, जिससे इसकी लोकप्रियता एवं भेदता पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है।

‘गाथासतसती’ को आधारमान कर अपना उसके अनुकरण पर लिखी गई सतसईयें मुख्यतः दो प्रकार की हैं, जिनमें एक प्रकार की रचना के माध्यम से गृह्यारोहणों परक रचनाएँ प्रस्तुत की गईं और दूसरे प्रकार की रचनाओं के माध्यम से सुद्धि अपना मूल परक शब्दों अपना दोहों की सृष्टि हुई। सतसई के नाम से संख्यापरक संग्रह प्रस्तुत करने वाले आगे के भाग सभी कवियों पर ‘गाथा सतसतीकार’ का प्रभाव है जिसका अनुकरण कवियों ने अपने वर्णवस्तु के अनुसार किया। कुछ कवियों ने संख्या, टीली, विषयवस्तु तथा छन्दों के साथ आदि सभी कुछ ‘गाथा सतसतीकार’ का अपने ढंग से अपना लिया है और कुछ कवियों ने बस संख्या और छन्दविधि को ही अपनाया है और रस साधना का अपना मत असली रस विदेश का ही परिचय दिया है। इस प्रकार ‘गाथासतसती’ से प्रभावित जिन सतसई परम्परा का आग बिजल हुआ, विषयवस्तु के आधार पर उसके दो स्वरूप हो गये, जिसका उल्लेख उपर किया जा चुका है।

दोनों प्रकार की ‘सतसईयों’ का उद्देश्य, संश्लेष अनुभव शब्दों का सहज संदेशन बनाना हमें के कारण, वे अपनी अभिव्यक्ति टीली में प्रस्तुत कुछ रचाना रही और दोनों

१. बिहारी की सतसई, पद्यविह कमी, प्र० सं ३०-११।

२. हिन्दी साहित्य की मूलिका डा० इजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र सं, ११३।

में ही उच्छिबैचिष्य को प्रमुखतम स्थान मिला है। शृंगारपरक रचना हो अथवा नीति संबंधी दोनों में ही कवि प्रयत्न करता है कि उसके पक्ष में विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रस बह जाकर भर दे कि उसका स्वाद से पाठक तृप्त हो जायें। सहज्यता की तुलना के लिये उसे किसी प्रकार अगम्य-विच्छेद कथा का सहायन न डूँटना पड़े, जिससे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये मुख्यकथार को कई ऐसे हथकड़ों की आवश्यकता पड़ती है या उसका इस महत् कार्य में सफलता दिखाने में सहायक सिद्ध होत है। 'सबसे पहले उसका कथन में कुछ बळता या बाँकपना होना चाहिये। उसे प्रभाव प्रियतम से बात फटनी चाहिये। जिसकुछ सीधे दंग से कहने से बात का महत् बहुत कुछ घट जाता है। सिद्धांत या परर फाटक से आक्रमण करनेवालों को हठ अवगण का सामना करना पड़ता है। इसलिये कितने में प्रवेश करने के लिये आक्रमणकारी ऐसे किसी किनारे या छाटे-भोटे दरवाजे की दाह में रहते हैं जिसका कोट के निवासियों को उठना क्या न हो। दिक में प्रवेश करने के लिये भी रात को ऐसे ही मार्ग डूँटने चाहिये। विनयवाणी को ऐसे मार्ग सहज ही मिल जाते हैं।' उच्छिबैचिष्य के माध्यम से कवि पशुरतापूर्व अस्मत् शब्द मर्म मरी बाणी में सहजा हृदय मावों का ऐसा रहस्यपाटन करता है कि उसकी बातें सीधे हृदय में प्रविष्ट होकर तात्काल ही अपना प्रभाव उत्पन्न कर लेती हैं। आपत्तात्मक प्रयत्न के कारण इसकी विनयवाणी किसी भी प्रकार से सीम नहीं जाने पाती और इसका अन्तर्गत एक सीम किया हुआ आक्रमण ऐसा प्रभाववाली सिद्ध होता है कि आक्रान्तों को अस्मत् न मिलने के कारण इसकी सफलता को निर्विघ्न स्वीकार कर लेना पड़ता है। सतसई की यह प्रमुख वैशिष्ट्य विधापता है जिसका प्रत्येक अक्षरमा में पाया जाना अनिवार्य है।

शृंगारिक एवं ऐहिकतापरक सतसईयों का एक मात्र सूक्ष्मोक्त 'दास' की 'गाथा सतसई' ही है जिसे हम सतसई परम्परा की आदिभूमि के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इस शृंगार की दूरी कड़ी जिसका पुरतः मेख एक दूरे से बैठ जाता है, वह है संस्कृत में लिखी 'आया सतसई'। इस ग्रन्थ की रचना १२ वीं शताब्दी में पश्चिम गणधनाचार्य ने की थी। पश्चिम साधर्माचार्य बंगाल के राजा स्वयंभू सेन के समान कवि थे। इसका विचार अक्षरही शताब्दी में किसी जानेवाली कवि विरहलार की 'आया सतसई' तक ही रहा। 'संस्कृतपरक नाम देकर संस्कृत में दर्बनों काव्य लिखे गए हैं।' इसमें सन्देह नहीं कि गाव धनाचार्य ने 'आया सतसई' की रचना, 'दास' के 'गाथासतसई' के अनुकरण पर ही हुई, जिसका गंठव या उनकी रचनाओं में प्राप्त हो जाता है। अपनी एक 'आया' में उन्होंने लिखा है—

'बागी प्राकृत समुचित रघारलेनैव संस्कृत भोता।

निम्नानुरूप नीरा फलिद् कव्यव गयनतत्तम् ॥'

कि बागी की सामाजिक सतता प्राकृत में ही है, जिस में संस्कृत में वरपूर्वक होने का उगी प्रकार प्रयत्न कर रहा है, जैसे नीच ब्रह्मवादी यमुना को आकाशानुग कल के प्रयत्न किया गया। 'बागी प्राकृत समुचित रता' कहते हुए गाथा सतसई पर उनकी टिप्पणी

भी इसमें सन्देह नहीं और 'बड़े नैव संस्कृत नीला' से ज्ञानित होता है कि उन्होंने किसी सीमा तक प्राकृत से अनुवाद किया है।^१ प्राकृत में पाई जानेवाली सतसई का लिखित सर्व प्रथम रूप 'हाछ' की 'गाथा सतछती' ही है जिसका ही अनुकरण 'आया सतछती' में सम्भव है। आर्या सतछती में गाथा सतछती का विषय और छन्द-संख्या दोनों दृष्टियों से अनुकरण किया गया है। श्रीमार्कण्डेयपुराणान्तर्गत एक और सतछती 'दुर्गासतछती' के नाम से मिलती है, किन्तु इसमें भैरव नाम साम्य ही है। दुर्गा सतछती और गद्या सतछती में यदि कोई सम्बन्ध हो सकता है तो यही कि उसमें इसकी छन्द संख्या भर का अनुकरण है।

दुर्गा सतछती में जिस प्रकार भैरव छन्द संख्या का साम्य है, उस प्रकार की साम्यता को दृष्टि में रखकर हिन्दी कवियों ने भी सतसईयाँ लिखीं, जिनमें शृंगारिक तथा वरस ऐहिकतापरक छन्दों अथवा दोहों का निरान्त आभाव है। इन सतसईयों को सृष्टि-सतसई कहना अधिक ठीक संगत जान पड़ता है, क्योंकि इन रचनाओं का प्रधान उद्देश्य उपदेश है, जिनके प्रथमन भीरु महामाराज में आये विभुर अथवा श्रीधरिदासह द्वारा दिये गये नीति के आदर्श उपदेश ही हैं। इनमें आये हुए, यदि सम्मन्धी कुछ मुक्तियों अथवा दोहों को छोड़ कर, जिनकी योजना या ठ रस में की जा सकती है, अधिकांश पद्य सृष्टिमात्र ही हैं। इस प्रकार की सतसईयों में कहा जाता है कि 'रहीम' की एक सतसई थी, जिसके अग्रभाग आये छन्द मिलते हैं। किन्तु जबतक इस पूरे ग्रन्थ संग्रह का पता नहीं चल जाता, तब तक इसके सम्बन्ध में सावधान्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। 'दुखतीनास' और 'हुद' की दो प्रमुख ऐसी सतसईयाँ हैं जिनमें सृष्टि सतसईयों की परम्परा में रस सकते हैं।

'दुखती सतसई' की रचना उस समय हुई थी जिस समय मोस्वामी जी का अत्यधिक प्रभाव राजकी की की ओर हो रहा था।^२ बैदीमाधव दास ने अपने ग्रन्थ 'मूखनरिष' में सतसई का भी रचना कास किया है, यही सिद्धि गोस्वामी जी द्वारा रचना कास सम्बन्धी उनके दोहे से भी स्पष्ट होती है। उन्होंने इसका रचना कास बैद्याल मान संवत् १६४२ माना है। इस ग्रन्थ की रचना 'सीता जी' की सम्म तिथि के अनुसार पर हुई थी। इससंस्कृत 'सतसई' सात सर्गों में विभक्त है जिसका सम्पूर्ण ७४७ दोहों में यदि उपासना परमस्ति, लैवितिक श्लोक्ति द्वारा रामभजन, आत्मवीथ, कर्म सिद्धान्त और ज्ञान सिद्धान्त सम्बन्धी विषयों की चर्चा है। अन्तिम सर्ग में राजनीति निरूपण सम्बन्धी दोहों की संहिता हुई है। इसका अतिरिक्त इनके अन्दर बहुत से ऐसे दोहे प्राप्त हो जाते हैं जिनकी रचना कबीर की शक्ति की के रंग पर हुई है।

'दुख' कवि की 'सतसई' की रचना लगभग गोस्वामी दुखतीनास की सतसई का ११९१९० का है।^३ इन्होंने इसकी रचना दास में संवत् १७६१ में की, किन्तु पुस्तक के अन्त में स्पष्ट कहा है—^३

१ सतसई सप्तक, रामानुजदास, प्र० सं०, पृ० ११।

२ अहि रामदास धर्म धेनु इस नामधेय द्विज गुणधार।

माधवसिंह सिंह जयम तिथि सतसईया अथवार ॥

३ सतसई सप्तक—बाबू रामानुजदास, प्र० सं०, पृ० ११।

सैवत् सति रस बार सति चरितिक मुदि सतिवार ।

चातै टाका सहर में उपम्यो हरे विचार ॥७०६॥

‘हुन्द ने सत्य स्वरूप, रूप-वचनिक, असंकार सतसई, शृंगार शिक्षा, हितोपदेशाश्रय, मान-वैवाश्रय आदि कई प्रत्यक्ष किये, परन्तु कोई उठना प्रसिद्ध नहीं हुआ किन्तु कि उनकी रची हुई हुन्द-विनोद सतसई हुई।^१ इस सतसई के अन्दर कोरे उपदेशों को ही स्थान नहीं दिया गया, बल्कि इसमें पाई जानेवाली छलियों में सर्वत्र विदग्धता है। अपने सरस एवं सरल भाषों तथा अनोखे दृष्टान्तों के कारण ही इस रचना को बितनी स्थायि मिला सही, उसनी क्याति गोस्वामी की भी सतसई को भी नहीं प्राप्त हो सकी।

हिन्दी सतसई की परम्परा प्रधानतः शृंगार सतसईयों की परम्परा है। इसका आरम्भ तुलसी सतसई के पश्चात् और हुन्द कवि की सतसई के पहले ही हुआ। इन शृंगार सतसईयों में यद्यपि बहुत से ऐसे दाह मिल जाते हैं, जो उपदेश और छलिरस हैं तथा उसनी ही उच्छ्वेद की कृतियाँ हैं किन्तु की तुलसी और हुन्द की, किन्तु इन्हें हम छल सतसईयों की श्रेणी में नहीं रख सकते। इनका प्रधान विषय शृंगार है और वे शृंगार सतसईयों हैं जिनका प्रचार छल सतसईयों से कहीं अधिक हुआ।

कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दी शृंगार सतसईयों की परम्परा का आरम्भ कविवर बिहारी की ‘सतसई’ से मानना चाहिए।^२ हिन्दी के पूर्ववर्ती सतसईकार ‘हास’ की ‘गाथा सतसई’ के द्वारा सतसई की जिस परम्परा का निर्माण हुआ, उसकी समस्त विशेषताओं के दर्शन सर्वप्रथम हमें बिहारी ‘सतसई’ में होते हैं। तीन प्रत्यक्ष बिहारी के बहुत प्रिय शब्द पढ़ते हैं—हास की गाथा सतसई, सम्यक् का घटक और गोवर्धन की भार्या सतसई। बिहारी के दोहों में इन रचनाओं के भवानुसार वचन-विरत पड़े हैं। बिहारी की कल्प दूतों के भावों का फट-छोट कर तराश के साथ अपने ढंग से उपरिस्थ करने में अद्भुत सचेष्ट थी। अधिक असंगत न होगा यदि कहा जाय कि पूर्ववर्ती कवियों के शृंगारिक भावों का कलात्मक रूप ही बिहारी ‘सतसई’ है। यही कारण है कि विद्वानों ने एक स्वर से सहस्र घोषित कर दिया कि हिन्दी सतसई परम्परा का आरम्भ कविवर बिहारी की ‘सतसई’ से ही होता है। कविवर बिहारी अपनी सतसई में गाथा सतसई की जो वाग्वी और दीप्ति नहीं ला सके, वे सभी गुण प्रभूत भाषा में हमें सतिसागर सतसई में मिल जाते हैं।

बिहारी सतसई के आरम्भ और समाप्त होने के पूर्व सतिसागर सतसई के अविच्छेद भेद दाहों की रचना हो चुकी थी, उनका प्रकाशनाचार सदैव जारी रखा गया हो। बिहारी सतसई के आरम्भ होने का सूत्र अनुमान सं. १६९१-९२ तक जाता है। यह एक प्रकार से निश्चित-आ जान पड़ता है कि बिहारी सतसई के सभी अपना अविच्छेद प्रभूत दाहों की रचना उसका प्रथम ऐतिहासिक दाह—

१. वही, पृ. १६।

२. डा० इन्दुप्रसाद त्रिवेदी, हिन्दी साहित्य, प्र. १०, पृ. ३९६।

‘नहि परग नहि मधुप मधु, नहि निम्रत रहि पाव ।
बासी जसी ही लो बंध्यो, आगे कौन हवास ॥’

के प्रस्ताव ही हुई, क्योंकि इसी दोहे से प्रसन्न होकर उनके प्रधान आभयदाता राजा जयसिंह ने ऐसे ही रत्ने खाने वाले दोहों पर एक मोहर प्रति दोहा पुरस्कार देने का अपना नियम कबिबर को हुनाया और परिणामस्वरूप सतसई के अन्य मार्मिक शब्द सरल दोहों की रचना मोहरों के पुरस्कार के साथ हुई। कबिबर बिहारी ‘नियमानुसार कुछ राजाओं के यहाँ रुचि लेने प्रति वर्ष जाया करते थे। इनका बोधपुर और बूँदी में जाना कहा जाता है। वे आगरे भी जाया करते थे। सं० १६९१-९२ के लगभग जब वे अपनी कृति लेने आगरे गये तो पता चला कि महाराज जयसिंह नई ब्याह शर्त हुई रानी पर मुग्ध होकर महलों में ही पड़े रहते हैं। राजकार्य भी सँभाळना छोड़ दिया है। यह आदेश भी था कि यदि कोई रंग में मग करेगा तो कुचक नहीं। किसी को कुछ कहने कहलाने का साहस नहीं था। प्रधान महारानी भी अनन्त कुमारी (बीहान रानी) इस बट्ना से बहुत व्यग्र थीं। बिहारी ने अपना समाचार राजा तक पहुँचाने का बहुत उपाय किया, पर किसी का साहस नहीं हुआ।’^१ महारानी की अत्यधिक चिंता और मन्त्रियों के आग्रह पर बिहारी ने उपरोक्त दोहे के आधार पर राजा जयसिंह को सचेष्ट किया। कबिबर बिहारी मुगल सम्राट् शाहजहाँ के अत्यन्त कृपा पात्र थे और जयसिंह पर उसकी दृष्टि बराबर लगी रहती थी जिससे वे आश्वस्त थे कि राजा जयसिंह उसे छोड़कर सम्राट् का कोप मान्न नहीं बन सकते और ऐसा ही हुआ। जयसिंह को बाधा पड़ते ही चेत आ गया। ‘आगे कौन हवास’ की गूढ़ सन्देशना भी राजा का सज़ा गई। ‘इस तरह बेचपर रहने का भाग बंटे निनेयी। शाहजहाँ हमसे मिदने का अवसर ही देल रहा है। महाराज के बिहारी का बड़ा उपकार माना। बहुत सी स्वर्ग मुद्राये उनको भेंट कर उन्होंने उनका सम्मान किया और भाग के धिये भी प्रति दोहा एक अग्रणी देने की प्रतिज्ञा की।’^२ इस प्रकार की सतसई राजाभय में प्राप्त हुना और धन-संपत्ति के बीच की रचना है, जो कम से कम संवत् १७०३ के पूर्व का सम्राट नहीं ही हो सकती थी। बाबू श्यामसुन्दर दास ने इसका समाप्ति काल संवत् १७०४ का घटितकाल माना है और जयप्रायदास राजाकर ने भी लगभग यही स्वीकार किया है।^३ क्योंकि सतसई के अन्तिम शब्द में बरछ की छड़ाई का उल्लेख है जो इसी संवत् में हुई थी और जिसमें राजा जयसिंह ने औरजबेब की बड़ी सहायता की थी। इस युद्ध में राजा जयसिंह के जिस रक्तकीयल का परिषय दिया था, उसका संकेत बिहारी सतसई के इस दोहे में शब्द रूप से उद्धृत है—

‘हीं इल कहे दमकते, सै जयसिंह मुवाव ।

उर अपामुर सै परे, वही हरि गई गुलाब ॥’ ७११ ॥

१. बिहारी, चिरन्तनप्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० १०३ ।

२. सतसई सतक, श्यामसुन्दर दास, प्र० सं०, पृ० २४-२५ ।

३. वही, पृ० १५ ।

कबिबर बिहारी—जयप्रायदास राजाकर, प्र० सं०, पृ० ३१६ ।

बिहारी के दोहों को शृंगारपरक मुक्तकों का सर्वप्रथम नमूना मानने में एक ओर आपसि जान पड़ती है, वह है उनकी अन्यतम प्रौढ़ता। दोहों का प्रथम में प्रयोग करीर, चावली तथा तुलसी की रचनाओं में आकर अब सा व्यवहृत गया था, किन्तु शृंगारिक दाहों में प्रौढ़तम रचना करने वाले प्रथम और अन्तिम कवि बिहारी ही जान पड़ते हैं।

बिहारी के दोहों की प्रौढ़ता से तालपर्व हमारा उनकी कथ्यमय प्रौढ़ता ही है, भाव गत नहीं। भावों की स्वाभाविकता उनकी कथ्यभाषा की एवं मठार के चरम दब-सी गई है, जो काव्य का प्राय है। यही कारण है कि बिहारी के दाहे बुद्धि की कितना कमलुत्त करते हैं, हृदय को रस में डूबना नहीं छोड़ पाते। भावों की स्वाभाविक आधार भित्ति पर ही बुद्धि तथा कथ्य को अपनी चरमपरी दिखाने का व्यवहार मिलता है। कथा एवं वैयक्तिक प्रथम में सहज उत्पन्न नहीं होता, बल्कि उसके किये उठे विकास की आरम्भिक पर्याप्तियों पर चम्का पड़ता है। बिहारी के दोहे मूलिक तक से जानेवाली सीढ़ियों नहीं, बल्कि मौखिक हैं, जिसकी आधार भूमि हिन्दी कविता में पहले ही से अवश्य वर्तमान थी। या तो आरम्भिक रचनाओं को संग्रह का स्वल्प प्राप्त करने का सीमावर्ष प्राप्त नहीं हुआ या तो वे बिहारी सतसई के पूर्ण प्रसिद्ध हो जाने के पश्चात् सामने आईं। ऐसी ही कुछ स्थिति 'मतिराम सतसई' की है, जो निम्नलिखित बिहारी सतसई से पूर्ण की रचना है। इसकी स्थापित हिन्दी काव्य में उत्कृष्ट बिहारी सतसई के समान को नहीं हो पाई उसके किये 'मतिराम' के 'रसदास' की अत्यधिक प्रसिद्धि ही उत्तरदायी है।

मतिराम के उत्कृष्टतम नाविकप्रवेश ग्रन्थ 'रसदास' की रचना बिहारी सतसई के आरम्भ होने से पूर्व ही संवत् १६९० के आसपास हो चुकी थी, जिसमें 'मतिराम सतसई' के लगभग १२९ से अधिक उत्कृष्टतम दोहे पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संवत् १६९१ के आसपास जब बिहारी सतसई का प्रथम दोहा सामान्य लिखा गया, तब समय तक मतिराम सतसई का उत्तम दोहों की रचना हो चुकी थी। मतिराम सतसई किसी परिचिति विशेष की ही न तो रचना है और न तो उसकी रचना 'माहरो' के मुलने का ही की गई है। इस कवि ने समय-समय पर अपने मठाली लिखों में लिखा है जिससे उसके हृदय की सहज एवं स्वाभाविक अनुभूतियों उत्कृष्टतम भाषा में मर्मस्पर्शी प्रभावों के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। इनके दाहों में बिहारी के दोहों की भाँति न तो तय्यर-मठार है और न तो वे बुद्धि का ही कमलुत्त करने का प्रयत्न करते जान पड़ते हैं। अपने दाहों का प्रथम से जिस स्वाभाविक भावभूमि की सृष्टि मतिराम ने की है, उसी पर आगे थककर बिहारी ऐसे श्रेष्ठ कथ्यकार में अपनी कथ्यमय बुद्धि का समतार दिखाना, ऐसा जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त बिहारी के अनेक दाहे ऐसे हैं जिनमें पूर्ववर्ती कवियों का भाषानुसार चरक रखा दिया गया है जिससे उनकी भावयन्त्रहीनता तथा चार्मक कथ्यमयता का परिचय मिल जाता है। मतिराम के दाहों में इस प्रकार की किसी पैगारी का चिह्न नहीं जान पड़ता।

बिहारी सतसई मतिराम सतसई के बाद की रचना होते हुए भी हिन्दी काव्य को उल्लेख्य प्रवृत्ति का सङ्गी है, इसमें किसी प्रकार का संदेह किया ही नहीं जा सकता। इसका १२९ दाहों में शृंगारी काव्य की रचना अपनी चरम सीमा को पहुँच गई

है। उच्चवैचित्र्य तथा नाविकम्पता का ऐसा अनुपम उदाहरण एक ही स्थान पर तो समस्त हिन्दी काव्य में हूँदने पर भी नहीं मिल सकता। रोहिमुक्त कविता होन पर भी इसके दोहों में नायिका-भेद सम्बन्धी उत्प्रेषण उदाहरण मरे पड़े हैं। कवि का सामने रचना करते समय नायिका-भेद सम्बन्धी हिन्दी की रचनायें अवश्य थीं, जिनका श्रम परिपाक 'मतिराम' द्वारा रचित 'सतसई' में उपरिपक्ष किया जा चुका था। इनके पूर्व सृजितसतसईयों की रचनायें हो चुकी थीं और उनका लक्ष्यहीन स्माद में काफ़ी प्रचलन भी हो चुका था जिससे इनके कुछ दोहों पर जनका अनिवार्य प्रभाव पड़ा है। सृति अथवा उपरेषणक विहारी के दोहे भी अत्यन्त उत्तम बन पड़े हैं। हास की गाथा समझती ऐसी रचनाओं का प्रथम संभव है और विहारीलास की सतसई इस परम्परा में ही पड़ती है। इसका बाद भी सतसईयों की रचना होती अवश्य रही, पर कौर्ति में कोई इसके निकट नहीं पहुँच सकी।^१

'रत्ननिधि सतसई' कवि रत्ननिधि, जिनका वास्तविक नाम पूष्पी सिंह था, के 'रत्नद्वारा' का संक्षिप्त रूप है। इनका रचनाकाल संवत् १६६० और संवत् १७१७ के बीच का है। इनके दोहों में लौकिक प्रेम की सरस अभिव्यक्ति को अत्यधिक स्थान मिल है जिसमें वैचल्यता का आभार का प्राधान्य हो ज्ञान का कारण अनेक स्थलों पर आसन्नता भी आ गई है। इसके संक्षिप्त रूप में संगृहीत सतसई सप्तक में दाहों की कुछ संख्या ७०१ है। इनके कुछ दोहों पर सृष्टियों का प्रभाव जान पड़ता है जिनमें उन्हीन आत्म-तत्त्व सम्बन्धी विषयों पर कुछ कहने की चेष्टा की है।

संवत् ७१७ दाहे राम सतसई के नाम से संगृहीत है। इसकी रचना महायज वैदित्नायक सिंह, काशीनरेश का आश्रित कवि 'राम' ने की थी, जिनका उपनाम मयत था। 'इनका कविता काल संवत् १८६ से १८८० तक ठहरता है। इनकी सतसई मतिराम ही की भाँति सरस और स्वाभाविक है। उसमें मासुर्य और प्रसाद गुण की प्रचुरता है। पर ये कृत्रिम का सर्वत्र विचार रख सक है, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी इनकी कविता रसवती होती थी।^२

विश्रम सतसई के रचयिता कुन्दलनन्द की बरगोरी रियासत का राजा महायज विश्रम साहिब हैं जिनका पूरा नाम विश्रमानन्द था। 'मतिराम' के बीच 'विहारीलाल' का 'सतसैया' के विहारी से मिल वे, जो इन्हीं महाराज के दरबार में आश्रय मिल्य था। इनका राजत कास संवत् १८१९ से संवत् १८८९ तक रहा, जिसके बीच ही में कभी एक प्रथम की रचना सम्पन्न हुई थी। इनकी कविता सय साहित्यिक चोटी की नहीं है, किन्तु दाहे अत्यन्त सरल है। इनकी सतसई विहारी सतसई की अनुकरण है जिसमें अनुकरण का दास प्रभूत भाषा में विद्यमान है। बाँते सीधे सादे ढंग से कही गई हैं।

पूर्ववर्ती साहित्य का हिन्दी सतसईयों पर प्रभाव

इसका उत्प्रेषण किया जा चुका है कि 'हास' की 'गाथा सतसई' तथा 'अर्थनाथ' की 'आर्षा सतसई' का प्रभाव हिन्दी के परवर्ती सतसैयाकारों पर पड़ा। हिन्दी का कवि

१. हिन्दी साहित्य—डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० १११।

२. सतसई सप्तक—इयानन्दर दास, प्र० सं०, पृ० ३०।

मे वह प्रभाव कई दृष्टियों से ग्रहण किया जिसकी भी पर्चा हो चुकी है। जहाँ तक संस्था एवं शैली का सम्बन्ध है सभी के नाम सात सौ के आधार पर रखे गये और उनकी रचना मुक्तक छन्द अथवा दोहों में हुई। जहाँ तक भावसाध्य का प्रश्न है, कुछ कवियों में भाव थिक पाया जाता है और कुछ में कम, या पाया भी जाता है तो उसको देखा स्वरूप प्रदान कर दिया गया है कि वह कवि का अपना हो गया है। मठिराम और बिहारी की सतसहस्रों का निर्माण हो जाने के पश्चात् हिन्दी के बाव में आमेनाले कवियों ने गद्या सतसहस्रीकार तथा भार्या सतसहस्रीकार का भाव साम्य ग्रहण न करके, इन्हीं दोनों कवियों के भाव साम्य को ग्रहण किया है। बिहारी के दोहों में 'मठिराम सतसहस्र' के दोहों तथा 'गद्या सतसहस्री' के मुक्तकों, दोनों के भावसाध्य प्रमूख भावा में पाये जाते हैं। मठिराम के बिन दोहों के भाव साम्य बिहारी के दोहों में मिलते हैं, उनमें बिहारी की कठोरपरी स्पष्ट है। अपनी बिन स्वाभाविक अस्तुतियों को मठिराम ने पद्य के आग्रह से विरक्त होकर दोहों का रूप दिया है, उन्हीं को बिहारी के दोहों में कलात्मक तथा तर्कसंगत रूप प्रदान किया गया है जिसकी पर्चा हम आगे करेंगे। किन्तु बिहारी सतसहस्र के कुछ दोहों को 'गद्या सतसहस्री' के भावानुवाद मान सकते हैं।

पूर्ववर्ती प्राकृत एवं संस्कृत सतसहस्रों का कितना अधिक प्रभाव बिहारी सतसहस्र पर अविरत होता है, उतना अन्य पर नहीं। 'परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गद्या सतसहस्री और बिहारी सतसहस्र में कोई अन्तर ही नहीं है। सिर्फ बिहारी ही नहीं, उनके बाद के संस्कृत पदे-लिखे हिन्दी शृंगारी कवियों ने भी इन तीन ग्रन्थों से बहुत प्रेरणा प्राप्त की है। कई कवियों ने इन ग्रंथों के स्तोत्रों का अन्तरण अनुवाद कर दिया है और कई दूसरे छन्दों में स्थान-स्थान पर इनके भावों का आवानुवाद किया है। साहित्य के मर्मज्ञ आकाशकों ने बताया है कि गोवर्द्धन की 'आद्या सतसहस्री' में भी हास की भाँति सरसता, ठस्मस और तावरी नहीं है। बिहारी इस विषय में वाक्य गोवर्द्धन से अधिक सौम्य-मध्यासी है।"

गद्या सतसहस्री और बिहारी सतसहस्र

बिहारी सतसहस्र के पूर्व 'गद्या सतसहस्री' और 'आद्या सतसहस्री' दो प्रमुख सतसहस्रों विद्यमान थीं बिनकर अत्यधिक प्रभाव बिहारी की रचनाओं पर पड़ा है। इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक दावे—

महि परम नहि मधुर मधु, नहि बिराज हरि जात ।

अभी कभी ही तो बँप्यी, आगे कौन हवात ॥

पर गद्या सतसहस्रीकार का प्रभाव स्पष्ट है। उसने भी इसी मन्त्र की उक्ति कही है—

बाक्य कोट विद्यत पावइ ईसीस मालई कलिआ ।

मअज्ज पाव छहिस्त ममर तावधिअ मछेत्त ॥ गद्या सतसहस्री, ५१४

इसी से कुछ मिश्रता-मुछता आवा सतसईकार ने मी लिखा है—

‘पिब मधुप बहुल कसिका घूरे रतनाम माष माषाय ।

अपर बिछेप समाये मधुनिमुषा नदन मर्मसि ॥१९॥

और भीमटी विकट नितम्बा बी मी इसी स्वर में स्वर मिषाकर कहती है—

अन्यासु तावपुमर्द सहासुमह ।

छीले विनादय मनः सुमनाच्छासु ।

मुषामवातरसत कसिकामछते ।

अयंकदर्ययति कि नकमस्तिद्यायाः ॥

गाथाकार ने नादान मौर के नागानी की चुटकी ली है, जो अविकसित अक्षरों में मी माछटी कसिका का अपनी अज्ञानता के कारण मर्दन कर रहा है, आर्याकार ‘माछटी कसिका मर्दनकारी भ्रमर को छोड़ कर बहुल कसिका को कर्णित करनेवाले मीरे के पास पहुँच कर दूर लड़े उपदेश दे रहे हैं कि यो नहीं यो रखान करो, नहीं तो कुछ पस्ते न देंगे।^१ विकट नितम्बा बी का इन दोनों से अमुठ है किन्तु अत्यन्त मुन्तर और विसृत है। भ्रमर को वृत्तों बगल लिले कमन में पेटमर कर बी बहसम का उपदेश दे रही है और कसिका की बाध्य कसिका पर दयामात्र दिला रही है। बिहारी ने अपने नागन मीरे की नागानी देल कर उसके भविष्य की चिन्ता होती है, कि जब वह अमी परग बिहिन कसिका क फन्दे में ही इतना बेमुष हो गया है, तो उसके परगमुछ हो जाने पर उसकी क्या अवस्था होगी। उन्हें मोछी-माछी कसिका की उसनी चिन्ता नहीं, बितनी के नादान मीरे की है।

परदेसी पति अस्य काक तक हो अपनी प्रेयसी के पास रह कर पुनः परदेश जाना चाहता है जिससे नायिका अत्यन्त खुरी होने लग जाती है। इस अवस्था का चित्रण गाथाकार और सतसईकार दोनों ने ही किया है।^२ गाथाकार की नादिरा विमोहकनित दुःख का कारण शृंगार आदि प्रसाधनों से बिरत हो गई थी और पति क छोटा बान पर अपने विषमकास में बिरत-रुने-उरुने कसो की पुनः मुक्त होने लगी थी, बिनकी उरुसन अमी पूर्णता दूर नहीं हो पाई है, उनका शृंगार अमी अधूरा ही है किन्तु प्रियतम का पुनः जाने के लिये तैयार देठा देरकर वह अत्यन्त विरम में पड़ जाती है तथा अपनी अवस्था की प्रकट कर उसे प्रसन्न से बिरत करने की चेष्टा करती है। बिहारी की नायिका की स्थिति योड़ी गाथाकार की नायिका से अधिक दयनीय है। वह विरगन्धम में अत्यन्त क्षीनभाव हो गई थी जिससे प्रियतम के आशाने पर भी अमी उमका स्वरूप

१ पद्मसिंह शर्मा, बिहारी की सतसई, प्र सं०, पृ० १० ।

२ “जहाँ दुखर आरज पुनो बिरति करेसि गमनस्य ।

आरजविन होति सरका वेधीन सरणिजो बिहरा ॥ (११०१) गाथा मरुगरी ।

अमी न आये सहज रंग बिरह बूरे गात्र ।

अवरी कहा बडाह्वति बहन बहन की बात ॥

— बिहारी सतसई ।

अपनी सामाजिक स्थिति को नहीं प्राप्त कर सका है, जिसे वह नायक पर झुल कर उसके मन में कदममाप उत्पन्न करना चाहती है कि जिससे वह परदेष्ट ममन विचार से बिरल होकर उसके पास रुक जाय।

इस प्रकार अनेक ऐसे दावे हैं जिनमें सतसईकार यायाकार की रचनाओं से उपकृत हुआ है। 'यायाकार' से प्रभावित 'आर्याकार' के भाव भी सतसईकों में उठी प्रकार अपनाये गये हैं, जैसे कि यायाकार के।

आर्या सतसई की और बिहारी सतसई

नायिक नायक के प्रेम में पहुँचकर अपनी समस्त कठिनाइयों तथा शोभाओं के बावजूद भी बाह्यकर प्रेम से बिरल नहीं हो पाती और बार-बार उसी प्रेमी की ओर दौड़ जाती है। आर्या तथा सतसईकार दोनों ने इस प्रकार प्रेम और मर्यादा के बीच दौड़नेवाली नायिका को 'नाय' का रूपक दिया है जो किनारे न समझ कर बार बार भँवर में चकर खाती रहती है और नायिकों द्वारा प्रयत्न करने पर भी किनारे नहीं समझी जा पाती। आर्या की नायिका को उसकी सखी सील देती है कि उसे अपनी मर्यादाओं का ज्ञान कर सामाजिक प्रेम से बिरल हो जाना चाहिए, किन्तु वह प्रेमाधिक्य के कारण उसी प्रकार अपने प्रेमी अथवा प्रेम को दौड़ जाती है जिस प्रकार किनारे पर आई जानेवाली नाव किनारे पर न आकर कछबर्त में ही बूल जाती है और वहीं चकर खाटने लगती है। बिहारी की भी नायिका सामाजिक मर्यादा और सखा को ठिठोती है। जिस प्रकार रस्ती या गुन के दूट जाने पर एक में पड़ी नीका भँवरो में चकर खाटती फिरती है, उसी प्रकार उनकी नायिका भी सख रूसी गुन के दूट जाने से नायक का अंग-मार्ग के सौन्दर्य रूसी भँवर में पहुँचकर प्रेम के पीछ चकर खाटती फिरती है।^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि बिहारी को जो मावभूमि पूर्ववर्ती कवियों से मिली है उसपर उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं कलम का चमत्कार दिनाया है।

आर्या सतसई की एक नायिका नाक संभारते समय भी गर्दन की ठिरछी किये छड़ी हुई ठकते बैठे रहने पर भी, अंगुलियों से नाभ के बीच जगह बनाकर सखी और व्याकर प्रियतम को देख लेने में लपट हो रही है, उसीकी बिहारी ने भी अरन रोहे में बाँधा है।^२ इसी प्रकार उन्होंने सतसई के गूगरी मुखको से मो अरने रोहो में भाव मय किये हैं।

१ 'आर्य आर्य शिवतया रनिहे लव पयसि लज लपेव ।

आवत पठित लोकापि समनवा दिनवसवनीच ॥ ३२९ ॥

(आर्या सतसई)

फिर फिर बित जतही रहतु दुरी छात्र की जाव ।

लौग लौग छवि लौर में अभी भीर की भाव ॥

(बिहारी सतसई)

२ 'किन्तु बिसारसतिर्पण नव कष्टी विमुक्त वृत्तिरपि बाधा ।

रसमिव अंगुलिकर्मिणक बावकाया विडोकरति ॥ २३१ ॥

आर्या सतसई।

'कंजन नयनि मंजन किछु, बैठी चोरोति बार ।

कच अंगुलि विच दीप्ति है, चितवति नन्दकुमार ॥'

बिहारी सतसई।

अमरक शतक और बिहारी सतसई

दोहों के अतिरिक्त बिहारी सतसई के दोहों में संस्कृत के शृंगरी मुक्तियों के भी भाव ग्रहण किये गये हैं। बिहारी की नायिका बहाना बनाकर लोपे हुए पति का सम्बन्ध साधना हुआ अमरक पर एकान्त में इसका पुष्पन करती है और पुष्पन का पूर्वानन्द उठाकर नायक की ईशता देख वह अत्यन्त स्थिरिया नायक क गले से छिपट कर रह जाती है। इसीसे सिद्धा झुल्ला भाव अमरक शतककार का भी है।^१

सिद्ध हेमचन्द्र और बिहारी सतसई

अमर की स्वाभाविक संयुक्त वृत्ति की और संकेत करते हुए 'सिद्ध हेमचन्द्र' के एक दोहे में अमर का सम्भावित चरके उल्लेख तब तक नीबड़ी पर ही उल्लिख रहने का उपदेश दिया गया है, जब तक कि लघन पत्नी काका छाया बहुत करम्य पुष्पित नहीं हो जाता, जिससे मिथ्या झुल्ला दोहा बिहारी सतसई में भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त सिद्ध हेमचन्द्र में संयुक्त और भी कई दोहों के प्रभाव बिहारी ऐसे परवर्ती कवियों ने ग्रहण किये हैं।^२

केशवदास और बिहारी सतसई

बिहारी के दोहों में अपेक्षाकृत संस्कृत एवं अपभ्रंश के मुक्तियों के भाव हिन्दी कविताओं के भावों से अधिक आये हैं, किन्तु महाकवि केशव के कुछ छन्दों के भाव उनके दोहों पर अत्यन्त स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। बिहारी के भाव ग्रहण की अपनी विशेषता रही है, जिस कौशल का प्रदर्शन उन्होंने यहाँ भी किया है। यदि भी कुछ सीमा में केशव के छन्द में आये हुए भाव को जिस कलात्मकता के साथ कविवर बिहारी ने उदाहरा है, उससे उसे हम अनुमानित करना नहीं कह सकते, किन्तु भावलाक्षण को एकत्र से नकार भी नहीं जा सकता।^३ इसी प्रकार यदि हम पूर्ण छानबीन करें तो पूर्ववर्ती आचार्यों एवं कवियों के भाव एक-एक दोहे में निम्नरे मिलेंगे।

१. 'शून्य आसगृह विकीर्य शयनानुराग विचिच्छन्ने
निद्रायाजमुपागतस्य सुखं निर्जन्य पशुमुद्यम।
विश्रम्य परिशुन्य आसपुनःकामाकोर्य मन्दरवटी।
अरजानप्रमुत्ती प्रियम इक्षता वाका चिरंभुविता ॥" अमरदासक, ६१।
"मैं मिसहा सोयी समुत्ति, मुँह चूमो दिन आय।
ईस्यो लिसवानी, गर गछी, रही मीं छपराय ॥ बिहारी सतसई।
२. "ममरा पशुविचिच्छन्ने केचि द्विहृदा मिच्छन्नु।
यस पशुत्त जया बहुत कुच्छन्ने काम कपन्नु ॥" सिद्ध हेमचन्द्र, ७-३८७-२।
"हरी आस करवयी रहै, अकि गुकाय में सुक।
हैं बहुरि बसन्तरिनु, ह्व कारि के नृक ॥" बिहारी सतसई।
३. "मुन दे सखीय बीच दे के जीहि साव है,
खराह कसु काव बस बीनो बरबनु है।
कोमक सुखादिका सी मन्किषा की आदिषा सी,
बडिका तु हाथि जीहि मानस के वसु है।

गोवर्धनाचार्य और मतिराम

बिहारी की मुख्य रचनाभूमि 'बिहारी छंदसई' ही रही जिससे उन्हें सब कुछ दोहों के माध्यम से ही कहना था, किन्तु मतिराम के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं थी। मतिराम ने 'छंदसई' के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी रचनाएँ की हैं और उनकी मुख्य रचनाभूमि 'छंदसई' नहीं, बल्कि 'रसराज' है। यही कारण है कि पूर्ववर्ती कवियों के भाव उनकी 'छंदसई' में कितने नहीं आये हैं, उससे कहीं अधिक उनकी अन्य रचनाओं में आये जाते हैं। गोवर्धनाचार्य की 'आर्षा सप्तशती' में एक मुवती के कटाक्ष का वर्णन आया है जिसके श्राव ज्ञान तक स्वीच कर चढाये गये नयन बाज नायक के हृदय में प्रविष्ट होकर पुनः बाहर आना ही नहीं जानते, क्योंकि वे सीपे नहीं चढाये गये थे। इसी भाव को लेकर 'मतिराम' ने अत्यन्त अनुपम एक पनासरी की संहि की है, जो 'रसराज' और 'अक्षित-अक्षम' दोनों में संरक्षित है। रसराज में यह स्मृति और अक्षितअक्षम में पूर्णपमा के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।^१

दुखसीदास और मतिराम

महाकवि दुखसी ने अपने एक 'बरौ' छन्द में जानकी की के काटे कथापाथों तथा हृदयिकों की स्वाभाविक समक का अनुद्धा वर्णन उसके 'मोठी' पर आकाने वाले प्रभावों के माध्यम से किया है। कथापाथ में गुपी हुई मुद्राओं पर कथों की छाया पड़ कर उन्हें नीकममि के सदाय चमका देती है और वे ही मुद्राएँ जब उनकी हृदयिकों पर आ जाते हैं, तो उन पर वे कथों की छाया बिखीन हो जाती है और उनसे प्रकाश प्रकटित होने

जाये या बिनाउ भयो केसव' मुनै को जात,
देखो जानि पाव जात भयो रँधो जसु है ॥
बिप्र सी छरायी वह बिजिणी बिजिप्र गति,
देखी थी गये रसिक पावै कौन रसु है ॥ (रसिकप्रिया)
'बो दूक मजिबत निरई बई कुमुम के गाव ।
कर घर देनी घर बरा अनी न डर को जाव ॥ (बिहारी छंदसई)
'पर मोहनाथ मुन्ही भिष्कदले पदजिब कथाशोयम् ।
बिगिख ह्व कठित कर्षः प्रविशति हृदय नमिःप्रतिभा ॥ आर्षा सप्तशती, १५५ ।
'आकस कठित करे काजर कठित
मतिराम है कठित अति पाकिव पाव है,
सारा सार सोई सखज सदाय
सगरव सविद्याम द्वे भूमीन भिवरत है ।
बदनी सधन रंक तीछन कटाव बदे,
कोचन रमाक डर नीर ही करत है
गादे द्वे गादे है न बिसारे बिसरत,
प्रीन बान से बिसारे न बिसारे बिसरत है ।' (मतिराम)

कमला है। इसी भाव को 'मतिराम' ने अपने ढंग से ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे कुछी से प्रभावित 'मतिराम' के सुन्दर छन्द उनकी रचनाओं में हैं। निम्नलिखित वा सकते हैं।^१

आनन्द केन्द्र और मतिराम

मतिराम की कोमल कल्पना तथा सरसता से ओतप्रोत 'केदार' की कविताओं के भी मार्मिक भाव बच-बच उनकी कविताओं में विद्यमान हैं। बाण के मृदु हास पर उभय कविवर रीझ गये हैं। कल्पना के विस्तृत क्षेत्र में इस मीद हास को लेकर दोनों कवियों ने एक परिश्रम किया है। जिस प्रकार केदारदास को 'मोरी मोरी की योरी योरी हाँसी' का खेल बनाना प्रकार के लन्देह सठे हैं कि वह मन्द हास अमुक अमुक वस्तु तो नहीं है, उसी प्रकार मतिराम के मणि मुकुर पर भी ऐसे ही अनेक लन्देहों का मनोरंजक प्रतिक्रिया दिखाई पड़ते हैं।^२

रहीम, बिहारी और मतिराम

मतिराम अनेक दृष्टियों से रहीम के सबसे अधिक निकट हैं और बिहारी तथा उनका रचनाकाल प्रायः एक ही रहा जिससे एक दूसरे की रचनाएँ परस्पर आत्यधिक प्रभावित हैं जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

बिहारी सतसई और रसनिधि

रसनिधि ने कोई अज्ञा से सतसई नहीं लिखी, बल्कि उनके 'छनहारा' से ही उद्यम

१. 'जिस मुकुट सजि मरकट मणि मय होत,
हाथ छैत पुनि मुकटा करत बड़ोत।' (तुलसी)
'मुकुट हार हरि के हिये मरकट मणिमय होत,
पुनि पावत दधि राधिका मुख मुसकानि बड़ोत।' (मतिराम)
'सिय मुख अंग रंग मिळि अधिक बड़ोत,
हार बेलि पहिराबी अपक होत।' (तुलसी)
'हीरनि मोदिन के अचरदनि सोने के मूचन की छवि छाबै,
हार चमेडी के पूजन के तिन में रचि बंधन की तरसावै।
अंग के संगतै केसरि रंग की अंबर सेत में जोति बगावै,
बाक छवीडी छपाव छपै बहि काक कहौ अब कैछे क आवै ॥' (मतिराम)
२. मतिराम ग्रन्थावली, बं० कुण्डबिहारी मिश्र, लृ० सं०, पृ० १९८ १९९।
किन्हीं मुक कमल से कमला की ज्योति होति,

मोहन की मोहनी कि गिरा की गोलाई है।^३ (केदार)

बाबी के बरान बँधों—बाव के—बिछास डोले,

बाक के बदन बिकसत मृदु हास है।^४ (मतिराम)

दोहों को छोट कर सीमों में छप्ते 'सतसई' का स्वरूप प्रदान कर दिया है। बाबू भ्रामसुन्दर का सतसई सतक में किया हुआ ऐसा ही प्रयास है। जिस प्रकार बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अपने माब किये, वैसे ही परवर्ती कवियों ने भी बिहारी के माबों को भी अपनी कविताओं में अपनाया है। रसनिधि ने तो बिहारी के अनुकरण पर ही प्रायः अपने दोहों की रचना की है। उनके माबों और यहाँ तक कि पदावली को भी उन्होंने व्यो का लो से लिया है। दूसरों के माबों को कदाचित् रूप ग्रहण करने को जो क्षमता बिहारी में थी, वह इन कवि महाशय को प्राप्त नहीं थी, जिससे उनके द्वारा लिये गये माबों की दुर्दशा हो गयी है तथा कभी-कभी उसका निर्बाह करने के लिये एक स्थान पर उन्हें एक से अधिक दोहे कहने पड़े हैं जिससे उसका प्रभाव-ग्राह्यीय शिथिल पड़ गया है।^१

मतिराम और रसनिधि

रीतिशास्त्रीय कवियों को नयन बाध से विधना अधिक प्रियकर था। 'मतिराम' की नायिका के नयन बाध अधिक तीव्र हैं, किन्तु वे रसनिधि तक पहुँचते-पहुँचते पित अवश्य गये हैं, क्योंकि वही की लाल की सीपला उनके लिय अधिक कष्टकर हो गई है। फिर भी वे इतने मुझीले तो हैं ही कि बर्र की माया शेष है। इसका अतिरिक्त इनके अन्य दोहे ऐसे हैं जिनमें 'मतिराम' की ही सेवी का वर्णन है, जिनमें केवल भाव साम्य ही है, शब्द साम्य नहीं।^२

बिहारी और राम सतसई

अधिकांश सतसईकार अपनी नायिका का चित्र उतारते ही रहे, किन्तु उसका चित्र नहीं उतार पाये। बिहारी तो इसलिये असमर्थ हो आते हैं कि उनकी नायिका का सौन्दर्य निरन्तर बढ़ता रहता है जिससे चित्र अपूर्ण ही रह जाता है, रसनिधि कभी-कभी पूर्ण चित्र बना से आते हैं, किन्तु 'कटाछो' पर पहुँच कर उनकी भी कलम बट जाती है और 'राम सहाय' की भी असमर्थता कुछ कबिबिर बिहारी की सी है। 'राम सहाय' की नायिका

१. 'दग अदसत दूरत छडुम छुरत चतुर पित प्रीति ।
परति गौंति दुरजन हिरे नई नई यह रीति ॥' (बिहारी)

'उरझत दग बधि जात मन कहो कीन यह रीति ।
प्रेम बाग में आरुके बेनी बड़ी जनीति ॥
अनुठ गति यह प्रेम की कली लगेही जाय ।
छरे कई दूरे कई कई गौंति परिजाय ॥' (रसनिधि)

२. 'काळ विहारे प्रेसतर, अधिरज करत अपूक ।
विम अंशुक छेद करी, काटी केहि छटूक ॥' (मतिराम)
'अब कग बेबत मन छते दग अविचारे धान ।
अब बंसी बेबत कगी लस सुरम सी मान ॥
चतुर धिन्नेरे तुव सरी किलत न दिव दरार ॥
कठम सुबत कर आंगुरी कयी कटाजन आह ॥' (रसनिधि)

की बौकी अदा के कारण निभकार निभ नहीं बना पाता । स्वरूप को तो निभकार अपनी कृपा से कागज पर उतार सकता है, पर वह बौकी अदा को किस प्रकार अभिहित करेगा ।^१

मतिराम और राम सतसई

— मतिराम की प्रोढ़ा पीरा अभीरा नायिका परझीगामी पति के प्रातःकाल सोटकर आने पर उसे अपना भंगारण नहीं करने देती और ज्योंही वह उसकी मुआमों को पकड़ कर अपने आसिमानपाय में छेना चाहता है, उसके नेत्र काय के कारण सस बग के हो जाते हैं जिससे उसका 'मान' करना स्पष्ट हो जाता है । ठीक वैसी ही रिपति 'राम' फकि की नायिका की भी है, वह पति के आँखों की छाँकी से साहू जाती है कि वह दूसरी स्त्री के साथ रात भर बगकर रहि-कीड़ा करता रहा है, जिससे कोच में उसके भी नेत्र रक्तवर्ण हो जाते हैं ।^२

रसनिधि और राम सतसई

बिहारी की नायिका के निभ न बनने की बात रसनिधि और राम सहाय की सतसई में समान रूप से वर्णित है । इन तीनों कवियों ने इस प्रसंग की उल्लासना एक ही ही की है ।

बिहारी और विक्रम सतसई

नायिका की प्रदी की आँखी पर आतिशयोक्ति करते हुए बिहारी में अपना मस्तिष्क रोका कहा है, जिस पर सहृदय साहित्यकार हँस पड़े हैं, जिससे मित्रता सुष्ठु दाहा विक्रम प्यरसईकार ने भी कहा है जिस पर बिहारी की स्पष्ट छाप है ।^३

मतिराम और विक्रम सतसई

'मतिराम' की योजना प्रातः नायिका प्रियतम को परदेस जाने के छिये ठेकार देपर आँखों से आँदुओं की साड़ी लगा देती है, जिससे वह नायक के मन में कबला उतरा

१ "किलज बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गकर ।

मय न केसे जगत के जगुर चितेरे दूर ॥" (बिहारी)

"जगुर चितेरे तुम सबी किलज न दित रहारा ।

कलम पुषत कर जागुरी कटी कदाछन जाहू ॥" (रसनिधि)

"सगरब गरब लीर्ये सदा जगुर चितेरे आय ।

पर बाकी बौकी अदुर मेहु न लींचा जाय ॥" (राम सहाय)

२ "आवन बनि आहर कियो, बोकी बोक रसाक ।

बौह गही मन्दारक जय, मय बाक दगडाक ॥" (मतिराम)

"कहुँ निति में बसि मयन बस जाय अपन उठाक ।

काक मयन ही बाक के काक मयन कलि काक ॥" (राम सहाय)

३ "बाहू महाबहू देन को बाहुन बैठी जाहू ।

फिरि फिरि जानि महावरी पुरी मीदति जाहू ॥" (बिहारी)

"तहम अपन दूरीनि की काकी करी पिलेलि ।

चारक दीये बकि रही बाहुन पाहुन बैकि ॥" (विक्रम सतसई)

करने का एक प्रयत्न करती जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त ओझ की सड़ी की बरसात से उपमा लेकर कवि इसका भी संकेत कर देना चाहता है कि वर्षा ऋतु विराहीजनों के लिये अत्यन्त कष्टकर है। जाने के पूर्व कवय मावी नियोग की आशंका से ही वह नायिका बरस बरसात हो गई है तो वास्तविक नियोग में उसकी कैसी अवस्था होगी। इसी प्रकार की कुछ रोचक-याम 'विक्रम सप्तर्षि' कार ने भी की है। यद्यपि उसकी नायिका वातावरण को कवय-पूर्ण बनाती नहीं जान पड़ती, किन्तु फिर भी वह ऐसे सम्मोहक वातावरण की सृष्टि करती जान पड़ती है जिसमें नायक का जाना असम्भव हो जाय। वसन्त-ऋतु की मादकता प्रेमी जनो के हृदय में मित्रन की आकांक्षा में वृद्धि करती है, जिस वसन्तऋतु की सी उपमा का विचार 'विक्रमसाहि' करते जान पड़ते हैं। ऐसा लोगों का विश्वास है कि 'हिंदोला' राम गाने से वसन्त ऋतु का आभास बिना ऋतु क भी हो जाता है और नायक को रोझने के लिये नायिका इसी आश का प्रयोग करती है। यद्यपि दोनों कवियों के वर्णन में साम्य नहीं है, किन्तु निरिपत रूप से परदेश जानेवाले पति को रोझनेवाला भाव दोनों कवियों में समान रूप से वर्तमान है।^१

रसनिधि और विक्रम सप्तर्षि

वचन मेंनों की उपमा नैवारिक कवियों का प्रिय विषय रहा है, जिसकी उपमा प्रायः कवियों ने मृग से दी है, किन्तु बिहारी क मुद्गोर 'मृग' को 'रसनिधि' और 'विक्रम' ने 'मृग' कहा है। रसनिधि के मतबारे हम-गणों का सोचा बेचार प्रेमी अपने क्रमशः शरीर पर नहीं घाम पठा, वा 'विक्रम साहि' क 'मृग' मयादा की अर्थात् बचकर तोड़ते रहते हैं।^२

राम और विक्रम सप्तर्षि

नायिका की काज एड़ी का प्रयोग बिहारी, राम और विक्रम आदि तीनों ने उठाया है, किन्तु 'राम सहाय' ने इसे बोझा व्यापक बना दिया है जिससे वह केवल एड़ी क लिये ही न होकर उसकी दर्जनी छटा क लिये हो गया है, किन्तु जबका लोठ बिहारी का प्रविष्ट दोहा ही है जिससे परफर्ती सप्तर्षिकार प्रभावित हुए हैं।^३

१. "माननाय परदय की कछिरी समी विचारि।

रामा मैन बन बाक के बरसव कारे बारी ॥"

(मतिराम)

"मोठी बिदा बिदस की है जगह जगमोह।

बोधी बोक न सुखर तिय दिय अकार हिबोक ॥"

(विक्रम सप्तर्षि)

२. "मतबारे हम-गण कई ऐसे शीखत छोड़।

मेही-रग-रन बरी रके हुकी शोके जाइ ॥" २०३ ॥

(रसनिधि)

"गोरु कानि रंजीर हठ पछ अकुस न कराव।

काज अगाइ कैह न बकर दग मल्ल बल जात ॥१९४॥ (विक्रम सप्तर्षि)।

३. "छेक छबिही की छटा कदि महाबरी संग।

कानि बरे भाव करी कचहि निचोरन रंग ॥" (राम सहाय)

इसी प्रकार यदि सुरुम दृष्टि से प्रत्येक मुक्तक की बीज-पद्धत की भाव तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक शृंगार सतसईकार ने या तो अपनी कविताओं के लिये भाव पूर्ववर्ती संस्कृत एवं अपभ्रंश कव्यों से लिये हैं या तो स्वयं एक दूसरे सतसईकार ने भावों से परस्पर प्रभावित हैं। यदि एवं उपरोक्त प्रधान सतसईयों की कोई एक निश्चित परम्परा नहीं स्वीकार की जा सकती है। इनमें आदर्श ग्रन्थ पूर्ववर्ती पार्थिक ग्रन्थ रहे जिसका ठहरा किया जा चुका है। प्रायः इन लोगों की अन्य रचनाओं से दोहों को इच्छा करके सतसई का स्वरूप दे दिया गया, वेता तुलसी सतसई से स्पष्ट है। तुलसी ने 'सतसई' की रचना की थी। इस सम्बन्ध में विवाद है जिससे उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। शृंगारिक सतसईयों के अतिरिक्त भी छाव ही दोहों के संग्रह होते थे और उनका सतसई का नाम दिया भी गया, किन्तु उनमें केवल नाम छन्द और संख्या साम्य ही है। उन्हें परम्परा में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। आनन्द भी सतसईयों लिखी गई हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद की मिश्र ने 'नौसई' और 'भ्यारहसई' का उल्लेख किया है जिसमें 'नौसई' तो प्रसिद्ध कवि बैरब्रह्मनन्दन की कही जाती है।^१ बिन लोगों ने 'हजारा' लिये उनके भी छाव ही दोहों को इच्छा करके 'सतसई' का रूप बाद में लोगों ने दे दिया जिससे सतसई परम्परा की अस्पष्टता का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐतिहासिक की सतसई, सतसई सतक में जो संघटित है, इसी प्रकार की है।

महाकवि मतिराम के समकालीन कवि रहीम और बिहारी

महाकवि मतिराम ने जिस समय अपनी रचना आरम्भ की, उस समय हिन्दी साहित्य में जिस क्रान्ति की रचनाएँ हो रही थीं, उस पर मुक्तमानी संस्कृति का पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। हिन्दी में कुछ अच्छे मुक्तमान कवि भी रचनाएँ कर रहे थे, उनमें मुख्यतः ऐसे हिन्दू थे जिनके परिवार वाले कुछ ही काल पहले मुक्तमान हुए थे, जिससे हिन्दी की शृंगारिक तथा प्रेम सम्बन्धी, जिनमें लीकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के रूपों का विधान होता था, इस प्रकार कविताओं के माध्यम से हिन्दू सुलभ-संस्कृति का अमूल्य रक्षण संचाल हुआ। इस प्रकार की कविताओं में वास्तव्य का का विशिष्ट गुण उत्पन्न हुआ, उसमें आधुनिक युग के गम्भीर आन्दोलनों तक की मस्ती में छमा दिया है। अमूल्य रहीम ज्ञानखाना ऐसे ही प्रथमा सम्प्रदाय मुक्तमान कवि थे जिनके सम्पर्क में मल्ल शिरोमणि महाकवि तुलसी से लेकर गंग और मतिराम आदि सहृदय कवि आये और उनकी कविताओं से कुछ म कुछ प्रभाव ग्रहण किया। रहीम के आधे से अधिक दोहे ललित नहीं होते, किन्तु जितन दोह प्राप्त हो सक हैं, उनसे स्पष्ट है कि यदि सम्पूर्ण दोहे मिल जाते तो उसे सुदृढ़ अथवा उपदेश सतसईयों की श्रेणी में रखा जाता। इसके अतिरिक्त हिन्दी सतसई परम्परा में 'रहीम सतसई' सर्वप्रथम होती।

कवि रहीम के समकालीन ही सेवक मुबारक अर्थात् विश्वनाथ भी थे, जिनका रचनाकाळ 'रहीम' से जाड़े हो पीछ था। यद्यपि 'मुबारक' अती सतसई परम्परा में न आकर

'शतक' पद्यरूप में ही आते हैं और 'अष्टक शतक' तथा 'विंशशतक' दो ग्रन्थों की रचना उन्होंने 'शतक' नाम से ही की, किन्तु अपनी शृंगार सम्प्रदायी कविताओं में उन्होंने उल्लेख और अतिशयोक्ति का जो समतुल्यर दिलाया उसका प्रमाण हिन्दी के परवर्ती मुक्तककार बिहारी आदि पर अवश्य पड़ा। 'विंशशतक', फारसी और अरबी के अच्छे पण्डित और हिन्दी के सहृदय कवि थे। जान पड़ता है वे केवल शृंगारिक कविता ही करते थे। उन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। कहा जाता है कि दस अंगों को लेकर उन्होंने एक-एक अंग पर ली-ली दोरे बनाने थे।^१

विर मकर की ऐहिकतापरक शृंगारी कविताओं की रचना सहृदय मुक्तकमान कवियों ने आरम्भ की, तथा-कृष्ण की आइ लेकर हिन्दी शृंगारी कवियों ने उसका राज अनुसरण किया। वर्णन उत्कर्ष को लेकर पूरा तक आने की जो लड़ाई इन कवियों द्वारा हिन्दी कविता में आई,^२ उसका सबसे कम प्रमाण कविवर मतिराम पर है, जिसके कारण ही रीति-बद्ध रचना करने पर भी वे सहृदय कवि पड़े हैं और रीतिकार बाद में। उनकी कविता में उत्कृष्ट के नहीं, बरिष्ठ हृदय की स्वाभाविक सरस अनुभूतियों के दर्शन होते हैं, जिसका एक मात्र कारण है, उनका पूर्ववर्ती कवियों से आत्यधिक प्रभावित न होना। वहाँ कहीं भी इन्हें हिन्दी कविता में सरसता एवं सहृदयता की स्वाभाविक भूमि मिली है, वहाँ ही वे महाकवि तुषारकर कल्पना कोक से उतर पड़े हैं, यही कारण है कि मावसाम्म की दृष्टि से यदि इनकी कवितायें किसी के अत्यधिक निष्ठ जाती हैं, तो कविवर रहीम के।

रहीम और मतिराम

महाकवि मतिराम का रचनाकाल रहीम की रचनाकाल के बाद का है। इन्होंने उस समय कविता करनी आरम्भ की जब 'रहीम' की कीर्ति पैक चुकी थी और तुलसीदास ऐसे महान कवि उनकी कविता का आपस करने लगे थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि मतिराम सम्भव है बहामौर के दरबार में रहीम से मिले हों। रहीम की कविता का दिवना प्रमाण मतिराम पर पड़ा है, उसका अन्य किसी हिन्दी कवि पर नहीं पड़ा प्रतीत होता।^३ किन्तु रहीम के दोहों का उसका प्रमाण 'मतिराम' ललित पर नहीं है जिसका कि उनके बरबे आदि की 'रसराज' आदि मतिराम की अन्य रचनाओं पर रहीम के बरबे नायिका-भेद का रूप एवं वर्णन बैठा ही है बैठा कि 'रसराज' में पाया जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से दोनों का अध्ययन करने से जान पड़ता है कि मतिराम ने अपनी रचना करने के पूर्व 'रहीम' का बरबे नायिका-भेद देखा अवश्य था, क्योंकि रसराज में जो

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', ४० रामचन्द्र शुक्ल डॉ० १००३ दि०, पृ० २२१।

२. 'चिबुक फूल में मन पर्वो छवि एक लुप्त विचारि।

कहति तुषारक लहि शिव अटक बारि-सी बारि ॥

चिबुक फूल रसरी अटक, तिक शुभरस, हा पैक।

बारी, बैस, सिंगार को, लीचल, मन भय पैक ॥

(तुषारक की)

३. रहीम रसराजी, मायाव नर बाहिब, प्र० सं०, पृ० ५१।

उदाहरण नायिका-भेद के दिये गये हैं, उनमें से बहुतों के माथ रहीम के बरने नायिका-भेद से छिये गये हैं। अनेक स्थलों पर तो दोनों कवियों की कविताओं में शब्द साम्य तक भी पाया जाता है।

रहीम ने 'प्रथम अनुसयना' की अवस्था का चित्रण किया है, जिसका माबातुवाद मतिराम का चित्रण बान पड़ता है—

। प्रीयम दहठ दवरिया, कुंभ कुटीर ।
 विमि विमि लकठ लकनहि, बादल पीर ॥' (रहीम)
 प्रीयम कतु में देखि के, बन में छगी दवारि ।
 एक अपूरब बात यह, करठ हिये बनारि ॥' (मतिराम)

इसमें सन्देह नहीं कि मतिराम के वर्णन में कलात्मकता अधिक है, किन्तु 'प्रीयम दहठ दवरिया' और 'प्रीयम कतु में छगी दवारि' में शब्द और माथ साम्य दोनों उपस्थित हैं। रहीम की नायिका शीघ्रराह से कुंभकुटीर को दहठा देखकर पीर की अधिकता का अनुभव करने लगती है जिसमें समस्कार विरोध नहीं दिसलाई पड़ता, किन्तु मतिराम की नायिका में अनोखी बात यह है कि देखती है वह बन में छगी दावामि फरे, परन्तु बसन्त का अनुभव अपने हृदय में करती है। इस असंगतिपूर्ण स्थिति को दिसाकर कवि ने नायिका की जिस अवस्था का चित्रण, साहित्यिक कलात्मकता के माध्यम से किया है, उसकी रहीम की उक्ति से कोई तुलना ही नहीं है, फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि रहीम कवि की सरल स्वाभाविक एवं आधुनी अनुभूतियों की कदर 'मतिराम' ऐसे सहृदय कवि की भी करनी पड़ी है। इसी प्रकार की साम्यता के दर्शन हमें इन दोनों कवियों के द्वितीय अनुसयना, तृतीय अनुसयना, अन्य सम्मोषातुलितता, प्रेमगर्बिता, मुग्धा पंडिता, पराधीया लखिता, मुग्धा कलहांतरिता, मुग्धा विमलमुग्धा, मुग्धा उत्कंठा, अनुकूल नायक, मुग्धा अमिताकारिका, पराधीया प्रवात्यतिपठिका, पराधीया आगतपठिका तथा परिहात आदि के उदाहरणों में दिलाऊँ पड़ता है।

वैता मैने ऊपर संकेत किया है कि रहीम के अधिकांश छोटे अन्वोक्ति, कृति एवं उपदेश प्रधान हैं, जिससे वे मतिराम सतसई को नहीं प्रभावित कर सका है किन्तु बग्यों का प्रभाव उनकी सतसई पर स्पष्ट रूप से विद्यमान है। औत्तमिषीनी का रोख् दानो कवियों को पकन्द आया है—

"रोखत बानेहि रोम्बिया, नन्दकिशोर ।
 गुर हृषमान कुमरिया, मैगा खोर ॥" (रहीम)
 "गुरत परसर देर के, राधा नन्दकिशोर ।
 खमने येई होत हैं, खोयमिहपनी खोर ॥" (मतिराम)

रहीम की राधा का औत्तमिषीनी में 'हृष्य' एकर मय खर इन्हिये बन बाते हैं कि उन्हें एकान्त मित्र का आनन्द मिल सके। औत्तमिषीनी राधा में जो खार हाता है वह अन्य राधाद्वियों में से जिस किसी को सबसे पहले छू रहा है वही खेर बन जाता है और दूसरी को खोर बनाम का प्रदण करता है। खर व. दू. बान के अर्थ से सभी राधादी बच

छिपने के लिए बाढ़ से छेते हैं तो एक प्रकार की आबाध के साथ घोर के धौल में बँबी पड़ी शोक देने की व्यवस्था है जिस कार्य को वह स्वयं करता है और वह छिपे हुए लिस-दियों को हँदता है। इस खेल में प्रेमी-प्रेमिकाओं को खेलों की बाँध बनाकर मिलने की पूर्ण सुविधा रहती है जिससे अमान्यित होने के लिये राधा को झूकर हम्म ने घोर बनना स्वीकार किया। राधे का प्रयत्न एक और से ही है, किन्तु मतिराम का रीनों भार से। नामक-नायिका के झुझों में बहुजन समान रूप से है। खेल का केवल उपक्रम ही है, क्योंकि राधा-हम्म ही एक दूसरे को परस्पर झूकर घोर बनते हैं और एकान्त मिथन कर रह सृष्टे हैं।

रीनों की नायिकायें पराये पुष्प के गेम का आनन्द उठाने की सुविधा प्राप्त करने में समान रूप से कुशल हैं—

“बाहर छे कै दिया बाज बाव।

साव ननद पर पहुँचत, देव तुसाव ॥” (राधे)

बार-बार का गेहूँ की बारि-बारि के आति।

कपड़े ते किन बाव ही, बाठी आसु तुसावि ॥” (मतिराम)

राधे के ही माव मतिराम की कब्र की बिलार वाकर समक उठे हैं। जिस बात को राधे ने सीधे-सादे ढंग से कहा ही है, उसी को मतिराम ने आसन्न अनुप्रासिक ढंग से कहा है। इसका अतिरिक्त मतिराम की नायिका राधे की नायिका से कहीं अधिक चतुर है और बाचाक यी। राधे की नायिका अपने प्रेमी के घर से कथकर छे बाठी हुई अपने घर तक पहुँचते ही दिया बुझा देती है, जिससे कि उसे चलाने के लिये बार-बार उसके घर जाने का अवसर मिले, किन्तु उसे इसका खान नहीं है कि उसकी चतुराई का भेद साव-ननद पर लुप्त रहता है। मतिराम की नायिका इस सम्भावना से पूर्ण अवगत है, उसे इसका खान है कि हवा के अभाव में ही जो उसका दिया बार-बार बुझ रहा है इसका भेद परवाहों पर लुप्त बगैर नहीं रह सकता, जिससे वह बाचाक होकर सम्भावना को स्वयं प्रकट कर देती है कि न जाने क्यों हवा क न रहने पर भी मेरा दिया बार-बार बुझ आ रहा है जिससे मुझे बार-बार रोड़ना पड़ रहा है। किसी बात को छिपाने का उद्यम ढंग दूसरों क कहने क पूर्व स्वयं उसका कह देना होता है, मतिराम का यह मार्मिक ढंग राधे में हँदना 'व्यर्थ' है, किन्तु जहाँ तक उनके धीरे माधो तथा अप्रती बहियों का सम्बन्ध है, मतिराम को उसका जारी होना ही पड़ेगा। इस प्रकार क एक नहीं बनेक दाँदे मतिराम सतह से उद्भूत किये जा सकते हैं, जिन पर राधे की रचनाओं का प्रभाव है।

उपरोक्त मावधायक का आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि राधे की कविताओं का मतिराम ने अनुकूल किया है अथवा उनके ही प्रेरणाजन एवं आभय में रहते-कविता आरम्भ की पैदा कुछ विधानों का मत है।^१ मतिराम का रचनावाच राधे का

१ जहाँगीर की जामा से व्यपरे ॥ 'दुर्गमजरी की रचना करनेवाला मतिराम कुछ समय के लिये राधे के समकालीन अवस्था में और सब दोषों का जहाँगीर के द्वारा का

जीवनकाय हो सकता है, किन्तु उनका वैभवकाय नहीं। सम्राट अफ़्जर की मृत्यु के बाद रहीम का सम्मान धीरे-धीरे मुग़ल दरबार में कम होने लगा था। यहाँगीर और रहीम आनखाना में कम पट्टी थी जिससे अवस्था यहाँ तक पहुँची कि उन्होंने एक युद्ध में दुश्मनों का साथ दिया और उसक ज़िये उन्हें सम्राट यहाँगीर का कोप मानन बनना पड़ा। उनकी सारी बागीर छिन गई और कवियों का काखो रूप धान देनेवाले दानी रहीम 'मयूकरी' के मरते हो गये थे।^१ यह घटना उस समय की है जब कि यहाँगीर को सिंहासन पर बैठे सय्यद बर्ष पूरे हो चुके थे और वह अठारहवीं शताब्दी बर्ष मनाने का रहा था।^२ इसका संकेत पूर्व में ही किया जा चुका है कि महाकवि मतिराम ने अपना काव्य जीवन सम्राट यहाँगीर के सोलहवें शताब्दी बर्ष में या उसक बाद ही आसपास के किसी ठाँव में 'मूल्मन्दरी' से आरम्भ किया था। ऐसी स्थिति में उनकी रहीम से पैदा सोलहवें शताब्दी बर्ष के आसपास आगरे का किसी हो सकती है, किन्तु मतिराम का अन्य किसी प्रकार का उनका आश्रय ग्रहण करना संभव नहीं मान पड़ता, क्योंकि इसक दो एक बर्ष के बाद ही रहीम दर-दर की जाफ़ छानने लगे और उनकी स्थिति पूर्व की सी नहीं रह सकी। रहीम की कविताओं में मार्मिकता है तथा उसक धँतार से एक सच्चा हृदय साँझा हुआ दिखाई पड़ता है। 'जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होती पड़ी बनता का प्यारा कवि होगा। रहीम का हृदय, इमीमूत होने का छिप करना की उद्दान की अपेक्षा नहीं रखता था। वह संसार का सच्चे और प्राप्य व्यवहारों में ही अपने इमीमूत होने का ज़िये पर्याप्त रूप का जाता है। उनकी कविताओं उनकी बरबस अनुभूतियाँ हैं। कविदर मतिराम भी हृदय का सच्चे भावों का मस्त मायक है। इनकी रचनाओं में 'न पड़ी भी कोई ठूस-ठाँस है, न वूर की कीड़ी बाने का कोई प्रयास है।'^३ इन दोनों कवियों की कविताओं में भाव साम्य का धारण उनकी लगान ग्रहणियों का होता है। रहीम का कवि

संबंध भी था, जो परस्पर परिचय अवश्य हुआ होगा। केसन, गंग, मंडन आदि प्रसिद्ध अग्रणी कवियों की तरह मतिराम को भी काव्य प्रेमी रहीम के यहाँ आश्रय निष्ठा हो तो क्या संदेह हो सकता है? यह अनुमान करना असंभव नहीं हो सकता कि रहीम ने ही मतिराम को आश्रयका के ज़िये अवश्य ही प्रेरणाहित किया होगा।

(रहीम रत्नावली, मायाधर पाणिप, प्र० सं०, १०-१८)

१. 'दे रहीम दर दर छिँ, गंग मयूकरी नाहि।

पातो घाटी छोड़ि, वे रहीम अब नाहि ॥ (रहीम)

२. "यह समाचार पाकर उमरु साहस का लौम द्रिक् गया और बैरमयेग रुड़ नहीं रह सका और न हुई मग़ाने का साहस कर सका। जब तक इस पचराहट में पड़ा रहा तब तक बहुत से लोग बड़ी पार कर गये और उसी रात्रि में अमागे बिजोहीगन एक दूसरे से अलग होकर भाग गये हुए। शाही सौभाग्य की खानखाना बिच्छर में पड़ गया।

देखा मैं क्या जाया।" — उहाँतीरनामा, अनु० अबरारदास, प्र० सं०,

पृ० ७९१, ८००

३. हिन्दो खदिस, हमारीछाह दिवेदी, प्र० सं०, १०-१३५।

मतिराम के कवि के जो निष्ठा भा गया है उसका एकमात्र कारण दोनों की साधना थी एवं चिन्तन पद्धति का एक होना है।

मतिराम और विहारी

कथ्य की दृष्टि से मतिराम सतसई में संघीस होहो की स्पष्ट दो कोटियाँ हैं। एक कोटि में मतिराम के वे दोहे रखे जा सकते हैं जो काव्यकथ्य की दृष्टि से पूर्णतः सारे उत्तरते हैं और दूसरी कोटि में उनके वे दोहे आते हैं जिनमें मार्मिकता एवं हृदय की सच्ची और सामाजिक अनुभूतियाँ तो स्पष्ट हुई हैं, किन्तु काव्यकथ्यता उतनी नहीं है, जिनकी प्रथम कोटि के दाहो में पायी जाती है। प्रथम कोटि के अधिकांश दोहे जिनकी संख्या दो सौ से भी अधिक है मतिराम की अन्य प्रौढ़ रचनाओं 'रसरज' और 'कवित्तकमल' में संघीस हैं। 'रसरज' की रचना संवत् १९९० के पूर्व हो चुकी थी और व्यवसाय दो सौ सतसई में पाये जाने वाले दोहे अकेले रसरज में ही पाये जाते हैं, ऐसी स्थिति में इनकी रचना कविवर विहारी के रचनाकाल के पूर्व हो चुकी थी। कवि की आरम्भिक रचनाओं में मत्सुब्बा, उर्मय, सरसता एवं प्रसाह आदि जीवन की उर्मय के कारण बाद की रचनाओं से अधिक मछे हो, किन्तु काव्यकथ्य कथ्य की पटुता बाद की रचनाओं में पूर्व की अपेक्षा अधिक भा पायी है, क्योंकि यह सुस्पष्ट हृदय की नहीं बल्कि अम्यास की वस्तु है। वहाँ पहुँच कर जीवन की बाद का मायकल कुछ-कुछ स्थिर होने लगा जाता है, जिससे काव्यकथ्य-सद के निर्माण में कवि को सुविधा रहती है।

मतिराम के प्रथम कोटि में आनेवाले दोहों की यदि पहले की और दूसरी कोटि में आनेवाली रचनाओं की बाद की रचना मान लें तो चिली भी प्रकर संगति नहीं बैठती। दूसरी कोटि में आनेवाली रचनाओं की किसी प्रकर से प्रथम कोटि की रचनाओं के साथ तुलना नहीं की जा सकती। वे काव्यकथ्य तथा माय प्रत्यक्ष दृष्टि से प्रथम कोटि की रचनाओं से बर बर हैं, इसमें सन्देह नहीं। मतिराम सतसई का यह दाहो—

‘मान विषाद पग पन्थो तु न करति यहि ओर।

ऐसा उखलु बटार, ती उधिते उखलु बटोर ॥’

‘रसरज’ में विषाद-दाह और ‘कवित्तकमल’ में द्वितीय तम के उदाररूप रूप में उल्लिखित हैं—

‘नवल वधू के संय में अहितो बात रिताति।

या वीरनि के संगे छाती अति लिपयति ॥’

यह दोहा बेखुश मतिराम सतसई में ही पाया जाता है, जिनका तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर उपरोक्त कथन की पुष्टि हो सकती है। प्रथम दाहे में नायक यानि नारीका को प्रयत्न करने के लिये करने रागिमान की कुछ भी प्रसाह किने बिना ही बलक पैते पर पदकर मना रहा है, किन्तु कवि में नायिका का हृत्तन पर भी रमी रहना दिखाकर अर्थात् अगिमान की नायिका द्वारा मायक का अगमान कथन के विषाद-दाह की अनुपम छवि की है। इसके अतिरिक्त दोह के दूसरे पद में नायिका के हृदय की कर्मका

मफट करके कि प्रिय के पैरो पर पड़ने पर भी उसका हृदय नहीं पसीब रहा है, कवि ने नायिका के कठोर कुनो का भीषित बिलवाकर द्वितीय समाबंधर का दाहे में तफ़स प्रयोग किया है। इससे कवि की मार्मिक सज़ा, सुन्दर रस बिधान तथा सफ़ल अलंकार प्रयोग की क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु दूसरे दाहो में ऐसी प्रसङ्गता का परिचय नहीं मिलता। इसमें सीधे-सादे ढंग से नवादा नायिका की उष्ण-मादक स्त्रियों के मुखकर प्रभावों की व्यञ्जना अत्यन्त छिछोरे ढंग से की है जिससे कवि की स्वस्थ रसि का कोई परिचय नहीं मिल पाता। इसी प्रकार से और भी ऐसे दाहो को प्रस्तुत किया जा सकता है जिनमें इनसे भी अधिक अन्तर मिलता है। ऐसी स्थिति में कहना अत्यन्त फटिन हो पाता है कि सतसई के अन्ध बोहे का उनकी अन्य किसी रचना में नहीं पाये जाते, उस समय की रचनायें हैं जब कि उनका 'रसराज और अलितललाम' ऐसे प्रीति मन्थों की रचना हो चुकी थी। निरिक्त ही अविच्छाद्य वे दाहे को माघ, माघा एवं कथ्य की दृष्टि से रसराज और अलितललाम में आये हुए दाहो से बन कर हैं प्रथम काव्य की रचनाओं के पूर्व की रचनायें हैं।

मतिराम के दोहो को सतसई का रूप बाहे जब कभी लिया गया हो किन्तु उसके अविच्छाद्य दाहो की रचना संवत् १९६० के पूर्व हो चुकी थी जिसके बाद बिहारी सतसई के दाहो की रचना आरम्भ हुई।

जिस सुसम्माननीय संस्कृति और काव्य में वाग्वैश्वस्य का संकेत हम ऊपर कर आये हैं, उसका सबसे अधिक प्रभाव बिहारी सतसई के दाहो पर है। उचितवैश्वस्य के कारण बिहारी सतसई के जिन दोहो की पूरा सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में मची उनकी संख्या हो सौ से कम की ही है, अधिक नहीं। 'बहुत मतिराम बिहारी के समान उचितवैश्वस्य के बतने अच्छे कवि नहीं हैं, परन्तु जहाँ तक सरस और सहज भाव से हृदय मुग्ध को व्यक्त करम का प्रदान है मतिराम बहुत ही अमर्यपत्नी कवि हैं। इनकी रक्तियों में परम्परा का वेगा योश्व नहीं है और इसीलिये उनमें 'शोभा' के भार से 'सूखो पाँव' घर न सकने की आशंका बहुत अधिक नहीं है। रीतिवाक के बहुत थोड़े कवियों के साथ मतिराम का नाम लिया जा सकता है। माया का ऐसा सहज प्रसन्न प्रवाह दुर्लभ है।^१ इसमें हो मत हो नहीं सकते कि कुछ काव्य के क्षेत्र में इतना कम प्रसार भी जितना यह और कीर्ति बिहारी को मिली उसकी सम्पन्नता के किसी अन्य हिन्दी कवि को नहीं, जिसके कोई कारण है।

बिहारी सतसई का एक सम्भाव्य में लिया जाना तथा उसके साथ एक ऐतिहासिक बटना का जुट जाना उसके मान-सम्मान के मुख्य कारणों में प्रधान कारण है। 'शृंगार रस के मन्थों में जितनी क्याति और जितना मान बिहारी सतसई का हुआ उनका और किसी का नहीं। इसका एक एक दाहा हिन्दी साहित्य में एक-एक रस माना जाता है। इसकी पचासों टीकायें रची गईं। इन टीकाओं में चार-पाँच टीकायें तो बहुत प्रसिद्ध हैं।^२ उचितवैश्वस्य के अद्भुत समरधार के कारण बिहारी के दाहो में सहज पाठक

१ हिन्दी साहित्य, इजारी प्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० ३३५।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३ वि०, पृ० २४६।

मतिराम के कवि के जो निष्ठा था गया है उसका एकमात्र कारण दोनों की साधना भूमि एवं किन्तुन पद्धति का एक होना है।

मतिराम और बिहारी

कम्म की दृष्टि से मतिराम सतसई में संगृहीत दोहों की स्पष्ट दो कोटियाँ हैं। एक कोटि में मतिराम क से दोहे रखे जा सकते हैं जो कम्मकम्म की दृष्टि से पूर्णता पर उपरते हैं और दूसरी कोटि में उनके वे दोहे आते हैं जिनमें मामिकता एवं हृदय की सच्ची और स्वामाधिक अनुभूतियाँ तो व्यक्त हुई हैं, किन्तु कम्मकम्म उठनी नहीं है, जिनकी प्रथम कोटि के दोहों में पायी जाती है। प्रथम कोटि के अधिकांश दोहे जिनकी संख्या दो सौ से भी अधिक है मतिराम की अन्य प्रौढ़ रचनाओं 'रसराज' और 'अक्षितकम्म' में संगृहीत हैं। 'रसराज' की रचना संवत् १६९० के पूर्व हो चुकी थी और कम्मव दो सौ सतरह में पाये जाने वाले दोहे अकेले रसराज में ही पाये जाते हैं, ऐसी स्थिति में इनकी रचना कविर बिहारी के रचनाकाल के पूर्व हो चुकी थी। कवि की आरम्भिक रचनाओं में मत्सुक्ता, धर्मग, सरसता एवं प्रवाह आदि जीवन की उर्मय के चरम बाद की रचनाओं से अधिक मते हो, किन्तु कम्मकम्म सम्बन्धी पट्टा बाद की रचनाओं में पूर्व की अपेक्षा अधिक आ पायी है, क्योंकि यह मुख्यता हृदय की नहीं बल्कि अम्मात की बलु है। यहाँ पहुँच कर जीवन की बाद का मायक कुछ-कुछ रियर होने लग जाता है, जिससे कम्मकम्म-तर के निर्माण में कवि को सुविधा रहती है।

मतिराम के प्रथम कोटि में आनेवाले दोहों को यदि पहले की और दूसरी कोटि में आनेवाली रचनाओं को बाद की रचना मान लें तो किसी भी प्रकार संगति नहीं बैठती। दूसरी कोटि में आनेवाली रचनाओं की किसी प्रकार से प्रथम कोटि की रचनाओं के साथ तुलना नहीं की जा सकती। वे कम्मकम्म तथा माय प्रत्येक दृष्टि से प्रथम कोटि की रचनाओं से बर बर हैं, इसमें सन्देह नहीं। मतिराम सतसई का यह दोहा—

‘मान पिशाचे पय पन्यो न न छपति बहि ओर।

ऐसा उखु चटोर, सी छविठै उखु चटोर॥’

‘रसराज’ में शिष्या-हाव और ‘अक्षितकम्म’ में द्वितीय सम क उदाहरण रूप में उल्लिखित है—

“नवल बभू के संग में आहिरी पात दिसाति।

या साँवनि के संगे छाती भवि सिपराति॥”

यह दोहा केवल मतिराम सतसई में ही पाया जाता है, जिनका तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर उपरोक्त कथन की पुष्टि हो सकती है। प्रथम दाहे में मायक माननी नायिका को मत्सु करके क छिये अपने स्वामिमान की कुछ सी परवाह किये बिना ही उलके पैरों पर पदचर मना रहा है, किन्तु कवि न नायिका का हस्तने पर की स्वी रहना दिखाकर अपूर्व अमिमानी नायिका द्वारा नायक का अम्मान कमा के शिष्या-हाव की अनुपम छवि की है। इसका अवशिष्ट दोहे के दूसरे पद में नायिका के हृदय की चटारता

प्रफट करके कि प्रिय के पैरों पर पड़ने पर भी उसका हृदय नहीं पसीब रहा है, कवि ने नायिका के फटोर कुन्नों का भीषित्य बिलकाकर द्वितीय समासकार का दाहे में सफ़ल प्रयोग किया है। इससे कवि की मार्मिक सृष्टि, सुन्दर रस विधान तथा सफ़ल असेकार प्रयोग की क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु दूसरे दोहों में ऐसी प्रादुता का परिचय नहीं मिलता। उसमें खींचे-छाँदे ढंग से नवादा नायिका की उष्य-भादक स्वासों के मुखकर प्रभावों की व्यञ्जना अत्यन्त छिछले ढंग से की है जिससे कवि की स्वस शक्ति का कोई परिचय नहीं मिल पाता। इसी प्रकार से और भी ऐसे दाहों को प्रयुक्त किया जा सकता है जिनमें इनसे भी अधिक अन्तर मिलता है। ऐसी स्थिति में कहना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि सतसई के अन्य दोहे जो उनकी अन्य किसी रचना में नहीं पाये जाते, उस समय की रचनाएँ हैं जब कि उनका 'रसगुण और सौख्यसम्पन्न' ऐसे प्रादु प्रयोगों की रचना हो चुकी थी। निरिपत ही अधिकारों से दाहे को माघ, माघा एवं कथा की दृष्टि से रसगुण और सौख्य सम्पन्न में आये हुए दोहों से बन कर हैं प्रथम कोटि की रचनाओं के पूर्व की रचनाएँ हैं।

मतिराम के दोहों का सतसई का रूप दाहे जब कभी लिया गया हो किन्तु उसके अधिकारों दाहों की रचना संवत् १९६० व पूर्व हो चुकी थी जिसके बाद बिहारी सतसई के दाहों की रचना आरम्भ हुई।

दिल मुसलमानी संस्कृति और काव्य में बावैदम्य का संकेत हम ऊपर कर आये हैं, उसका सबसे अधिक प्रमाण बिहारी सतसई के दोहों पर है। उत्तिवैचित्र्य के कारण बिहारी सतसई के जिन दाहों को पूम सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में मयी उनकी संख्या दो हो से कम की ही है, अधिक नहीं। 'बसन्त मतिराम बिहारी के समान उत्तिवैचित्र्य के बतने अच्छे कवि नहीं हैं, परन्तु जहाँ तक सरल और सहज भाव से हृदया नुराग को व्यक्त करने का प्रश्न है मतिराम बहुत ही असंशय की कवि हैं। इनकी रचितियों में परम्परा का वेगा बोल नहीं है और इसीलिये उनमें 'झोमा' के भार से 'सूयो पाँव' घर न सकने की आशंका बहुत अधिक नहीं है। रीतिकाल के बहुत बड़े कवियों के साथ मतिराम का नाम लिया जा सकता है। माया का ऐसा सहज प्रसन्न प्रभाव मुख्य है।' ११ इसमें दो मत हो नहीं सकते कि मुक्त काव्य के क्षेत्र में इतना कम छिछकर भी इतना मय और चर्चित बिहारी का किसी ठठनी मय्यन्त्रक के किसी अन्य हिन्दी कवि को नहीं, जिसके कई कारण हैं।

बिहारी सतसई का एक रागाभय में लिखा जाना तथा उसके साथ एक ऐतिहासिक पद्या का हो जाना उसके मान-सम्मान के मुख्य कारणों में प्रधान कारण है। 'गूँगाद रस के प्रयोगों में जितनी क्षयाति और जितना मान बिहारी सतसई का हुआ रचना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक-एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गईं। हम टीकाओं में आद-पाँच टीकाएँ तो बहुत प्राप्त हैं।' १२ उत्तिवैचित्र्य के अद्भुत कमलकार के कारण बिहारी के दाहों में सरा पाठक

१ हिन्दी साहित्य, हजारों प्रकाश हिबरी, प्र० सं०, पृ० ३१५।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३ वि०, पृ० ३४६।

या श्रोता को प्रभावित कर देने की जो शक्ति वर्तमान है, उससे ही वे असंख्य साहित्य र्मसों के कंठहार बन पाये हैं। इन्हीं कवियों विशेषताओं के कारण बिहारी सबसे अधिक प्रसिद्ध हो सके हैं।

बिहारी सतसई के दोहे बुद्धि को चितना प्रभावित करते हैं, उसका हृदय को नहीं और हृदय को प्रभावित करने की चितनी शक्ति मतिराम सतसई के दोहों में है उसनी मध्य-कासीन हिन्दी कवियों की कविता में नहीं, फिर भी सुमाम्य या कि इसे उसनी र्मसाति नहीं मिल सकी चितनी कि बिहारी सतसई को मिली। इस सुमाम्य का एक नहीं अनेक कारण है। सर्व प्रमुख कारण तो यह है कि मतिराम सतसई का उद्यमोद्यम दोहे रखान की अनुपम प्रणाली में ला गये जो कि सतसई के हृदय करे जा सकते हैं। रचयिता के छन्दों की मार्मिक अभिव्यक्ति तथा काव्य गाम्भीर्य की दृष्टि में सतसई के दोहे अत्यन्त इष्टक पड़ गये जिससे उनके सामने इन दोहों को भूल जाना साहित्य र्मसों का स्थिर स्वाभाविक ही था। जब कभी भी मतिराम का काव्य की बाद साहित्यको द्वारा दी गई तो इन दोहों को 'रचयिता' तथा 'कवित्वरम्भ' का अम मानकर उपेक्षा की गई। इस साहित्यिक उपेक्षा को सतसई के दोहों का अपमान नहीं बल्कि 'रचयिता' तथा 'कवित्वरम्भ' आदि रचनाओं का उन्मान ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उचितैषिष्य का अभाव एवं उच्छ्रम कूर से विरत गाम्भीर्य होने के कारण उन्हें आपू की यह सही नहीं मिल सकी या बिहारी के दोहों को मिली थी। चितनी र्मसों आदि हुई वे 'कवित्वरम्भ' आदि की ही, जिनमें दोहों की टीका उनके साथ ही हो सपी और इस प्रकार बिहारी सतसई की ही टीका बहुस्य हान का भी सामान्य मतिराम सतसई को न मिल सका। जिस सुलक्ष्मानी संस्कृति का संगम हिन्दू संस्कृति से हुआ था और जो हिन्दी कविता में मनीषी जीवन पूँक रही थी उसका सबसे कम प्रभाव मतिराम की कविताओं पर पड़ा है। जिससे वे हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का लाफटीवन के साथ संगम कर रहे थे। वे बिहारी का 'मयूर नैन' का चिह्न की अपेक्षा गंगारि के हगधनुरी के तीर अधिक पसंद करते थे।^१ कल्पासीन हिन्दी कविताओं का प्रचार दरबारों के ही माध्यम से हो रहा था जिससे मतिराम सतसई के दोहे अपने बृह-सूत्र का अभाव में उस बुद्धि से वंचित रहे। इस प्रत्यक्ष काद में प्रकाश पान का कारण तो एक प्रकार की बात यह पड़ी कि उसकी रचना 'बिहारी सतसई' के अनुकरण से हुई है, उसने इसकी र्मसाति को सबसे अधिक प्राप्त की है। इन्हीं कारणों से बहुत से आम मतिराम सतसई में बिहारी के दोहों की छाव दूँदते हैं।

मतिराम की कृतियों से बिहारी का प्रभावित होना सम्भव है, किन्तु मतिराम का बिहारी से प्रभावित होना सम्भव नहीं। जिन लोगों ने यह स्वीकार किया है कि बिहारी के अनुकरण पर मतिराम सतसई की रचना हुई, उन्होंने अपने मन यह भी स्वीकार किया है कि

१ "तेजस सिम्पद अर्द्ध भर्ते अतुर अदीरी मार।

काव्यधारी नैन-मृग नागर-नानि तिकार ॥" (बिहारी)

नागरि नैन-कमान-सर करत न ऐसी नीर।

ऐस करत गंगारि के हगधनुरी के तीर ॥" (मतिराम)

रीति मुक्त होते हुए भी बिहारी के दोहों में से नायिका-भेद के उद्यमोद्यम उगहराए जा सकते हैं। हिन्दी नायिकाभेद परम्परा में जिस कवि का अनुकरण अधिक हुआ वे हैं मतिराम, जिनका एक मात्र नायिका भेद ग्रन्थ 'रसराज' बिहारी सतसई की रचना होने के पूर्व लिखा ही नहीं जा चुका था, पूर्ण प्रसिद्धि भी पा चुका था। ऐसी स्थिति में अधिक सम्मानना है कि बिहारी का जिन दोहों पर नायिकाभेद की छाप है वे 'रसराज' से प्रभावित हों। परन्तु वहाँ तक सतसईयों का सम्बन्ध है, बात तो वस्तुतः यह है कि दोनों के प्रेरणाभोत एक रहे, दोनों में से किसी एक ने भी दूसरे का प्रभाव ग्रहण नहीं किया है। दोनों ही महान् मराठी कवि ये और दोनों का ही राजनरसारी में सम्मान था, ऐसी स्थिति में स्वामात्रिक है कि एक दूसरे का प्रभाव से बचने का प्रयत्न करता। इस प्रश्न की कविताओं का सम्मान भोक की बनता में नहीं, बल्कि नगरी और राजनरसारी में ही था और प्रचार की न तो अधिक सुविधाये थी और न तो मुद्रण की व्यवस्था ही थी तथा इन दोनों कवियों के रचना काल में जितना अन्तर है उसके बीच दोनों सतसईकार एक दूसरे के दोहों में परिचित हो सके होंगे, हमें उम्मेद है।

मावसाम्य को दिसाने के लिये तथा बिहारी का प्रभाव दिसाने के लिये जैसे-जैसे उपरिष्ठ किये गये हैं उनसे तो मतिराम को अपेक्षा बिहारी ही अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। स्वरूप निर्माण के पश्चात् शृंगार होता है न कि शृंगार के पश्चात् स्वरूप निर्माण। मतिराम के दोहे काव्य के वे स्वरूप तथा साधना की वह आधार भूमि हैं जिनका कविवर बिहारी ने शृङ्गार किया तथा उन पर उचितैचित्त का समस्कार दिसाया है। जैसे—

“हस्त दस गुनो अंक है, दिये एक ज्यो बिन्दु।

दिये दिगीना पी बड़ी आनन आमा हनु ॥” (मतिराम सतसई)

“कहत छबै बैरी दिये ओंक दसगुना हस्त।

तिय छिहार बैरी दिये अगनित बहत उरख ॥”

निश्चित ही बिहारी का दोहा मतिराम का दोहा से अधिक प्रौढ़ है। यदि बिहारी का दोहा मतिराम का सामने रखा तो वे कदापि गिथिष्ठ अतिशयोक्ति न करते जब कि दोनों दोहों का मुख्य दृश्य सामाधिक्य का वर्णन करना है। 'अगनित,' इस गुणों से भरपूर ही अधिक है, इसका अनुभव बिहारी कर सके हैं और जब उन्हें सीमा स्वीकार न हुई तो उन्होंने उसे बढ़ाकर अन्तीम कर दिया। इसी प्रकार अनेक दोहों को सामन रख कर देखा सकते हैं।

जिन बिहारी का यह कहना है कि बिहारीयों के दोहे हिन्दी साहित्य में अग्राणी बोल नहीं सकते, यह यही तक सत्य है वहाँ तक उचित वैधिय और वाग्वैय्य का सम्बन्ध है, पर वहाँ तक मर्मरपणित, स्वामाधिक्य तथा सरलता का प्रश्न है मतिराम का दोहा भी किसी से कोई तुलना ही नहीं है। सरलता एवं मिठाई के लिये मतिराम हिन्दी साहित्य में बेरोद है। काव्य की भाषा में यदि हम बड़े हो कह सकते हैं कि मतिराम का काव्य का बिहारी राजमहल है तो बिहारी का काव्य राजा-राजा राजमहल, मतिराम का काव्य महल हुआ से मुक्त बिहारी मनोरम बनन है तो बिहारी का काव्य काव्यी पीपी से राजा

सुन्दर उपवन भीर मतिराम की कविता यदि सुपमा युक्त कमल है तो बिहारी की कविता कसमो गुलाम जिसमें कल्यकार की बुद्धि लगी है। मतिराम की दृष्टि बिहारी की अपेक्षा सजीवता पर अ बल रही और बिहारी की कल्याणकृता पर। मतिराम के काव्य का छंद 'ज्यो-ज्यो निहारने वाला' है तो बिहारी का 'अकाशीष कर देने वाला' जिससे हृदय-कुसुम मन का बिहारी मतिराम की अपेक्षा दीप्त समस्तकृत करते ज्ञान पड़ते हैं।

मतिराम सतसई की व्यापकता

हिन्दी सतसईयों में जितने प्रकार के विषयों को बर्णन के लिये अपनाया गया है, उन सभी विषयों पर कहे गये अनेक दोहे मतिराम सतसई में संगृहीत हैं। विषय की व्यापकता की दृष्टि से सम्पूर्ण हिन्दी सतसईयों में जितने विषय प्रसिद्ध मिलेंगे उतने अनेक ही मतिराम सतसई में प्राप्त कर सकते हैं। ऐतिमुक्त, ऐतिवृद्ध एवं ऐतिवृद्ध आदि गुणों की प्रामाणिकता दिखाने के लिये 'मतिराम सतसई' अकली पर्याप्त है। घरस, स्वामयिक एवं मनोहर अवधारिक छंदों के साथ उनके दोहे सतसईकार का गौरव बर्णन करते ज्ञान पड़ते हैं। सतसई के दाहों को नागरी नागर चित्रण, गैरारि चित्रण, मछि परक, रावनीति सम्बन्धी, सामाजिक स्वकीया परक, परकीया चित्रण, बिरह प्रधान, संयोग शृंगार, मानिनी, विपरीत रुचि सम्बन्धी, वास्तव्य प्रधान, नीतिपरक तथा प्रकृत सम्बन्धी भेषियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रमाण के लिये प्रत्येक का एक-एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा।

नागरि नैन कमल सर करत न देखी पीर ।
 शीत करत गैरारि के दग-धनुही के तीर ॥ ५ ॥
 लगानि लगे सोचन लखे बाधो मोहन थाक ।
 करि छनेह ताबाध सो सिरी लखत ब्रज आक ॥ १५ ॥
 लन रोचित रोचन लई, रचन कंचन गानु ।
 पिया पिया बाधो दिया, छिना छिया बज हावु ॥ ६ ॥
 गुन भीगुन का लनक मम नहि करत विचार ।
 फटक मुमुमन आदरत हर सिर परत कपार ॥ ४३ ॥
 ज्यो-ज्यो परत लख लन, ज्यो-ज्यो राखति गोई ।
 नवल कपू आसन लखि ईहु यधू-नी दाह ॥ १९ ॥
 नैन बितारे जान सो पाली बदाह मारि ।
 बचन गुण रग सीविने पाहि जीव दे नारि ॥ १० ॥
 लखति है पर लु-री कनक-नैनि अमिराम ।
 बाधो लखनि मिटे, गु रग बरता पन बरतयाम ॥ २८ ॥
 हियो हिये सो मित्र बान्धो, नैन बने मित्र नैन ।
 हते टोटे मारी पिटे, लख पई टटरे न ॥ १२ ॥

मान बनावति लखनि को, मन न मान को टाट ।
 बाळ मनावन को छत्रे, बाळ तिहारी बाट ॥ १०० ॥
 मेरे लिर बेसी ज्यो, यो कहि बाँधी पाय ।
 सुन्दरि रति बिपरीति में, प्रगट किमी अनुपाय ॥ ५९ ॥
 अपगुन बरनि ठगानो ज्यो ज्यो बाबिनि देखि ।
 स्यो स्यो हरि तन हेरि हँसि हरषति महसिहि देखि ॥ १४ ॥
 कोटि छोटे मतिराम कहि, बतन करो सब कोइ ।
 फाटे मन अरु दूष मी, नेह न कबहुँ हाइ ॥ ७० ॥
 जहाँ तहाँ खिराय मे, पूछे किछु कह ।
 मानहु मान मतंग के, अंकुष बाहु बाळ ॥ ९६ ॥

(मतिराम सतसई)

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में भविराम का स्थान

मध्यकालीन हिन्दी कविता

हिन्दी का यह काव्यकाल हिन्दी कविता का विद्युत्काल नहीं, बल्कि अन्धकार का विद्युत्काल है। पूर्ववर्ती कवियों ने अपनी सुन्दर-सुन्दर रचनाओं से हिन्दी साहित्य के भण्डार को भर दिया था जिसे छुनाना शेष रह गया था। जिससे इस समय के कवियों के सामने हिन्दी कविता की विस्तृत भूमि प्रस्तुत थी, जिस पर आसन बना उन लोगों ने कब्र की साधना की। शास्त्रीय सामाजिक परिस्थितियों के बीच हिन्दी कवि की ऐसी स्थिति बन गयी थी कि अपनी कविता में सम्स्कार एवं कला उत्पन्न करने के लिए समृद्ध संस्कृत साहित्य के पूर्ववर्ती कवि एवं भाषाओं की ओर तो वह देख बैठा था किन्तु वर्तमान को छोड़कर भविष्य की ओर झुकने की उसे कुशल नहीं थी। इस काल में भी मछि प्रधान तथा वीरतापूर्ण कवियों की सृष्टि हुई, किन्तु उनका स्थान अत्यन्त गौण रहा। शृंगार रस इत्येक के कवियों का सर्वप्रिय विषय रहा। इन कवियों द्वारा संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ प्रचलन शास्त्रीय ग्रन्थों को आदर्श मान लेने के कारण मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में संस्कृत शैली साहित्य की नवीन उद्भूति हो गई, जिससे इस काल में काव्य-श्रवण, माधुर्य, रस-भेद, नायिका-भेद, मरत-शिल्प, वदन्तु, ध्वनि, अलंकार, विग्रह और काव्य के गुण-दोष आदि सम्पूर्ण कार्मागों पर सुन्दर रचनायें प्रस्तुत की गईं। जो शृंगार रस इस काल में अत्यन्त लोकप्रिय रहा, उसकी कल्पना करके कितनी चामेबाजी कविताओं अथवा शृंगार-साहित्य की दो प्रमुख धारायें रही जिन्हें 'रीतिमुक्त' और 'रीतिबद्ध' नाम दिया जा सकता है।

रीतिमुक्त और रीतिबद्ध काव्य का अविरल हिन्दी काव्य की एक सीढ़ी-भेदी भी थी, जिसकी रचना ऐसे कवियों द्वारा हो रही थी, 'जिन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी, अर्थात् रचनायें जिन्होंने रीति की सैथी परिपाटी के अनुसृत ही की, पर अक्षय ग्रन्थ प्रस्तुत न करके स्वतंत्र रूप से अपनी रचनायें रची हैं। ये बाह्यतः मध्यमार्गी थे। रीति से बँधे भी थे और बससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी चलते थे। यद्यपि जो लोग रीति ग्रन्थ लिखते थे, वे भी अपनी कृतियों के प्रदर्शनाय ही रीति का सहारा लेते थे, तथापि वे अक्षय से बाहर नहीं जा सकते थे, जो कुछ बढ़ना होता था, लम्बी के भीतर बढ़ते थे। पर जो रीति से केवल सहारे का काम लेते थे, वे अपनी स्वतंत्र सत्ता भी चाहते थे।^{११} ये रीति विद्वत् कवि रीति-ग्रन्थ लिखना ही कवियों की अपेक्षा अपनी कविताओं में व्यक्तित्व दिखाना ही वा शुरुय अधिक कर लेते हैं।

और उनकी वैचित्र्य की वृद्धि अनुश्रुतियों के सम्पर्क में आकर हिन्दी कविता अपने पूर्ण रूप में समक उठी है।

रीतिमुक्त, रीतिवद्ध तथा रीतिसिद्ध शैली पर जिस शृंगार-साहित्य की रचना हो रही थी, उसके भी संयोग और विमलम्ब व्यवसाय विभाग शृंगार ही प्रमुख रूप थे। इन दो प्रमुख काव्य रूपों के मध्ये जो प्रधान विषय इस काल के कवियों द्वारा चुना गया, उसके भी पार लौकिक और लौकिक ही मुख्य रूप हैं, किन्तु मध्यकालीन हिन्दी कविता में लिया गया पारलौकिक तत्त्व मूल कवियों के पारलौकिक तत्त्व से नितान्त भिन्न था, जिसपर लौकिकता एवं ऐहिकता की छाप स्पष्ट है। इन कवियों के राधा-कृष्ण, सर, नन्ददास आदि कवियों को समझ कर देने वाले आराध्य नहीं, बल्कि 'सुमिरन की बहानों' थे। कुछ कवियों की कवितायें तो अत्यन्त छिछोरे स्तर तक उठर आई हैं, जिससे वह काल की अस्वस्थ मनानृति का परिचय मिलता है। किन्तु इस काल के सभी ऐसे कवि नहीं थे, जिन्होंने सामाजिक कुचरियों का ही प्रकाशन किया है, बल्कि 'मतिराम' ऐसे कवि भी मिल जाते हैं, जिनकी कविताओं में स्वयं लोकजीवन से ओतप्रोत रहस्यमय दृश्यकारी भावों की रचना मिलती है।

अधिकांश कवियों की रचनाशक्ति सुसज्जानी एवं भारतीय राधाओं के दरबार होने के कारण उनकी रचनायें शृंगारिक अवश्य हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि अन्य प्रकार की कवितायें हुई ही नहीं। मतिपरक, लुकि एवं नीति प्रधान, प्रकृतचित्रण तथा बीररसपूर्ण आदि विभिन्न प्रकार की श्रद्धा रचनायें भी इस काल में हुई हैं, मछे ही वे संख्या में प्रेमरसक कविताओं से कम हो। महाकवि मतिराम की प्रतिभा काव्य क्षेत्र में सीमा जानती ही नहीं। शृंगार प्रधान कवि होने पर भी उनकी कविताओं में मध्ययुगीन सभी प्रकार की कविताओं के सुन्दर नमूने भरे पड़े हैं। मतिराम मध्यकाल में सबसे अधिक सद्बुद्ध, सर्वज्ञ, तरल एवं सक्षम कवि एवं कथाकार थे। उनके व्यक्तित्व में कवि एवं आचार्यत्व का अद्भुत समन्वय हुआ था।

इसकाल की रीतिपरक कविताओं को काव्य विषयक साम्यताओं की दृष्टि से रस और अलंकार दो सम्प्रदायों में विभक्त किया जा सकता है, जिनमें अनुसम काव्य कृतियों प्रचलित की गई हैं। मध्ययुगीन रीति सम्बन्धी कविताओं की सन्तुष्टि एवं सद्बुद्धि व्याख्या अभी बहुत कम हुई है। कितनी व्याख्यायें प्राप्त हैं, अधिकांश एकांगी हैं। कुछ विद्वानों ने स्तंभरूप उसे नितान्त देव, पतनोन्मुख तथा धृष्ट का भाव जगानवाला काव्य परिचित कर दिया है। इसके अन्तर अस्वीकृता, प्रेरणाहीनता, अभयगता की प्रतीति करनेवाला, समझार प्रियता तथा रुढ़िवादिता आदि दोषों का ही बोझ होने का प्रयत्न किया गया है, उससे इसकी प्रख्यात अन्य विशेषतायें सामने नहीं आ सकती हैं, या रहस्य, मतिराम, रण-ध्यान तथा पद्माकर आदि सद्बुद्ध कवियों की कविताओं में विद्यमान हैं।

महाकवि मतिराम की काव्य प्रतिभा और उसके प्रेरणा स्रोत

आरम्भ में भारतीय कवियों की दृष्टि लौकिक की अपेक्षा पारलौकिक अधिक रहने, जिससे कथारसों ने अपनी रचनाओं में वर्तमान जीवन की अपेक्षा मृत्यु के बाद आनन्द के जीवन की अधिक महत्त्व दिया। बड़ी कारण है कि हमें आध्यात्मिक कृतियों में लौकिकता,

पारलौकिकता और धर्म तथा साहित्य आदि का अमृत संमिश्र मिश्रता है। स्वयं लौकिक साहित्य का आरम्भ भारतवर्ष में सर्वप्रथम 'हाल' की सतसई से ही दिलाई पड़ता है, जिसमें पहले पहले ऐसे भावों के दर्शन होते हैं, जिसका परलोक से कोई सम्बन्ध नहीं। काव्य रूप में स्पष्ट अन्तर उपस्थित होने के भी लक्षण यहाँ तक व्यापक मस्तक स्पष्ट हो जाते हैं। 'हाल सतसई' में लौकिकभावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये रूपकों, एवं प्रकल्प छन्दों का सहारा नहीं लिया गया, बल्कि उनका लिये खुद छन्दों, किन्हीं मुक्तक पद्यों में ही उपयुक्त समझा गया जो पूर्व कव्यप्रकृता का साधन बनसाधारण के प्रेम-विरह और आनन्द को जिवित करते थे। 'पंडितों का अनुमान है कि भारतीय साहित्य में यह नई परम्परा थी, जिसका प्रबलन आभीरों के कारण हुआ था। अनुमानतः आभीर आति ईसा से पूरे भारत में आई थी, यह आवि आनन्दी और बीर की। कई विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि राधा इसी आवि की प्रेम की देवी थी जो बाद में वैष्णव धर्म में आ गयी और कृष्ण की आवि शक्ति के रूप में पूजित होने लगी। वैदिक आवि भावुक थे और जीवन के प्रति उनमें आस्था भी सुदृढ़ थी। किन्तु उपनिषदों, जैनों और बौद्धों की शिक्षा के कारण, भारतीय जीवन में एक प्रकार की अरबस्थ वैराग्य-भावना का प्रवेश हुआ, जिसके विरुद्ध हाल की प्रतिक्रिया आभीरों की जीवन मोगिनी आवियों के आगमन के बाद उत्पन्न हुई। हाल की सतसई का भारतीय कवियों के जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा, एवं उसके अनुकरण पर संस्कृत में भी रचनाएँ की जाने लगी।" इस प्रकार मुक्तकों के माध्यम से लौकिक जीवन से जोड़-मोड़ काव्य का जो मनोरम प्रभाव संस्कृत काव्यों से होता हुआ मध्यकालीन हिन्दी कवियों तक पहुँचा और जिससे अभिविहृत वेग को तीन गति देने के लिये न जाने हिन्दी का कितने कवियों ने हृदय का रस को निचाड़ कर उसको धर्म मान बनाया।

इसका उल्लेख किया जा चुका है कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भागवत धर्म की उत्पत्ति हो रही थी, जिसमें सत्संगी का वैष्णव सम्प्रदाय की प्रकृता की बितके माध मनुष्यों के हृदयों का आस्थाहित कर रहे थे। इसी भावों का विप्लव शृंगारिक कवियों की अमृतमयी भाषा में हुआ। ब्रजभूमि में पहुँचकर वैष्णव धर्म की और भी बल मिला, यहाँ इस पर एक विशेष रत्न बंद गया। जब नायक और वृष्णभक्त के जीवनपरिच का प्रथमोक्त यहाँ रोजा गया था, जिसका रहस्य यहाँ के निवासियों के हृदय में प्रतिबिम्बित हो रहा था। अतएव उनकी रूचि और मति उस भाव और उस चरित्र की आर विशेष रूप से एक गयी। राधा और कृष्ण का क्रियाकलापों को लेकर दित मातृकापूर्ण एवं गमामय भावों को यह पन्द्रहवीं से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक हिन्दी काव्यों द्वारा हुई, यैती प्रथम गयी हुई थी, इसका भी कारण है। भारतीय संस्कृति का बित मुस्लिम संस्कृति से जोड़ हुआ था और बितन शृंगारपरक हिन्दी कविताओं को प्रभावित किया था, उसका यह वैभव बात था।

भारतीय स्वभाव से सम्पूर्ण एवं दार्शनिक होते हैं और मुक्तकान् विनोद एवं

मालुम है। 'मातृपुत्रता' ब्रह्मानी का गुण है और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू ज्ञान नहीं थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब-जब हिन्दुत्व का सम्पर्क ज्ञान संस्कृतियों से हुआ है, तब-तब वह मुद्दापे को मूलकर एक प्रकार का पीपन का अनुभव करने लगा है और तब-तब उसमें भी झट्ट झट्ट बढा है।^{११} यही कारण है कि मुस्लिमकाल में हमारे यहाँ जो साहित्य लिखा गया, उसमें फरसी और उर्दू बिलकुल ही नहीं, किन्तु पहले से कुछ अधिक मातृपुत्रता अवश्य प्रकट हुई। ऐसी भावधारा का जब मेस भारतीय मागवत सम्प्रदाय के आधार पर लिखे जान जाते श्रृंगारिक साहित्य से हुआ तो उसमें एक अद्भुत उर्ध्व और तात्काली का संसार हुआ। धीरे-धीरे जो मधिरक श्रृंगारिक कविताएँ बंग और बिहार में बयदेब तथा विद्यापति टाकुर एवं चम्पीदास के कलमों में गूँबी थीं, जिनके पदों को वैतन्य महाप्रभु ने गैबों में अर्ध भर कर गाया या तथा महाकवि सु ने जिन गानों को अपनी अर्धव्य गीत परम्परा में उतारा था, वे भक्ति का रामन छेद कर औकिफता की भूमि पर उतरने लगीं, जिनमें केवल राधा-कृष्ण का नाम मर ही से लिखा जाता था।

धार्मिक काव्य मुख्यतः यह है जिसका मातृपुत्रता मूलों के द्वारा हुआ। इस भेदों में दुष्की, लू, नन्ददास, बहीर इत्यादि की गवना है और मातृपुत्र काव्य का औकिफ काव्यों को रावकवियों तथा मछेतर मनुष्यों ने लिखा है। इस भेदों में गंग, मतिराम, बिहारी, पद्माकर और देव आदि कवि माने जाते हैं। मतिराम की कविताओं में वे सभी गुण प्रभूत मात्रा में पाये जाते हैं जिनके कारण वह शुद्ध धार्मिकता की मातृभूमि छान्दस् सरल एवं हृदयहारी औकिफता के धरातल पर उतर पड़ी थी। औकिफजीवन की दुबारी शृंगार की जो मातृपुत्रता अप्रतिहत बग से हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हो रही थी, उससे पूर्वप्रभावित होते हुये भी मतिराम के काव्यों की अपनी अस्मा विशेषता है। औकिफ सरल भावों की धार्मिक अभिव्यक्ति नायक और नायिकाओं के माध्यम से करने वाले महाकवि मतिराम के रूप में सुष्ठुमानी संस्कृति के सम्पर्क से प्राप्त ओषी मातृपुत्रता एवं उल्ल-सू का सफेद कम प्रभाव है। उनकी कविताओं में सरल हृदयपरी धार्मिकतापूर्व स्वाभाविक अभिव्यक्तियों के साथ मातृपुत्र विठनधारा की शम्भीरता दिखमान है, किन्तु कहीं भी दुष्पुत्रता नहीं आने पायी है।

शृंगार एवं प्रेम काव्य की भावों की परम्परा के साथ ही उससे पुरानी काव्य-शास्त्र की परम्परा भी बची आ रही थी, जिसका द्वारा हिन्दी कविता का अर्धधरन हो रहा था जिसका हिन्दी काव्यों में 'विद्यन' के बाद एक सम्प्रदाय का ही रहा होता था रहा था जिसका वर्धन किया जा चुका है। इस आधुनिक एवं रीतिप्रधान काव्यों के माध्यम से हृदय के सभ्य भाव दबते से आ रहे थे और ऐतिहासिकतापरक तथा श्रृंगार भावों की अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया जाने लगा था। मतिराम की कविताएँ रस और अर्धधार दोनों गन्ध-रासों के अन्दर आती हैं, किन्तु मानव भावों की शुद्धता तथा अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता से उनकी कविता कहीं भी दूर दृष्टी नहीं जान पड़ती। उनकी स्वाभाविकता का पाकर

अर्थकार ऐसे शुष्क साहित्य भंग भी सरस हो उठे हैं। कवि एवं आचार्य का व्यक्तित्व यदि किसी एक बगल होना हो तो मतिराम उसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इनमें इन दोनों गुणों का अद्भुत समिश्रण हुआ है। गृह्यार सम्बन्धी मानव अनुभूतियों के समस्त मार्मिक भावों को सफ़ल व्यक्तियुक्ति देने में मतिराम पूर्ण सफल हुए हैं। काव्य की फसलमक़ता की पूर्ण-रूपेण रक्षा करते हुये स्वाभाविकता से दूर न इटना मतिराम ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कव्यकार का ही कार्य है।

दरबारी कवियों द्वारा आभयदाताओं को कस्य करके जो प्रशंसियाँ लिखा जा रही थीं, उनमें भी मतिराम के स्वाभाविक कवि गुणों की छाप स्पष्ट है, जिससे उनकी सर्वश्रुता का भी परिचय मिल जाता है। मध्यकालीन हिन्दी कवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले समस्त सुलझ छन्दों पर मतिराम का समान अधिकार था। सबैलों के सर्वोत्तम उदाहरण 'रसदास' के छन्द हैं, कवित्व एवं पनाचरी द्वारा व्यक्त चमत्कारपूर्ण छवियों 'कवित्वसम्पन्न' आदि रचनाओं में मरी पड़ी हैं और सतसई के मार्मिक दोहे अपने आपमें अगूठे हैं।

मतिराम की काव्य प्रतिभा

मध्ययुगीन कवियों के शारीरिक सीमाओं में बँधे रहने के कारण, उनकी कविताओं में मानव मन की सहस्र स्पर्शानु अनुभूतियों को सुलझर अभिव्यक्ति देने का अवसर बहुत कम होता था। कवि के सामने छन्द, अलंकार और विंगड आदि शास्त्रीय व्यवस्था थी, जिसके भीच से होकर उठे अपन काव्य रस की सरिता बहानी थी। भावों का वह उन्मेष जो हृदय के माध्यम से तत्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है और जिसका माध्यम से जीवन की सम्पूर्णता की अनुभूत अभिव्यक्ति का संकेत करती हुई भाषा का सहाय छेकर काव्य रूपमा प्रकट होती है, उसका स्वाभाविक विग्रह का उठारना रीतिचरणीय कवियों के लिये अपनी सीमाओं का कारण बनी भी सम्भव नहीं था। वे प्रायः शास्त्रीय संकेतों पर कलाप्रदर्शन का अभ्यास करते और स्वायत्तता से अधिक एकरमिता की ओर दृष्टि रखाते थे। यही कारण है कि इस काल के कवियों में यह सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे एक प्रश्न का कई छन्द अपनी रचना के लिये पुनः पुनः सद्गुण रस एवं भाव की अभिव्यक्ति करते थे तथा उस क्षेत्र में विविधता प्राप्त करने का प्रयत्न करते। किन्तु सभी कवियों में यह व्यापक प्रयत्न पाया जाता है कि रीति प्रण्यों की रचना से साहित्य का अपेक्षाधिक समृद्ध बनाया जाय। इस प्रमाण का ही परिणाम है कि भूषण ऐसे बीररत्न प्रधान ओजस्विनी कविता से बारीक अंगुष्ठार करने वाले कवि भी लखन प्रण्यों की कपेट में आ गये।

इस काल के प्रत्येक कवि का अपना कोई न कोई विविध छन्द रहा है, जिसमें उसे सिद्धरत्न कहा जा सकता है। यदि मतिराम और रसदास ने अमुक सबैलों की सृष्टि की है तो राहोम और बिहारी ने अगूठे दोहे रचे हैं, देव की पनाचरीयों और कवित्व बरि अपनी छानी नहीं रखा तो भूषण और पद्माकर का कवित्व सबसे आगे हैं। ऐसे कवि कम ही मिलेंगे किन्तुने दो से अधिक छन्दों में अपनी प्रौढ़ रचनायें की हों। दोहा लखन प्रण विरतवाली का सारे प्यार छन्द रहा है, जिसका प्रयोग प्रायः सभी कवियों ने लखन प्रयत्न करने का लिये किया है और कुछ भागों में तो उली में अपने उदाहरण भी मिले हैं।

जिन लोगों ने उदाहरण सबैयों एवं कवियों में दिये हैं, उन लोगों ने भी छन्दों के स्थिर दोहों का ही प्रयोग किया है। मतिराम ऐसे कवि विरले ही मिलेंगे, जिन्होंने धीपाई, बरपे और सोरठा को छोड़कर तत्कालीन प्रचलित सभी शृंगारिक छन्दों में समान अधिकार दिखाते हुए सफ़लता के साथ रचना की है। वह बात दूसरी है कि मतिराम का सबसे प्रिय छन्द सबैया रहा है, जिसमें उन्होंने प्रौढतम प्रत्य 'रसराज' लिखा है, किन्तु दोहा और कवित्त आदि छन्दों पर भी उनका अधिकार तत्कालीन कवियों के समान ही था। उनकी रचनाओं में से एक भी छन्द हम ऐसा ढूँढ कर नहीं निकाल सकते, जो उनकी प्रतिभा के अनुकूल न हो।

स्वामाविष्ठा

इस काल का काम्य निर्माण कुछ ऐसी परिस्थितियों में हुआ कि प्रायः उसमें मर्यादा विशेष का अतिश्रम हो गया। उच्चैषिषिभ्य तथा चमत्कार को बहुतेरे कवियों ने काम्य का स्वर बना दिया जिससे कविता की स्वामाविष्ठा नष्ट होकर, सिख्याह-सी जान पड़ने लगी। शृंगार वर्णन तो कहीं-कहीं अप्रसीध्वा की सीमा तक पहुँचा जान पड़ता है। इसका मूक में बनना की कवि ठठनी नहीं है, जिसकी कि आभयदाता राधा-महापरायणों की कवि प्रधान थी। महाकवि मतिराम का भी अगम्य सम्पूर्ण जीवन राधाभय एवं राधदरबारों में व्यतीत हुआ था जिससे तत्कालीन प्रवृत्तियों का गिहार इन्हें भी होना पड़ा। अन्य कवियों की मीति इन्होंने भी सम्राट् बहौगौर, राव भाऊसिंह, मीनराज तथा शानचन्द आदि राधा-महापरायणों की स्तुति में अतिशयोक्ति पूर्ण कवितायें की हैं, किन्तु ऐसी कविताओं का हम उनका काम्य स्वर नहीं मान सकते। उनकी कविताओं का सुन्दरतम नमूने है कवितायें हैं जो किसी राधा महापरायण के आभय में नहीं लिखी गई हैं तथा जिनमें कवि ने अपनी सहज स्वाभाविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है, जिनकी संख्या उनके काम्य में अधिक है। उनका प्रत्य 'रसराज' इस प्रकार की सुन्दर रचनाओं से मरा पड़ा है, जिसमें नायक-नायिका-भेद की सीमा होते हुए भी कवि ने अत्यन्त सरस, स्वामाविक प्रसंगों की योजना की है।

इस युग का राधा का राधा साहित्य दरबारों में बिराज जाने के कारण साधारण समाज से अपना सम्बन्ध एक प्रकार से तोड़ चुका था। उसमें दरबारों एवं नगरों के बिज ही सजाकर चित्रित किम्बे जाते थे, जिससे सच्चे मातृ की हलक को गँवो में रहता है, ईदना व्यर्थ ही था। किन्तु मतिराम तत्कालीन कवियों में सबसे अधिक दरबारों एवं नगरों में रहकर भी सबसे कम दरबारों एवं नगर जीवन से प्रभावित हैं। उनके हृदय में ग्रामजीवन के प्रति सहज आकर्षण तदैव वर्तमान रहा जो उनकी कविता की स्वामाविष्ठा का मूल मान है। यँवों का धीपा-छादा जीवन बहों के सच्चे नरनारी एवं उनका प्रेम व्यापार कवि को नगरों की अपेक्षा अधिक आकर्षित करत दिलापार् पड़त है। चमत्कार प्रधान आलंकारिक कवियों को यँवों की स्वामाविक सुषमा तथा उनमें पाये जाने वाले मीठों में आनन्द नहीं मिला, पर उनमें आनन्द का अभाव नहीं है। कवि के कारण ही उनका आनन्द की मिठाव में अन्तर का मरा था, किन्तु मतिराम में इस मिठाव का अनुभव किया था, जो उनकी काम्य प्रतिभा का सर्वोत्तम उदाहरण है।

गृंगार प्रधान कवि होने के कारण ग्राम के विविध पक्षों का चित्रण मतिराम की कविताओं में तो नहीं मिलता, किन्तु श्री-गुरुपक्षी स्वामाधिक मात्र मंगियों तथा उनके छंदों का जो मार्मिक चित्र उन्होंने लीखा है, उनमें मातृ का ग्रामीण जीवन अपने सम्पूर्ण जीवन के साथ समझ आता है। गौड़ों ने अपने अन्तर्गुह्य, पीपाओं, बाय-बागीचों, खेतों और खलिहानों में कहीं गृंगारस का, कहीं कम्बरस का, कहीं हातसरस का और कहीं नीरस का छत्र छाँट दिया है, जिसमें सहृदय नर-नारी झुपकी छेदे रहते हैं। इस नैसर्गिक आनन्द में रसपान करते हुए मुग्ध होकर बोड़ी देर के स्थिर संसार के माया बाध से बँधे हुए होकर स्वर्गीय सुखरस का भरपूर आनन्द कटारते हैं। इस जीवन से रस लेकर बिठ कविता की सरस धारा फूटती है, उसकी समानता नगर-कवियों की छम्बी-घोड़ी उछियाँ कभी नहीं कर सकती। मतिराम ने इसका अनुमेष किया था, जिससे उन्होंने अपनी कविताओं में ग्राम जीवन को रसान दिया है।

सम्य सम्राज में पहुँचकर इस युग में कविता भी सम्य हो गयी थी। विगल्ह, व्याकरण, रस, अष्टाक्षर और मुद्रावरे नामक सम्प्रदाय के ग्रन्थ छत्रों से उसका नख-छिल झुलस हो गया था। उनके असम्बन्धी रूप (जो गौड़ों में था) से कमियव परिचित नहीं हो पाते थे। कालिगुप्त की भूमिशासानमित्र और उसका माछेपन का दर्शन गौड़ों में ही होता है। ग्रामीण नायक नायिकाओं के भी हृदय होता है और वे भी अपनी विरहपीड़ा को रेतों-पतलियों में परस्पर मिश्रकर सहस्रते हैं। बर्षा ऋतु में घस के आपिक्क तथा खेतों के सटे रस ब्यार के छोटे रहने के कारण मृद हो जाने पर गंवारि श्री अपन प्रेमी से मिछने का अक्षर एवं सुविधा ऐसी चुकी थी और बर्षा ऋतु की समाप्ति तथा धरदागम के साथ खेतों में ब्यार को छहहाते देस उसका हृदय में भी आनन्द मात्र छहहाते छगे, क्योंकि अब उसे छहहाते ब्यार के खेतों में नायक से मिछने की पूरी सुविधा उपलब्ध हो जायगी। मतिराम ने इस गँवरी परफ़ीया नायिका के स्रम मानविक भावों का अद्भुत चित्रण किया है—

बरपा रिठ बँठन छगो, प्रतिदिन सरद उरोति।

सदसद बोति कुमार की, अक गँवारि की होति ॥१०॥

प्रयानुसार अपने नायिका-भेद चित्रण में उन्होंने इसी प्रकार और भी मार्मिक चित्र उपस्थित किए हैं। 'मूठता ये गृहगंधी के कवि हैं। अम्पकाळ की अनुरागवती गृह बंधू का जैसा मार्मिक और वास्तविक चित्रण मतिराम ने किया है वैसा अन्य कवियों ने नहीं किया।'^१

शास्त्र लिख कवियों की कविता का आनन्द पूरी उम्र तक रहा है जिसने छन्द, व्याकरण और अष्टाक्षर शास्त्र का अच्छी प्रकार ज्ञान कर लिया है। इस प्रकार की चर्चता का स्वामानिक कविता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। 'यह तो आली निर्मित बस बयारी की तरह है जिसका पीछे पीछी से बरकर कर टीक किये रहता है और जो रास सरद की हवि से बिबक हाथर सजाई जाती है। ग्राम गंत तो प्रकृत का

बह छपान है जो जंगलों में, पहाड़ों पर, नदी-तटों पर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। वह अकृत्रिम है। सिद्ध कविओं की कविता किसी पैंगले का वह फूट है जिसका सर्वस्व माछी है। पर प्रामगीत वह फूट है, धारने जिसको पानो पिछाते हैं, मेघ जिसे नहछाते हैं, सूर्य जिसकी आँखें खोलवा है, मन्द-मन्द समीर जिसे झुले झुझता है, चन्द्रमा जिसका मुँह धूमता है और जोस जिस पर गुलाबजल छिड़कती है। उसकी समता पैंगले का फूट नहीं कर सकता।" कवि अपने हृदय के प्रभावों को व्यक्त करने के लिये जब व्याकुल हो जाता है और वे जब अपने आप बाँधी की लहास्ता से बाहर आने लगते हैं तो स्वाभाविक कविता की सृष्टि होती है। प्रेमी के अभाव में गैरारि प्रेमिका जीवननाम के कारण अपने आँख पास पाये जानेवाले उद्दीपक वातावरण से अमिथूत हो जब अपनी मार्मिक वेदना को स्वर देती है तो प्रकृत के वह पेड़-पौध भी उछकी छेये में आ जाते हैं—

"जीवक आइ बोलनवा मारेसि बान ।

महुवा रोवै टाढ़ आम बीरान ॥"

ऐसी मर्म मरी बाँधी कतरायोंत करने वाले सिद्ध हस्त शास्त्रीय सीमाओं में वह शृंगारिक कविओं को मछा कर नहींव हो सकती है। मतिराम की करम प्रतिमा न इसे पकड़ा या और उनकी काम्य पद्य का पराग पाकर प्रकृति बुझुमों के समान प्रामीषों के हृदयहारी भावों की सुदृग ही बदी है, उनमें किसी प्रकार की हृन्मता नहीं आम पायी है। 'मतिराम' की गैरारि अपने लहेट-रसक को नह होता बेसकर अत्यन्त करम एवं मममरी बाँधी में बिल प्रधार निहर गैरार राही का उँख लह्म से राकती है, उसे रसकर परब की स्वाभाविक उछियों तथा सरस प्रसंगों की उद्भावना करने की शक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। गाँवों में ही पाये जानवाले भरहर और उँख के रोव प्रेमी और प्रेमिकाओं को छिप कर निछने के क्रिय अधिक उपयुक्त मान जात हैं, जिसका सबत मतिराम की कविता में स्पष्ट जाता है—

'निहर घटोही बाट में, जगनि छेव उत्तारि ।

बरे गरीब गैरार हैं, काहे करव ठगारि ॥" मतिराम सततर्द

इसके अतिरिक्त बेहातो में वह अत्यन्त स्वाभाविक प्रकृति है कि मार्ग में जात हुये राही पास में पाये जानेवाले उँख के रोवों से अपन-परचये का किसी प्रकार का ध्यान दिय बिना ही उँख छोड़ छेव हैं, जिसका अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण कवि न उबरौल बाट में किया है। ठगारि छन्द की व्यंजना से कवि ने धन हानि तथा सदरसक के नह हो जाने आदि एक से अधिक भावों की शक्ति की है।

शृंगारपर्यन्त—संयोग शृंगार

मतिराम के काम्य की मूल वृत्ति शृंगार है, जिसमें उन्होंने संयोग और संयोग का में बाँधी जानेवाली मादक-नादिकाओं की विभिन्न मनारणाओं का अत्यन्त मन-बैर-निक एवं

सामाजिक चित्रण किया है। 'रघुराज' नायिका-भेद पर किन्ता इनका बहुतपम शृंगार-रस प्रधान ग्रन्थ है। नायक-नायिका को ही इन्होंने शृंगार का आख्यमन माना है। यो तो इन्होंने शृंगार के छिये स्वप्नीया, परस्त्रीया और सामान्या नायिका को समान रूप से वर्णन के छिये किया है, किन्तु संयोग शृंगार के क्षेत्र में मर्यादाभासी होने के कारण स्वप्नीया नायिका का चित्रण औरों की अपेक्षा अधिक रस लेकर किया है—

‘प्यार पगी पगरी पिय की, घर भीतर धापने छीख छँवारी;
येसे मैं आँगन में उठि के, वहाँ आय गयो ‘मतिराम’ बिहारी।
देखि उवारन धनि पिया पिय, सोहनि सौ बहुरपी न उवारी;
नैन नवाय बजाव रही, तर धाव छई मुतकपय पियारी ॥१५१॥’ —रघुराज

इसके अतिरिक्त ‘अष्टिस्तम्भ’ तथा ‘सतसई’ के दोहों में भी संयोग शृंगार के सुन्दर उदाहरण मिले पाते हैं। समय के प्रभाव में आकर ‘किपरीख रति’ आदि अष्टकीस शृंगारिक कवितायें भी इन्होंने लिखी हैं, परन्तु प्राक ये कवितायें स्वप्नीया नायिका को स्पष्ट करके ही लिखी गयी हैं। परस्त्रीया और सामान्या का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है, उनके अभिव्यक्ति-भेदों का सुन्दर चित्रण किया है, किन्तु सामान्या का मीदीपभेदों का वर्णन न करने से बान पड़ता है कि उस प्रकार का वर्णन में उनकी रुचि नहीं थी, बल्कि समसामुहार उनका वर्णन आवश्यक समझ कर ही किया है।

विप्रसम्म य वियोग शृंगार

वियोग शृंगार के इन्होंने तीन भेद माने हैं और जिसके अनुसार पूर्वाभुषण, मान और प्रवास वीनों भेदों के सुन्दर उदाहरण उनकी कविताओं में आये हैं। वहाँ वहाँ भी परस्त्रीया नायिका के वियोग का चित्रण इन्होंने करना अभीष्ट रखा है, परन्तु उन्होंने सामाजिक मर्यादा का पालन किया है। इनकी उदा परस्त्रीया सामाजिक मर्यादों से इतनी प्रसन्न है कि मन ही मन मगलवादी रहती है, किन्तु उसे वादने का प्रयत्न नहीं करती, बल्कि अगल बल्ल में प्रिय का प्रात करने के छिये तप करने के लिये उत्सुक बान पड़ती है—

‘क्यों इन आँखिन को निरसक डे, मोहन को तन पानिप पीरै;
नेकु निहारै कसक छी रहि, गाँव बसे कही बैठे क जीरै।
होत रहे मन सौ मतिराम, फूँ बान आय वहाँ तप पीरै
डे बनमाछ हिये बगिये, अर डे मुरली अपरा रस छीरै ॥१६॥’ —रघुराज

प्रकृति के उदीपन माधो का पीछा ही दर्शन किया है जिस प्रकार के वर्णन परम्परा में प्रचलन का सुके ये, किन्तु दर्शन की स्वाभाविकता उनकी अपनी है। संयोगकाष्ठ की सभी आनन्द प्रदान करन वाली बहुरूपी चित्रण का दिनों में कलकल हो जाती है, जिससे अनक अलगमन की खूबता पाकर ‘मतिराम’ की नायिका का किरह और भी तीव्र हो उठता है, जिसके मन में उठे माधो का चित्रण मतिराम ने आपत्त अमूठ टंग से किया है—

‘मुरझानि की धारनि मानो अर्नग की धुंग धुवा पहचान छीरै;
नम मंदक डे छिँठ मंदक छै, छनरा की छय छहचन छीरै।

‘मतिराम’ समीर लगी छतिअ, बिरही बनित्ता पहारन छगी;

परदेस में पीव संदेश न पाया, पनोइ भय पहारन छगी ॥३९६॥’ —सराय

उपरोक्त छन्द में शब्दसाधना, अनुप्रासिक वर्णन तथा सजीव मातावरण की सृष्टि करते हुए बिरहिनी नायिका की मनोदशाओं का अद्भुत चित्र कवि ने अपनी मतिमा द्वारा प्रस्तुत किया है।

प्रेमदर्शन में विदेशी मेरु

प्रेम का शेष अत्यन्त व्यापक है। ‘प्रेम या रति में रूप भेद भी है। अनेक सम्बन्धों से उसके रूप हो जाते हैं। पति और पत्नी के बीच दांपत्य-रति, माता या गुरुजन के दम पुत्र या संतति के बीच वात्सल्य-रति होती है। मतिराम के गृंगार प्रधान कवि हान के नाते उनकी कविताओं में प्रेम व्यक्तक भावों को स्थान मिथ्या अप्रत्यक्ष सामाजिक है। अन्य कवियों की भाँति राजा-रूप्य प्रेम की चर्चा का प्रसंग इन्होंने भी उठाया है और गीतों के लयाद् कविवर छंद के प्रमरणीयों से प्रभावित भी हान पड़त है, अन्तर इतना ही है कि संमरायविशेष का आग्रह न होना के कारण इनकी कविताओं में वह लानाबानी नहीं आ पाई है जो ‘छा’ की कविताओं में अछि और हान का लेकर की गई है। भाव कथन के स्थिति इन्होंने मायक को समान रूप से प्यार करने वाली नयिकाओं को ही दिया है—

‘बाक अंग-अंग की निछाई निरखत आछे,
बाले बनय की निछाई कोनियतु है,
कवि मतिराम बाकी बाह प्रबनारिन को
देह अंगुवान के प्रबाह भीबियतु है।
बाक बिनु देखे न परत कस दमई की,
बाक बैन सुनत सुधा-सी पीबियतु है
देखे सुकुमार भिय नन्द के कुमार को यो,
फूलन के माख को माख दीबियतु है ॥’

मतिराम के समय तक मुखझमानों के पैर भाव में पूर्णता बय गये थे। बिनक साथ उनका साहित्य और संस्कृति भी आ गई थी। राम-रहीम की एक सूत्र में बौद्धन के त्रिय प्रेम की पुकार मचने लग गई थी, जिसका प्रतिपादन पूर्ण मातृकता के साथ किया जाने लग पा। बिरेही केय लयुन को स्वीकार मही करत थे। अता निर्गुन माना का जर रूफ्तो के मर्याम से बा बंद रहा था, उससे आर हिन्दी के कवि भी राह छुटै, जिससे इनकी कविताओं पर भी छरली छावरी का प्रभाव पड़ा। मतिराम की कविताओं पर भी इसका प्रभाव अछत होता है। कतेबा पाक कर देने तथा छावरी छावरी के टंग पर उमक टुकड़ करने वाली

‘हन्ती माहि छहि नैन लो, नैननि कियो अपेत।

बादि बहुरि निष आगना, कनो विषपर हर छेत ॥ ३१ ॥’ मतिराम सजगई

‘मनो एक मन ही गयो, सजनता का मेम।

हगनि मारि पावत कियो, ठाठो बौद्धत प्रेम ॥ ३९ ॥’ मतिराम सजगई

भाते इनकी कविताओं में भी पाई जाती हैं। काव्य में स्वाभाविक चित्र को महत्व देने वाले कवि मतिराम को फारसी कविता के प्रभाव का कारण ही 'पूछे किमुक बास' कांदू के समान दिलवाई पड़ते हैं—

‘वहाँ वहाँ चित्तराज में, पूछे किमुक बास।

मानहुँ मान मतलब के, अंकुश कांदू खस ॥ १६ ॥’ मतिराम सतसई

इसके अतिरिक्त उन्होंने भारतीय प्रेम पद्धति पर स्वस्थ मेम का चित्र अधिक किया है। इतना तो समसामयिक प्रभाव दिलाने के लिए उद्यत कर देना आवश्यक-सा हो गया है।

प्रकृति वर्णन

मानव से पूर्व प्रकृति के वर्तमान रहने की सम्भावना है। वह सदा से उसके साथ रही है और मानव अपनी इच्छा, सुविधा और आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में करता रहा है। रीतिकाळ के कवियों ने प्रकृति में समीपता तो नहीं देखी है, किन्तु उसे समीपता खोजे अवस्था उत्पन्न करने वाले उत्पादन के रूप में अवश्य ग्रहण किया है। उन्होंने प्रकृति का आलम्बन रूप नहीं, बल्कि उसका उद्दीपन रूप ही ग्रहण किया है। इनकी प्रकृति नायक नायिका के मन की स्थिति का अनुसूचक बनकर युक्त में सुली और युक्त में सुली दिलवाई देती है। मतिराम का प्रकृति विषयक दृष्टि कोष बहुत व्यापक रहा है। उन्होंने इसका कामस प्रभावों की ही कविता में रक्षण दिया है, जो संयोगकाळ में नायक नायिकाओं के आनन्द को बढ़ाती है तथा विषमकाळ में उसकी स्मृति दिला कर अंतर्गत सुली बनाती है। वहाँ वहाँ उसके बिनाघमरी प्रभाव से छेदत स्थल आरि का मिट जान पर प्रेमीयों को कह पहुँचा है, वहाँ प्रकृति कल्पनशुद्ध होकर आती जान पड़ता है और कवि अनन्तम उसका आलम्बन रूप का सुन्दर चित्र उतारता जान पड़ता है। रसरस में नायिका-भेद का अन्तर्गत प्रकृति का अतिरिक्त विभिन्न कानुमों के प्रभावों का सुन्दर वर्णन आया है—

‘आई कानु पावत अकास आठो दिवन में,

छाहट स्वरूप जस धरन की मीर को;

‘मतिराम मुकवि कदम्बन की बास छुट,

छरत बढ़ावे रस परत समीर को।

मीन से निकसि कुरमान की कुमारी देख्यो,

हा मने लहेत का निजुँव गिन्यो तीर को।

नागरि का नैननि तें नीर का प्रसाद बढ़यो,

निरति प्रसाद बढ़यो जमुना का नीर का ॥८९॥’

—रसरस

मया मयोग पय काव्य कोशल

मतिराम मुक्ता रसिद्ध कवि है, जिनके वर्णन का लिये रीतिधर्मीन प्रयत्न प्रमुख ल्यों का उन्होंने बड़ी लक्ष्म्या का वाप मयंग किया है। तबसा उनका प्रमुख एवं अत्यन्त

मिय छन्द रहा है, जिसमें उनकी प्रौढ़तम गृहगरी कविताएँ लिखी गई हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में कविध्वज और दोहे भी अपनी पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। 'छन्द का भाव और रस से जो घनिष्ठ सम्बन्ध है। छन्दविशेष में भाव अथवा रसविशेष अधिक प्रभावात्पादक हो जाता है, जैसे संस्कृत युक्तों में मंदाग्रान्ता, द्रुतविनम्यित, क्षिररिणो और माछिनो में गृहगार, शान्त और करुण रस अधिक मनाहर आते हैं। इसी प्रकार भुजंगप्रयास, वंशस्थ और छारदूख विच्छिदित में वीर, रौद्र और भयानक रस विशेष प्रभावात्पादक हो जाते हैं। हिन्दी छन्दों में सवैया और बरबे में गृहगार, करुण और शान्त, छप्पय में वीर, रौद्र, तथा भयानक माराध में वीर, तथा पनाछरी, दोहा, चौपाई और सोरठा में प्रायः सभी रस लक्षित होते हैं।' १) मतिराम ने अपनी रचनाओं में इस ओर विशेष ध्यान दिया है। गृहगार के सरस वर्णों तथा विशेष घनिष्ठ पोड़ा से उन्नत कव्य रस के चित्रण के लिये उन्होंने उद्भूत छन्द सवैया को ही चुना है, जिसमें अपने प्रौढ़तम प्रत्येक रसरास की रचना की है। अपने आभयदाता की प्रशंसा में वहाँ कहीं उन्हें वीर-दर्पपूर्ण उच्छ्वसों कहनी पड़ी है, उन्होंने छल्लिखल्लम में सुन्दर छप्पय तथा पनाछरियों लिखी हैं। चौपाई छन्द के उदाहरण का मतिराम की कविताओं में नहीं मिलता, परन्तु उनके दोहों में अनेक मानवीय मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति हुई है।

छल्लिखल्लम में वर्णित अलंकारों से मतिराम के आचार्यत्व का पूर्ण परिचय हो मित्र हो जाता है, किन्तु उनकी कविताओं में अलंकारों का प्रयोग जिस स्वाभाविकता के साथ किया गया है, उससे उनके कव्यशौच का भी पूर्ण परिचय मिल जाता है। 'साधारण कविजन अलंकारों का ज्ञान का पूर्ण प्रयत्न करते हैं, वो भी उनकी कविताओं में एकाग्र अलंकार कठिनाई से आ पाते हैं। सघर स्तुष्ट कविजन साधारण वर्णन करते बैठे जाते हैं, परन्तु वे ऐसे शब्द और भाव छाते हैं कि उनमें आपस आप अलंकार आदि सम्बन्धी उत्तमताएँ बहुतायत से आ जाती हैं।' २) मतिराम ने कहीं भी कव्य की स्वाभाविकता नष्ट करके बग़ावत अलंकारों को ज्ञान का प्रदर्शन नहीं किया है, किन्तु वे अपने आप कवि प्रतिभा के आग्रह से रितकर चले आये हैं। जिन छन्दों की रचना कवि ने अलंकारों का उदाहरण देने के लिये ही की है, उनकी वो बात ही बूझी है, किन्तु जिन छन्दों की छवि नायिका-भेद के उदाहरण के लिये हुई है, उनमें भी अलंकारों की उगा विराजमान है। प्रभाव के लिये हम उन छन्दों को लें सकते हैं, जो रसरास और छल्लिखल्लम दोनों में पाए जाते हैं। महाकवि मतिराम ने अनेक आभयदाता राय माऊँसह के आठहू का वर्णन किया है—

‘महावीर सधु सात नन्द राव भाव विद,
छेरी धाक भरिपुर जात मय भाव-से;
कहे ‘मतिराम’ ठरे छेव दुँव छि- गुन,
माखत की माखत-माखत विद-य-से।

१. आचार्य देववर्धन, डॉ० हीराकाश कीर्ति, प्र० सं०, पृ० १०९।

२. मतिराम प्रयागजी, १० कृष्णविहारी मिश्र, स० सं०, पृ० ९१।

बहुत मदन हृदि-हृदि मिटि पड़ि जाय,
 विकल मुक्तान मैरे दुखिन समोच-से,
 लूछ-से सिनूछ-से लरोवर-से / लोचन-से,
 लारु-से तिमिर-से लमीपति-से लोच-से ॥२६॥—कवित्तसम्म

इस छन्द में कवि को केषव वषासंख्य अलंकार दिखाना था, पर और भी कई अलंकार कवि प्रतिभा से आकृष्ट होकर अपनी दिव्य छत्र दिखला रहे हैं। विभावना, मयीप, समुच्चय और उपमा की मनोहर ललक मन को मुग्ध कर देती है। ओशगुन और शब्द समत्कार का दृढ़ ही निराळा है। हिन्दी साहित्य में इसके समान दूसरा वषासंख्य नहीं मिल सकता।

स्वतंत्र रूप से नल-धिल वर्णन उपरिपठ करके उन्होंने महात्पूर्व सौन्दर्य तत्वों का वर्णन किया है। जब ये किसी नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करना चाहते हैं, तो उसके सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार उपरिपठ करते हैं कि नल-धिल का विस्तारपूर्वक वर्णन भी न करना पड़े और सारे सौन्दर्य का चित्रण भी उपरिपठ हो जाय। वे एक बार अंग दीप्ति पर दृष्टि डाल कर बट-यन् आकर्षक नैचो क पाठ पहुँच जात है, किन्तु ठहराव वहाँ भी नहीं और स्वर्णता का साथ मुक्तान पर पहुँच कर मुग्ध हो रहते हैं जिससे ये जिस अंग पर दृष्टि डालते हैं, उन्हें सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है—

‘कुंदन की रंग पीको छौ, लखै अति अंगन बाव गोचर,
 आँखनि में अछानि, चितीनि में मंगु बिजलनि की सरसार्।
 को बिन मोख शिखर नही, ‘मल्लिचार्जुन’ सहे मुक्तानि मिछार्,
 ज्यो ज्यो निहारिअ मेरे हे नैननि, त्यो त्यो लरी निचरी सी निचार् ॥’ रतन उद स० ६

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि अपने बिन भावों की अभिव्यक्ति अपने काव्य के माध्यम से करना चाहता है, उसके लिए उसे समर्थ भाषा का बरताना चाहता है। भाषा के माध्यम से पाठक को कवि का भावों तक पहुँचाने में बड़ा ही बर नही आती और वह बिना टोका-टोका के उसके भावों तक पहुँचकर आनन्द लेने लगा जाता है। भाषा का वह बाहक स्वरूप मल्लिचार्जुन के काव्य का प्रमुख गुण है। चाहे से चाहे शब्दों में अनीक चित्रण उपरिपठ करना मल्लिचार्जुन के बाएँ हाथ का खेल था। कवि का वर्णन में काव्यशास्त्र का सुप्रबोध, सुष्ठु योजना और प्रसार गुण सभी एक साथ उपरिपठ हो गए हैं। एक ही छन्द में नायिका के विभिन्न अंगों का अलंकार अलंकार वर्णन काव्य की भाषा के प्रसाद में कहीं भी कटका नहीं आया। भाषा की मधुरता प्रत्येक वर्णन का मधु चहाहाट देती रहती है। इसके अतिरिक्त इनकी का लयसे बड़ी विरोधता है वह यह कि भाषा की लय स्वाभाविक भाव में ये बीच बीच में अन्वयों की कड़ियों की पिराये पड़ते हैं और कहीं भी मल्लिचार्जुन उपरिपठ होने नहीं पाता। ‘कुन्दन की रंग पीको लगे’ में प्रतीक, सम्पूर्ण छन्द में स्वभावोक्ति ‘को बिन मोख शिखर नही’ में ‘काव्य’ और ‘ललक’ तथा ‘निहारिअ मेरे नैननि, निचरी और निचार्’ में अनुप्रास-समत्कार उपरिपठ है। ये अलंकार कवि द्वारा इन छंद में लगाए गये सभी लय के बान बहते, बरिष्ठ है अपने आप ही सिद्ध कवि की लहापटा के लिए उन्हीं

कविताओं का शृंगार करने लगे आये हैं। उद्यम शब्दों की उद्यम दम से उद्यम कर रहने का कवि को क्या कहना चाहिये।

माया भाषा का दामन छोड़ कर बसती, मतिराम की कविताओं में कहीं भी नहीं मिलती। उनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरलता अत्यन्त स्वाभाविक है, न तो उसमें भाषा की कृत्रिमता है, न माया की। माया शब्दावली से वर्णना मुक्त है। 'केवल अनुप्रास के प्रसार के लिये अशुद्ध शब्दों की भरती नहीं मारी है। जिसने शब्द और वाक्य हैं वे सब आवश्यकता में ही प्रयुक्त हैं। रोहि प्रथम वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छन्द बसती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों में मिलती है। पर कहीं कहीं यह अनुप्रास के आस में चेतन बहती पाई जाती है। सारांश यह कि मतिराम की सी रस दिग्ध और प्रसाद पूर्ण भाषा रोहि का अनुकरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है।' अन्य कवियों की भाँति ही उन्होंने माया के प्रयोग में कवि स्वातन्त्र्य की शरण ली है। किन्तु भाषा का समान ही न तो उनकी भाषा कृत्रिम है और न उनके व्यवहार व्यापार। इनका भाषा की सरलता, सुबोधता तथा स्वाभाविकता के औचित्य में दो मत हो ही नहीं सकते। कवि की प्रथम भाषा में तो वाक्य का साथ सुकुमारता तथा सुभावनापन सर्वत्र अपनी दिव्यता का साय विद्यमान है।

काम्य छन्दों की स्वाभाविक गुण मतिराम की कविता में प्रभूत मात्रा में पाये जाते हैं। अपनी कविताओं में वे तमघाई केवल बाहर से उलझ-झूट करते नहीं जान पड़ते, बल्कि उन्हें हम जीवन के रंगमंच पर प्रतिभाशाली नायक की भाँति कार्य करते देखते हैं। माया का प्रधान गुण अभिव्यक्त भाषा की पूर्णता प्रकाशित करना है। माया की पूर्णता पाठकों को संपन्न भाषा तक पहुँचा देने की क्षमता तथा पाठों से छात्रों में ठीक मतलब की बातों का प्रकाश करने की शक्ति तन्मयी माया के तीन प्रधान गुण मतिराम की कविता में पाये जाते हैं। मतिराम का व्याकरण बल (वैयर्थ्य) बहुत बड़ा नहीं, किन्तु अपने सीमित क्षेत्र में उन्होंने व्याकरण की विषय पट्टा दिखाई है। 'माया के सहज प्रसाद और भाषा के अनार्य पर प्रकाशन में मतिराम का साथ माया के बहुत बड़े कवियों की तुलना की जा सकती है। यद्यपि 'रसरस' और 'खलित हसाम' में सज्जन और वनाहरण के सहाने ही कविता लिखी गई है, पर भाषा का ऐसा सरस चित्रण दुर्लभ है। मतिराम माया की नाही पहचानते हैं।' कविता की भाषा में कुछ विशेषताएँ होती हैं। 'कवि स्वातन्त्र्य से स्वाभाविक होकर कवि छात्र अपनी भाषा से साधारण गद्य की भाषा से कुछ अलग कर देते हैं। जिन भाषाओं का व्याकरण अधिक जटिल है, उनमें यह अलगत्व कम होता है, पर जिन भाषाओं में व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है, उनमें यह अलगत्व अधिक दिखाई पड़ता है। इनका अप्रकाशित शब्दों का प्रयोग करत रहना

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० रामचन्द्र शुक्ल सं० १००१, पृ० १५२।

२. हिन्दी साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० २१३।

प्रचलित शब्दों का लोढ़-मरोड़ होना, व्याकरण की बत्तनी परपाह न करना आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो कवियों की भाषा में पायी जाती हैं। हिन्दी की प्रथमापा कविता में एवं अग्रेजी कवियों की भाषा में यह असंगत स्पष्ट दिखाई पड़ता है।^१ इसके अतिरिक्त कवि का ऐसे दोषों से बचना चाहिये जो शास्त्रसंगत हों। मतिराम में भीते श्री मति भाषा के प्रयोग में उन कविस्वार्थियों की शरण ली है जिनसे एक अच्छे कवि को बचना चाहिए। जैसे उन्होंने 'सरसवा' को बोध कराने के लिये 'सरसई' शब्द का प्रयोग किया है। बगद-रगद ऐसे लोढ़-मोड़ लिखवाई पड़ते हैं जो कविता के दृढ़ को ठीक करने के लिये ही लिख जान पड़ते हैं। ऐसे प्रयोग काष्मैतर भाषा में चिन्त्य हैं, किन्तु यहाँ कवि के विशेषाधिकार के नाते क्षम्य हैं।

इनकी भाषा को विस्तृत निरर्थक नहीं कह सकते। इनकी कविता में कहीं कहीं शब्दों का प्रयोग बेदंग हुआ है। अन्य भाषा के कई शब्दों का भी ये ठीक व्यवहार नहीं कर सके हैं। पर ऐसे उदाहरण कुछ पाड़े पाय जाते हैं। 'इन्होंने इलाज, बिराही शब्द का प्रयोग किया है, जो चिन्त्य है। 'इलाज' शब्द अरबी भाषा का है। 'हिन्दी शब्दसागर' में यह पुस्तिग माना गया है। यद्यपि इसका अर्थ सखीर भी है परन्तु मुख्य अर्थ दवा है। 'वीनबन्धु निज नाम की मुछाज की' प्रयोग में 'मु' अक्षर व्यर्थ है। नीचे के प्रथम पद में 'धारिषर के खय काज के छिप' इलाज के विरचने की सूचना दी गई है, वह छंद में प्रत्यक्ष कही भी नहीं है। छंद में वर्जित भाष की संपूर्णता के लिये यह आवश्यक था कि माह के द्वारा गजराज-भास की बात स्पष्ट-स्पष्ट वर्जित कर दी जाती।^२

मुठबमानो के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दी भाषा से जिन विदेशी शब्दों का भेक हो रहा था, उनका प्रभाव मतिराम की कविताओं पर भी पड़ा है। यहाँ धारण है कि उनकी कविताओं में यथास्थान अरबी के शब्द काफी संख्या में पाए जाते हैं। रासक, दरमाव, बलत, छाह, पावताह, उमराव, माव दरिवाय बीपान, बिपान, मुस्तान, मुबान, गरीबी, गनीम, बरगोन, हबीब, सखपत, बक़िया, मुक़्तानी, बिखर, गदर, गुपान, बहान, अक़िबी, बक़ियो, फ़रै, मजल्लि, रोह, बिराबे तथा हयमी, मगरूक और दया दरिमाव आदि विदेशी शब्द 'रत्नसम्पन्न' और 'तत्त्वार्थ' में विद्यमान हैं।^३

इन ग़रीब बातों के होत हुए भी प्रथमापा के कवियों में यहाँ तक भाषा औरस का सम्भव है कविहर मतिराम जी से बढ़कर जगड़ी भाषा लिखन में कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ। इसके कहने में हमें कुछ भी ग़फ़ोज़ नहीं कि सूर, मुछमी, देव विहारी और पद्माकर आदि भी कवि भाषा सौंदर्य में मतिराम का पीछे नहीं

१. मतिराम प्रयागजी, पं० हृषिकेश्वरी मिश्र, पृ० ४०, पृ० ७३।

२. मतिराम प्रयागजी, पं० हृषिकेश्वरी मिश्र, तृतीय संस्करण, पृ० १३६।

३. कवितककाम, छंद संख्या १९, ५९, ९९, ३०३, ३९९, ७१, ५९, ५६, ६९, १०१, १०३, १३१, १६३, १६५, २५०, ३०३, ३०६।

४. मतिराम सतसई, छन्द संख्या ७०, १३०, ५१५।

छोड़ पाते। हाँ, यह मामल को हम तैयार हैं कि इनमें से भी कई कवियों की भाषा ऐसी है जिससे मतिराम की भाषा अच्छी नहीं कही जा सकती। भाषा-सौंदर्य में कई कवि उनके बराबर आवश्यक हैं, पर उनसे बढ़ कर कई नहीं।^१ मान, भाषा महाह एव सरसता का संगम यदि किसी एक ही कवि की कविता में देखा हो तो उसे मतिराम क सबैयों, अक्षितसङ्गम क कवियों तथा उत्तम क शायों में मकीर्ति देना जा सकता है।

मतिराम की मौलिकता

महाकवि मतिराम की स्थिति क सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि उनका स्थिति का क्विही महाकवि के उत्पन्न होने क अनुरूप नहीं था। 'सूर' और 'दुखड़ी' जैसे महाकवि उत्पन्न हो चुके थे तथा 'सुसागर' और 'रामचरण मानस' जैसे महान साहित्यिक ग्रन्थ भी लिखे जा चुके थे, किन्तु इनक समय तक देश की सामाजिक स्थिति इस अवस्था का पहुँच चुकी थी कि प्रबन्ध-काव्यों के सरस स्वाभाविक धारा की गति अवरुद्ध हो। बिन दिनों महाकवि मतिराम अपनी रचनाएँ कर रहे थे, 'इन दिनों जन-साधारण की मनोवृत्ति साधारणतया बिछासोन्मुखी हो गई थी। धर्म भावना में भी भोग और बिछास का स्थान मिल गया था, क्योंकि सेवा-अचना की सुस्मातिसुस्म विधियों का आविष्कार हो जान से मठों और गहियों ने भोग-बिछास के समस्त उपकरण एकत्र कर दिए थे। इनमें केदार की चकियाँ जलती थीं तथा इनकी बिछास-सामग्रियों से अन्न के भवाव को भी इर्ष्या हो सकती थी। इन्ग की परकीया भाव से पूजा करने की स्थापना-वर्द्धति में तथा सारी सम्प्रदाय न पर कीया वर्जन, नायिका निरूपण आदि काव्यों को प्रोत्साहित किया और धर्म की छाप छगी होने के कारण जनता ने इन्हें निरमलोच विरोधार्थ किया। फलतः शृंगार भावना का हिन्दी के ऊपर चेतन और अचेतन दोनों ही रूपों में प्रभाव पड़ा और तत्कालीन कविता रण्डिता, अल्प मन्माग दुर्गिता, परकीया आदि के वर्णनों से भर गई। जन-जीवन का ऐहिक दृष्टिकोण तत्कालीन समाज की नैतिक दृष्टि, ऐहिकान्तीन हिन्दी कविता में भली प्रकार अभिव्यक्ति है।^२ वातना एवं ऐहिक शृंगार जन-जीवन में इतना प्रचलित गया था कि उसके अन्तर् में नैति तथा उपदेश आदि जैसे नैतिक वाक्य सामने की समता के परे थे। यही कारण है कि कवियों को निरुप होकर अपनी बात शायी तक पहुँचाना क छिपे शृंगार का महाप्य लेना पड़ा है। कवियों क छाय रह कर साधू लोग जिस प्रकार नहीं बनते, तब तक लग नहीं समझ सकते थे जब तक कि यह न कहा जाय कि उनी प्रकार नहीं बन सकते जैसे इच्छा हो तो करत है भेष और आ बनती है बेकारे उरीयो पर—

१ मतिराम सम्पादन की १० वृत्तविहारी मिश्र, मुंबई सरकार, पृ० ७७।

२ ऐतिहासिक कविता एवं शृंगार रस का विश्लेषण, डा० राजरत्नप्रसाद कटुनैरी, पृ० ३०, पृ० ३०१-३०२।

‘कुटिलन संग रहीम कहि, साधू बचसे नाहि ।

ज्यों नैना सैना करें, उरख उमेठे चाहि ॥’ —रहीम

ऐसी स्थिति में महाकवियों अथवा प्रबन्धकवियों की नहीं, बल्कि आत्मकथा की काव्य के रीति-अन्यों की, जिन पर विचार भी काव्य-रीति के आधार पर ही हो सकता था कि काव्य के । एक रुपये मात्रक एवं सहस्रक कवि के किये इससे बढ़कर संकटप्रसीन स्थिति और क्या हो सकती है, वहाँ काव्यकर्म के उत्कृष्ट स्वरूप को छोड़कर उत्कृष्ट भावों को किसी भी प्रकार की मायमिच्छा मित्र ही नहीं सकती हो । साहित्यिक भावों के इस अन्तर्गत में यदि कहीं मात्र कुछ उत्कृष्ट काव्य का भी दर्शन मिले तो उसे कवि की त्रिनेत्र शक्ति का ही परिचायक समझना चाहिये । महाकवि मतिराम ऐसे ही प्रतिभा सम्पन्न हुए मात्रक कवि हैं जिनमें रीति के साथ ही साथ उत्कृष्ट काव्य का भी दर्शन मिलता है । यहाँ एक ओर रसयुक्त और क्लृप्तकर्म में मतिराम के रीतिकालीन काव्यकला के दर्शन मिलते हैं वहीं मतिराम सरसई के अनुपम मार्मिक एवं सरल दोहों एवं ‘रसयुक्त’ और ‘क्लृप्तकर्म’ में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये गये छन्दों में उनकी सहस्रक एवं मात्रक काव्य-प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं ।

इस काल के कवियों का एकमात्र विषय शृंगार होने के कारण इस विषय का इतना विह्वलपण हुआ है कि कमलधर एवं कटाव्यकला को छोड़कर किसी भी कवि में किसी प्रकार की भी नयी उद्भासना देखने में नहीं आती, क्योंकि कविता की धारा में प्रवाह नहीं रह पाया था । जब काव्य-धारा में प्रवाह नहीं रह जाता अथवा उत्तम प्रवाह बीमा पड़ जाता है तो वह अपने आसपास ‘अच्छकरी’ का शिवार-स्यूट बना कर लेता है, उत्तम एवं अच्छा हा जाता है । इस काल के अधिकांश कवि ऐसे ही हैं जो अपने अम्यास और उच्च कथन के द्वारा अपनी अक्स सीमा बना लेते हैं जिससे उनकी कविताओं में प्रगल्भा के योग्य गुण था हैं, मगर वे मोड़ घूमना नहीं जानते, आगे बढ़ना नहीं चाहते अथवा नहीं जानते, निरन्तर अपनी अनुकृति स्वयं ही करते रहते हैं और अपने ही किए कर्मों अथवा रचनाओं से निरन्तर थोरी करते हैं । महाकवि मतिराम को ऐसी प्रतिभा का बरदान मिला था जिससे वे तत्कालीन दरबारी काव्य-परिधि से बाहर जाँक ही नहीं सके, बल्कि स्वच्छन्द विवरण करके अनमोल भावों की काव्य-सिद्धि भी पिरा सके हैं ।

महाकवि मतिराम के लिए भी शृंगार अधिक मित्र होने तथा रीति काव्यों की रूढ़ि करने के कारण पूर्ववर्ती कवियों के भावों की उत्प्रेक्षा करना कठिन रहा है, किन्तु यहाँ यहाँ भी वे पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं से प्रभावित हुए हैं वहीं भी उनकी मौलिकता विद्यमान है और परपटों अनेक कवियों की कविताओं पर उनकी मौलिक प्रतिभा का स्वर है जिने वे अपनी कथामिच्छा एवं कवि-वैशिष्ट्य में भी छिना नहीं पाये हैं ।

ऐसा लोक प्रसिद्ध है कि हारिष पत्नी विजय लक्ष्मी का पकड़ती है, उसे छोड़ना नहीं जानती और यदि उसे कहीं भूमि पर गिराना होता है तो वह लक्ष्मी का दूध में डबाये ही उठती है । यद्यपि साहित्यधरो ने इस प्रसंग की पर्या अपेक्षा नहीं की है, किन्तु फिर भी कुछ कवियों में मित्र ही जाती है । लक्ष्मी के प्रति हारिष पत्नी का ऐसा भाव

होता है बैठा ही मान किसी बसु या प्राणी के प्रति भावक-नायिकाओं में भी दिखाया जा सकता है। महाकवि सुर और मतिराम दोनों ही ने इस लोक प्रसिद्ध ओकोटि का अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। सुरदास के पूर्ववर्ती होने के कारण यह कहा जा सकता है कि मतिराम ने प्रभाव ग्रहण किया होगा, किन्तु सुरदास की द्वारा दी गई उपमा को मतिराम ने संगति और नवजीवन दिया है, जिससे वर्णन अधिक प्राक्ख्यान हो उठा है इसमें सन्देह नहीं।

‘हमारे हरि हारिष की छद्मी।

मन कम बचन नंद मंदन कर वह हृद करि पकरी,
बाग्य समस्त स्वप्न दिवस निस काह-काह छद्मी।’ —सुरदास

×

×

×

‘भावो ही लयानय शयो है अमान मन
तो हू उठि मान करिबे की ठेक पकरी,
भर-भर मानिनी हैं मानती मनाये त है,
तेरी ऐसी रीति और काहू में न छद्मी।

कवि ‘मतिराम’ का रूप बनस्याम लख,
तेरी नैन कोर ओर पाई एक टकरी,
हा-हा के निहारे हू न देखि हरिन नैनी,
काहे को कल हठ हारिष की छद्मी॥’ —मतिराम

—मतिराम

सुर की नायिका के लिये हरि हारिष की छद्मी के समान है, किन्तु मतिराम की मानिनी नायिका का हठ हारिष की छद्मी के समान है। हारिष अपनी छद्मी का स्थान पकरी ही नहीं, किन्तु सुर की नायिका से हरि दूर हो गये हैं जिनके अभाव में वह केवल वह मन व्यक्त करती है कि वह हृद के अभाव में उठी प्रकार नहीं रह सकती जिस प्रकार कि हारिष पक्षी छद्मी के अभाव में, किन्तु उसका चपन में सम्मोहता इच्छित नहीं है कि वह हृद का अभाव में रह रही है। मतिराम का प्रयोग अधिक समीचीन एवं कोपन्त है। मानिनी नायिका का मान बल ही रहा है, वह अपना हठ उठी प्रकार नहीं छोड़ रही है कि हारिष पक्षी अपनी छद्मी नहीं छोड़ती। इसका अतिरिक्त उपमानों द्वारा भाव साम्य ही दिखाना सम्भव होता है जिससे यदि उपमेय भी एक प्रकार का मान ही हो तो अधिक संयत होता है। इसे महाकवि मतिराम ने असीमांति परमा है और हारिष की छद्मी की कल्पा ‘हठ’ से ही ही है जो मानिनी नायिका का एक भाव ही है।

बनक नन्दिनी लीलाजी क केश-पाश में गुंथी मुच्छादे अरने परब गुण को लय केरों
को लामता ग्रह कर लेती है जिससे वे मरछत मन्द्यो की प्रतीत होने लग जाती हैं, किन्तु पर लीला की उन्हें कथपासों से निष्काश कर अरने हावों में छे लेती है ता उनका वे अपना पूर्व रूप धारण कर लेती हैं अर्थात् परब दिखाई पड़ने लग जाती हैं जिसका वर्णन सुरदास की ने किया है—

‘केस त्रिभुज, सखि मरकट मनिमय होत,
होय छेत पुनि मुकता करत उदोत ।’ —मुछरी

मोतिबो में जब ऐसी थियोपला है कि जिस किसी वस्तु के सम्पर्क में वे आती हैं, उसी का रंग ग्रहण कर लेती हैं ता क्या वे हाथों में आपर सीता जी व हाथों का रंग मही ग्रहण कर सकती ? यदि ये सीता जी के हाथों का रंग ग्रहण कर लेती हैं तो तनत्र पूर्ण रूप कहाँ रह जाता है, इस सम्भावना से महाकवि मतिराम पूर्ण परिचित आज पढ़ते हैं—

‘मुकुट द्वार द्वारि के द्विये मरकट मनिमय होत ।

पुनि पावत रुचि राधिका मुख सुखकानि उदोत ।’ —मतिराम

श्रीकृष्ण के वस्त्रों में पड़ी मोतियों की भाँति उनके अंगों की रंगमत्ता ग्रहण कर लेने के कारण मरकट की भाँति बन जाती है, जिसके पूर्ण रूप को प्रकट करने के लिये मतिराम ने उसे हाथों में लेना उपयुक्त नहीं समझा, बल्कि राधिका व मूढ मुरछानों में उसे डूबो दिया है। मुरछान का रंग ज्येष्ठ माना गया है, इतना संशय तो इस प्रयोग से क्या ही जाता है साथ ही साथ एक ही दाँदे में कवि गंगा और कृष्ण दोनों ही की स्वामादिक सुपमा का सफ़ल वर्णन करके पूर्ण रूप अलंकार की सुन्दर योजना कर सफल है।

महाकवि पद्य और मतिराम दोनों ही ‘दास्य’ की मूढ मुस्मान पर रीते हैं। कल्पना के बिस्तृत क्षेत्र में इस मग्द-हास्य को लेकर दोनों कवियों ने खुद परिचय दिया है। जिस प्रकार कण्ठवास को ‘भारी गोरी की थोरी थोरी हाँसी’ को हँसकर नाना प्रकार के संविद छठे हैं कि यह मंद हास्य असुख-असुख वस्तु को नहीं है, बस प्रकाश मतिराम के अतिमुहुर पर भी ऐसे ही अनेक संविदों के मनोरञ्जक प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ते हैं।”

‘किरी मुउ। कमल के कमल की अपरि होति,
किरी शर मुगवन चन्द्रिका मुगई है,
किरी गुल्लोबनि मरीचिक मरीचि किरी,
रूप की इचिर रुचि मुनि को मुगई है।
सीत की सीता की बहन पन दामिनी की,
बेचन बगुर चित ही की बगुगई है।
एरी गरी मारी थोरी थोरी-थोरी होली भरी,
मोहन की मोहनी कि गिर की गाराई है ॥’ —बेचन

X

X

X

‘बानी को बगन ऐसी बात क दिव्य होई,
ऐसी मुगपद शर चन्द्रिका प्रकाश है;
कवि ‘मतिराम’ ऐसी पदम का मुगई है,
पदम पुन प्रकृतित मुगन मुगन है।

नाक नपुनी के गब मोतिन की आभा कैरी,
 बेहरीत मच्छति दिए की दुआर है;
 छरी करिषे को पिय मन बनसार कैरी,
 नाक के बदन बिलखत भूष हास है ॥ —मठिराम

केशवदास के गिरा की गोराई मठिराम के 'बानी क बचन' से मछे ही अच्छी हो, किन्तु छन्द के अन्तिम पद में माथों की मार्मिकता कवि प्रतिभा के अनुकूल ही है। 'मठिराम' का यह सन्देह उठाना कि यह बाबा का भूष हास्य है, या उसका प्रियतम के मुगल नेत्रों को झलका कर देने वाला शुभ बनसार-सौंद है। हास्य क सम्भव में बनसार का सन्देह उठाना अत्यन्त संगत है, क्योंकि दोनों का ही रंग स्पष्ट होता है।

पूर्ववर्ती कवियों में कविवर रहीम की कविताओं का सबसे अधिक प्रभाव महाकवि मठिराम की कविताओं पर पड़ा है। उनके बरवै नायिका-मैद क अनेक उदाहरण तो 'रसदास' में कुछ हेर-फेर के साथ क्यों के रूपों रख दिए गए हैं। दोनों कवियों ने मुग्धा अमि वारिका का रस छेकर वर्णन किया है—

'बली खिवाह नयेछि अहि, छलि लख संग।
 बस दुखसत मो गोदवा, मस मरंग ॥' —रहीम

X X X

'बली अली नव अहि सै, पिय पै छानि सिंगार।
 क्यो मरंग अँदहार को, स्मिे बात यदुहार ॥' —मठिराम

निश्चित ही 'अँदहार मरंग' के लिये 'अँदहार' की परूपना मठिराम की मौखिक प्रतिभा का प्रतीक है। मुग्धा अमिचारिका लोकात्त अमिचार एक पर कमी भी नहीं का छच्छी। उते छे बाना छलियों की बगुरता एवं प्रभाव पर अधिक आभित रहता है बिचमें छलियों की हप्पा ही अधिक प्रभाव होती है। बिच प्रचार अद्विषत मरंग क लिये महावत के अङ्गु की नितान्त आवश्यकता होती है, उती प्रचार अमिचार एक पर जान में द्विष कने बाकी मुग्धा नायिका के लिये महावतरूपी छलियों क प्रभावरूपी अङ्गु की अपर्या होती है।

मठिराम के वर्दन में जो सबसे बड़ी बिष्पता है वह यह कि ये पाठक के लिये सन्देह की कही भी गुंवाहण नहीं रखते। कार्य-कारण की अलग-अलग अवस्था अपूर्त वर्दन उनही रचनाओं में बहुत ही कम मिलता है। एक ही प्रसंग का वर्दन कविवर रहीम और मठिराम दोनों में किया है, किन्तु मठिराम का वर्दन रहीम से कही अधिक पूर्व है—

'बाहर से क दिवस, बारन बाप।
 छात ननर पर पटुषत दव हुताप ॥' —रहीम

'बार-बार बा रोह छो बारि-बारि से बात।
 कारे छे पिन बात ही, बाती आन गुहाजि ॥' —मठिराम

मतिराम की नायिका रहीम की नायिका की भोंति मूर्खा मही है कि दीपक बुझने का कारण न बता सके, बल्कि वह प्रयत्न है जिससे सम्भावित प्रश्नों को वह स्वयं अपने से ही कर लेती है ।

कृष्ण-कर्म के आलंबन होने के नाते रत्नान और मतिराम दोनों रत्निक कवियों की कविताओं में कहीं-कहीं भावसाम्य पाया जाता है, किन्तु जिन बातों को रत्नान कवि ने स्पष्ट शब्दों में कह दी है, मतिराम ने उसी को ऐसा छुमा-फिरा कर कहा है कि कविता में कमलधर आ गया है । 'रत्नान की की राय में सारे ब्रजमंडल में कोई भी 'मदू' ऐसी नहीं है जिसको कृष्णचन्द्र ने 'छट्ट' न किया हो । अर्थात् सभी पर ब्रजराज का स्पष्ट प्रभाव है पर मतिराम की ने उन बाह्यओं को छात्राणी देने के छिये तैयार हैं, जो ब्रजराज को देख चुकने के बाद भी छात्रा को सम्भाव्यती हुई गृह-कर्म में लगी पाई जायें । इसका तात्पर्य यह है कि मनमोहन के ब्रजन के के बाद ब्रजयुवती का अपने आप में रहना असंभव है ।' स्पष्ट कह देने से ध्वनना में कहना अधिक काव्यात्मक होता है जो मतिराम में रत्नान से अधिक विद्यमान है—

‘कौन छोरी मरी हरि आन बयाई है बौद्धिया रत्न-कीनी,
तान हुनी किनहीं कितहीं तिनहीं तिन आन बिदा कर दीनी ।
बूने लरी-लरी मन्द के बार नवीनी कहा अक बाक मचीनी,
या ब्रजमंडल में रत्नान छु कौन मदू लु छट्ट मरि कीनी ।’ —रत्नान

‘अनन बन्द निहारि-निहारि नहीं लनु भी जन कीवन बार्ह,
बाह बिचोनि जुमी मतिराम द्विप मरि को गहि ठाहि मिहारें ।
क्यों करि भी भुरली मनि कुदल मोरपता बनमाक बिसारें ।
ते बनि जे ब्रजराज छलै गृह-कर्म करे अक लख लम्भारें ॥’ —मतिराम

मतिराम के अनेक तरह एवं स्वाभाविक दोहों का बिहारी से अपनी कल्पमकटा के माध्यम से कहना सादा है जिसकी यहाँ हम पूर्व ही कर आये हैं । जहाँ तक भूषण के सम्भावित होने का प्रश्न है उसका भी स्पष्टीकरण पूर्व प्रयोगों में ही हो चुका है । परवर्ती कवियों में महाकवि देव कीर पचाकर हो ऐसे महाकवि रहे हैं जो अनेक दृष्टियों से महा कवि मतिराम के निकट दिखाई पड़ते हैं । राविकाक में छत पर लगे पति के पाठ रति कामना से बाती हुई छात्राणीय नायिका का दोनों ही कवियों में वर्णन किया है । मतिराम की नायिका अपने पूर्व यौवन में गृहकारिण हुए जब लीदियों पर बढ़ने लगती है तो किंचिनी बब लट्ठती है जिससे वह अनुमान करके कि पर क भेड़ लगा यह खान बाँदि कि वह रति-कामना से छत पर पति के पाठ गई थी, नूपुरों के रतिव म हने देन के फिर कीम को दाठों में दबाकर पकती है । कीम दवान से छात्रा का भाव ली तरह हा ही जाता है, लप ही लप यह भी पता लग जाता है कि कीम दबाकर पकल से संपूर्ण छतरी में एक मन्दर की लावनी आ जाती है जिससे नूपुर मही बबल । यह आर्तव पर महाकवि देव

को तो इतना पसन्द आया है कि माथ की कौन करी, उन्होंने छन्द का अन्तिक पद हो
झो का लो उठकर अपनी कविता में रस किया है—

‘तहस्र सुवासयुत बेह की सुगुनि सुति,
दामिनि दमक दीप केसरि मनक से
मठिराम मुकषि मुगुषि मुकुमारि भंग,
सोहत सिंगार बाह बोधन मनक से।
सोहने को सेव बली प्रान पति प्यारे पास,
बगल कुम्हारि बोति हँसनि तनक से;
पदत अपारी गुरु भोगनि का जग प्यारी,
रसना दसन दावे रसना सनक से। —मठिराम

× × ×

‘नेवर के बसत कटेवर कपल देव,
देवद बरौ न धग सोवत तनक से;
ननद नछेछी भोरी तोरति तिरौछी छति,
बीछी बैछी बिपु बगलबैगो मनक से।
देसिए कटिन छाग गहौ न न हठि हाथ,
बैसे कहीं बाहु माथ आए हो मनक से;
बसना हमारे रंग रसना बनत बौकि,
रसना दसन दावे रसना सनक से ॥’ —देव

मठिराम की नायिका स्वयं पति के पास बाना चाहती है अथवा चाही है, किन्तु
देव का नायक स्वयं नायिका के पास जाता है और नायिका ‘रसना’ छन्द से चीखती है।
देव में समझदार अधिक है, किन्तु मठिराम की ली स्वाभाविकता उनमें नहीं।

दुसरा अमिछारिच चौदनी रात में बहल बल पारण करके अमिछार के छिए जाती
है। कहने का तात्पर्य यह कि दुस्रअमिछारिचमो की बैठ-भूषा इस प्रकार की होती है
कि वह चन्द्र-भोक्तना में छिन बाध। इसका छिए ही वह माना प्रकार के हृक्षिभ ठपाशनी
की कहायता ऐसी है। अमिराम ने दुस्रअमिछारिच का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है
त्रिचका प्रभाव आचार्य मितायिदास तथा पद्माकर पर समान रूप से पड़ा है।

‘भंगन में चदन पदाय बनहार सेत,
लारी छीरलेन बैरी आम्रा उधनठ है;
उमरत बरिह बरिह मठिन क आमल,
बुमुम-कटिज केत सोया सरावि है।
कवि मठिराम शानप्यारे को मिछन बछी,
करिदे मनोरथनि मृदु मुवछाति है;

हीति न क्यारै निशिचन्द की उम्पारी फुल,
चंद की उम्पारी उन छाहीं छपि जाति है ।' —मतिराम।

X X X

'किमुक के फूलन के फूलन विमृषित के,
बौधि छीनी बहया बियाह की-ही बहनी,
हा पर सँवान्यो सेत अंबर को डंबर,
सिधारी ह्याम सभिनि निहारी चहु न बनी ।
छीर के सरंग की प्रभा की गहि छीन्ही तिय,
छीन्ही छीर-सिधु छिति कारिक की रखनी,
आनन-प्रभा उन छीहैं हैं उपाय बात,
मौरनि की मीर सँग सप बात बहनी ।' —राव

X X X

'सुबति क्यारै लौ न कयु और मेर अचरेसि ।
तिय आगम पिय आनिमा बडक चौदनी देखि ।' —पद्माकर

राव की क उपादान कुछ स्वभाव-विपरीत हो गये हैं। उन्होंने किमुक का प्रयोग कार्तिक मास की शरद निशा में कराया है जब कि वह बसन्त में फूलता है। पद्मिनी नायिकाओं के पीछे भ्रमरों का उड़ना सर्वथा स्वाभाविक है, पर रात्रि में उड़ना काष्ठ विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त भ्रमरों के उड़ने से नायिका का अभिचार संकेत हो सकता है, क्योंकि वह अपने को छिपाने में अचमर्ष पा रही है। मतिराम की का वर्णन अप्रत्यक्ष एवं स्वाभाविक है। उनकी नायिका की श्वेत आभा में चन्द्रमा स्वर्ध छिप जाता है। इसी भाव को पद्माकर ने भी उपरोक्त दोहे में कहा जा रहा है, अन्तर इतना ही है, कि उनकी नायिका अपनी श्वेत आभा से बौन्नी को और चरकीझी ही बना पाती है। इस प्रकार पद्माकर की नायिका चौदनी में ही अठमुक हा जाती है।

मतिराम और पद्माकर दोनों ने ही कृष्ण के प्रति योयियों की विह्वलता का वर्णन किया है। मतिराम का ही छन्द का मायापहरण पद्माकर की कविता में हुआ है किन्तु नवीनता माने को चीन कहे, अनुप्रास के चक्र में पड़ने के कारण मतिराम की तरह स्वाभाविकता भी छगमे नहीं रह पाई—

'त्रिवि दिन शीतल विमृष-ता पिपत रहे,
छाय रमा नाद बौमुरी के सुर-भ्रम को;
वरन-सम्बा-सीर बन-मुख-बैविन में,
अर्ध-उर्ध्व देखियत रूप छवि घाम को ।
कवि 'मतिराम' होत हाँसो ना हिये तें मेर,
सुरा मेम गाय को परत अमिराम को,

कपो तुम कहत बियोग तबि बोन करी,
 बोन तब करे जो बियोग होब स्थाम को ।' —मतिराम

X

X

X

'प्रासन के प्यारे ठनु-ताप के हरन हारे,
 नद के बुसारे बब बारे उमहत हैं
 कहे 'परमाकर' उरुसे उर अन्तर यों,
 अन्तर चहेहु ते न अन्तर चाहत हैं ।
 नैनन बसे हैं अंग अंग दुसरे हैं, रोम
 रोमनि रसे हैं निफसे हैं को कहत हैं
 छपा, बै गोविन्द कोई भीर मपुरा में, यहाँ
 मेरे ठा गोविन्द मरहि माहि में रहत हैं ।'

—पद्माकर

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का नवीन ढंग से प्रस्तुत करने तथा परवर्ती कवियों पर अपना अगुछ प्रभाव डालने में मतिराम की अमम्य-प्रतिभा एवं मौलिकता का विशेष हाथ है ।

उपसंहार

प्रस्तुत विषय की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर लेने से स्पष्ट हो गया कि कविता में अलंकरण की प्रवृत्ति समाजगत होती है, जिसका सम्बन्ध उसके बाह्य पक्षों से ही नहीं, बल्कि मूलतः उसके आंतरिक पक्षों से ही होता है। अलंकरण की प्रवृत्ति एक प्रकार के विविध समाज में होती है जो काल्पनिकता का प्रभावित करता रहता है। मध्ययुगीन हिन्दी अलंकरण कविता को अलंकरण के क्षेत्र में संस्कृत साहित्य का बाध भी मिला था और लौकिक से उसे अपने रचना काष्ठ में मनोनुकूल सामग्री समाज भी मिल गया। संस्कृत साहित्य में अलंकरण की प्रवृत्ति का उदय धार्मिक संस्कृति के उदय अवस्था, राजन्य संस्कृति के विघात के साथ ही साथ हुआ था, जिसने जित, मूर्ति, संगीत तथा काव्य आदि विविध कलाओं का समान रूप से प्रभावित किया था।

आदिकवि बास्कीक तथा काकियास की स्वाभाविक अलंकरण काव्य-परम्परा को जब पूर्ण रूप से राजाभय प्राप्त हो गया तब उनमें अलंकरण भावना पर चरम विकास हुआ। मारवि, माच तथा श्रीहर्ष की रचनाओं को प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है। प्रभूत भाषा में अलंकरण काव्यों की सृष्टि हो जाने पर यह नितांत आवश्यक था कि उन्हें किसी न किसी प्रकार से शास्त्रीय रूप दिया जाय और विद्वानों द्वारा वैसा किया भी गया। प्राप्त अलंकरण काव्यों की दृष्टि में रखते हुए लक्ष्य प्रयोगों का निर्माण हुआ जिसने आगे आने वाले कवि समाज के लिये मार्ग-निर्देशन का कार्य किया। इस भावना की बढ़ती हुई प्रगति में काव्य रूपों को भी प्रभावित किया जिससे महाकाव्यों अवस्था प्रकृत काव्यों का रथान धीरे-धीरे चमत्कार एवं अलंकार प्रयोग के अनुकूल साहित्य-रूप रीढ़ काव्य अवस्था मुक्त काव्यों ने ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। कविताओं के अतिरिक्त मादक के गीतों तथा गय में छिरी जान वाली आधुनिकताओं तक पर भी इस अलंकरण काव्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के साथ-साथ साहित्य एवं उसके माध्यम भाषा में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। धीरे धीरे संस्कृत का स्थान जन भाषाओं में लेना आरम्भ कर दिया, किन्तु संस्कृत साहित्य की समृद्धि का एक भी भाग आम बाली भाषा सुनायी देन में समर्थ न हो सकी, भले ही वह साधारण ब्रह्मपात्र की भाषा न रहे बल्कि भी और हम देखाते हैं कि १७ वीं शताब्दी के आरम्भ तक दक्षिण भारत बंगाल देश विद्वान् संस्कृत में 'रस रंगार' देखा उम्हें शायद अन्य स्थान का मोह नहीं छाड़ सका। ऐसी भी बात नहीं थी कि उससे उन्हें सम्मान न मिले। उस रचना में तो उन्हें देखा सम्मान शिक्षा कि 'शाहजहाँ' ऐसे सुलभमान बाधक न आदर से सुनाकर दक्षिण की परती से दिभूत भी किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य का सम्पर्क हिन्दी न किसी रूप में भारतीय जनता से हिन्दी के मध्यकालीन कविता काळ तक बना रहा, जिससे हिन्दी कवियों को उससे सम्बन्ध-रूप जोड़ने में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ, किन्तु विद्वत्त जन यह रही कि संस्कृत के शास्त्रग्रन्थों ने काल्पग्रन्थों की अपेक्षा हिन्दी कविता को अधिक प्रभावित किया है। इसका मूल कारण यही है कि संस्कृत काल्पग्रन्थ की परिवर्तितियों और हिन्दी काल्पग्रन्थ की परिवर्तितियों में स्पष्ट अन्तर आ गया था। संस्कृत काल्पों की रचना भूमि राजपूती भारतीय राजाओं के दरबार में और हिन्दी कविता की रचनाभूमि विशेषकर मुसलमानी विदेशी आदशाहो अथवा उनसे प्रभावित सामन्तों के दरबार में। यही कारण है कि अनुशासित एवं भाषानुशासित के माध्यम से जितनी सामग्रियाँ आ सकीं उनमें शास्त्र ग्रन्थों की मात्रा अधिक थी, क्योंकि हिन्दी कवि संस्कृत से परिचित थे और संस्कृत की प्रभूत सामग्री रहते हुए हिन्दी में मौखिक काल्प ग्रन्थ लिखने का भय नहीं उठाना चाहते थे। किन्तु रच नाओं के लिये आवश्यक था कि वे समसामयिक हों, जिससे मध्यकालीन विवासी समाज की पूर्ण अभिव्यक्ति मध्यकालीन हिन्दी के शृंगारी मुक्तकों में हुई है।

मध्यकालीन हिन्दी कविता के प्रथम आदान में संस्कृत काल्पों का भी प्रभाव अधिक होता है जिसमें विद्यापति, हर, तुलसी एवं जयज की रचनाएँ हुई हैं और उस काल में अपेक्षाकृत प्रबल काल्पों की भी रचनाएँ अधिक हो सकी हैं पर कथन के बाद की रचनाओं में मुक्तकों का एकपक्ष राज-सा ही हो गया, जिनमें कुटुम्ब नीति अथवा उपदेशपरक कवि ताओं को छोड़कर शृंगारिक कविताओं की ही मर्याद थी; जिनके माध्यम से राजाह्वय का नाम लेकर नायिकाओं की भाव-भंगियों तथा नायकों के साथ उनकी दुहाइयों का ही वर्णन किया जाता रहा। मीरा तथा रसरत्न आदि जैसे एक्य कवि मठ ही मित्र बार्दे जिन्होंने कि तन्मयता के साथ अधिकतर कविताएँ लिखी हैं। मय का ता निवान्त अभाव का ही हो गया। शृंगारी मुक्तकों पर भी वहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है संस्कृत की ऐतिहासिक कविताओं का ही प्रभाव है, किन्तु वर्णन ऐसी एवं वाचस्पत्यता पर पूर्णतः ठगू एवं दरबारी साहित्य का ही प्रभाव रहा है। स्वाभाविकता इस रोके के कवियों में बहुत कम पाई जाती है। मठिराम ऐसे एक्य कवि मठ मित्र बार्दे की रीति ग्रन्थों की रचना करने के साथ-साथ अपनी स्वाभाविकता का भी अनुभव रहा तक हो।

इस काल के कवियों में अपने आत्मव्यंगताओं की प्रशंसा में तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति खर्च की है, किन्तु अपने सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है जिससे उनके सम्बन्ध में जानने के लिये दरबारी तन्त्रों का ही सहारा रह जाता है। कथन ग्रन्थों की मर्याद हो गई तथा मुक्तक संग्रह भी एकत्र अथवा सतसर्ग के नाम से अनेक लिखे गये। मध्यकालीन हिन्दी कविताओं की समस्त प्रवृत्तियों का समन्वित रूप मठिराम की रचनाओं में मिलत हुए भी जो उनकी अपनी विविधता स्वाभाविकता का रूप में अनुभव है, उनकी कविताओं में सर्वत्र विद्यमान है। मठिराम के जीवन-काल तथा रचना-काल के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये भी अनेक समकालीन कवियों की रचनाओं तथा दरबारी तन्त्रों तक सहजता पढ़ा है। मध्यकालीन कवियों में मठिराम का स्थान रहा करने के लिए समस्त मध्यकालीन कवियों

उपसंहार

प्रस्तुत विषय की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर देने से स्पष्ट हो गया कि कविता में अर्थकरण की प्रवृत्ति समाजगत होती है, जिसका सम्बन्ध उसने बाह्य पक्षों से ही नहीं, बल्कि मूलतः उसके आंतरिक पक्षों से ही होता है। अर्थकरण की प्रवृत्ति एक प्रकार के विविध समाज में होती है जो काव्यकला को प्रभावित करता रहता है। मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत कविता को अर्थकरण के क्षेत्र में संस्कृत साहित्य का हाथ भी मिला था और सौम्यता से उसे अपने रचना क्षेत्र में मनोनुकूल सामग्री समाज भी मिल गया। संस्कृत साहित्य में अर्थकरण की प्रवृत्ति का उदय छन्दसि संस्कृति के उदय अथवा राजन्य संस्कृति के विकास के साथ ही साथ हुआ था, जिसने चित्र, मूर्ति, संगीत तथा काव्य आदि विविध कलाओं का समान रूप से प्रभावित किया था।

आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक की सामाजिक अलंकृत काव्य-परम्परा की जब पूर्ण रूप से स्थापना प्राप्त हो गया तब उनमें अलंकृत भावना पर चरम विचार हुआ। माणिक्य, माधव तथा भीमसेन की रचनाओं को प्रभाव स्वरूप देखा जा सकता है। प्रभूत मात्रा में अलंकृत काव्यों की सृष्टि हो जाने पर यह निष्कर्ष आवश्यक था कि उन्हें किसी न किसी प्रकार से शास्त्रीय रूप दिया जाता और विद्वानों द्वारा वैध किया भी गया। प्राप्त अलंकृत काव्यों की दृष्टि में रखते हुए छन्दसि का निर्माण हुआ जिसने आगे आगे आगे कवि समाज के लिये मार्ग-निर्देशन का कार्य किया। इस भावना की बदौली हुई प्रवृत्ति में काव्य रूपों की भी प्रभावित किया जिससे महाकाव्यों अथवा प्रकृत परम्परा का स्थान धीरे-धीरे समस्त एवम् अर्थकरण प्रयोग के अनुकूल साहित्य-रूप एवं काव्य अथवा मुक्त काव्यों में ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। कविताओं के अतिरिक्त नाटक के संतो तथा गद्य में छिपी बात बाहरी आख्यायिकाओं तक पर भी इस अलंकृत काव्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के साथ-साथ साहित्य एवं उसके माध्यम माया में भी परिवर्तन उपरिष्ठ हुआ। धीरे-धीरे संस्कृत का स्थान बन भाषाभाषा में देना आरम्भ कर दिया, किन्तु संस्कृत साहित्य की समृद्धि का एक भी भाग आगे आगे भाषा सुनायी देना में समर्थ न हो सकी, अतः ही वह साधारण बोलचाल की भाषा न रह पायी थी और हम देखते हैं कि १७ वीं शताब्दी के आसपास तक दक्षिण भारत बंगाल देना विद्वान् संस्कृत में 'रत्न रत्न' देना अलंकृत साहित्य का चरम बिन्दु था जो नहीं छोड़ सका। ऐसी भी बात नहीं थी कि उससे कोई सम्मान न मिला था। उस रचना में तो उन्हें ऐसा सम्मान दिलाया कि 'साहबदी' देते मुसलमान बांग्लाह में आकर तो गुजरकर दक्षिण की बंदी से विभूषित भी किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य का सम्पर्क हिन्दी न किसी रूप में भारतीय जनता से हिन्दी के मध्यकालीन कविता कास तक बना रहा जिससे हिन्दी कवियों को उससे सम्बन्ध-रूप जोड़ने में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ, किन्तु विप्लव वाद यह रही कि संस्कृत के शास्त्रग्रन्थों ने काव्यग्रन्थों की अपेक्षा हिन्दी कविता को अधिक प्रभावित किया है। इसका मूल कारण यही है कि संस्कृत काव्यकास की परिस्थितियों और हिन्दी काव्यकास की परिस्थितियों में स्पष्ट अन्तर आ गया था। संस्कृत काव्यों की रचना भूमि राजपूती भारतीय राजाओं के दरबार में और हिन्दी कविता की रचनाभूमि विशेषकर मुसलमानों विदेशी बादशाहों अथवा उनसे प्रभावित सामन्तों के दरबार में। यही कारण है कि अनुवादों एवं मातानुवादों के माध्यम से कितनी सामग्रियाँ आ चलीं उनमें शास्त्र ग्रन्थों की भाषा अधिक थी, क्योंकि हिन्दी कवि संस्कृत से परिचित थे और संस्कृत की प्रभुत्व सामग्री रहते हुए हिन्दी में मौलिक काव्य शास्त्र लिखने का श्रम नहीं उठाना चाहत थे। किन्तु रच नामों के लिये आवश्यक था कि वे समसामयिक हों, जिससे मध्यकालीन विद्यार्थी समाज की पूर्ण अभिव्यक्ति मध्यकालीन हिन्दी के शृंगारी मुक्तकों में हुई है।

मध्यकालीन हिन्दी कविता के प्रथम आह्वान में संस्कृत काव्यों का भी प्रभाव उल्लिखित होता है जिसमें विद्यापति, लूट, तुलसी एवं केशव की रचनाएँ हुई हैं और उस कास में अपेक्षाकृत प्रबन्ध काव्यों की भी रचनाएँ अधिक हो चली हैं पर केशव के बाद की रचनाओं में मुक्तकों का एकदम राज-सा ही हो गया, जिनमें कुटुम्ब नीति अथवा उपदेशपरक कविताओं को छोड़कर शृंगारिक कविताओं की ही मर्याद थी; जिनके माध्यम से राजाह्वय का नाम लेकर नाविकाओं की भाव मँगियों तथा नायकों के साथ उनकी दुष्प्रतिष्ठा का ही वर्णन किया जाता रहा। मीरा तथा रसतान आदि जैसे एकाग्र कवि मते ही मित्र बावें जिन्होंने कि तन्मयता के साथ भक्तिपरक कविताएँ लिखी हैं। गद्य का तो निरान्त अभाव सा हो हा गया। शृंगारी मुक्तकों पर भी वहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है संस्कृत की ऐहिकतापरक कविताओं का ही प्रभाव है, किन्तु वर्णन दोषी एवं वाग्निदायता का पूर्णतः उर्ध्व एवं धरती साहित्य का ही प्रभाव रहा है। स्वाभाविकता इस लेख के कवियों में बहुत कम पाई जाती है। मतिराम ऐसे एकाग्र कवि मते मित्र बावें का रीति ग्रन्थों की रचना करने के साथ-साथ अपनी स्वाभाविकता का भी अनुपम रूप तक हो।

इस कास के कवियों में अपने आभ्यन्तरीयताओं की प्रतीक्षा में तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी है, किन्तु अपने सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है जिससे उनका सम्बन्ध में जानने के लिये दरबारी तन्त्रों का ही सहारा रह जाता है। कवय ग्रन्थों की मर्यादा हा गई तथा मुक्तक संवाद भी घटक अथवा संतर्क के नाम से अनेक लिखे गये। मध्यकालीन हिन्दी कविताओं की समस्त प्रवृत्तियों का समन्वित रूप मतिराम की रचनाओं में मिलत हुए भी जो उनकी अपनी विविधता स्वाभाविकता के रूप में अनुपम है, उनकी कविताओं में सर्वत्र विद्यमान है। मतिराम के जीवन कास तथा रचना-कास के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये भी अनेक समकालीन कवियों की रचनाओं तथा दरबारी तन्त्रों तक मरचना पड़ा है। मध्यकालीन कवियों में मतिराम का स्थान स्पष्ट करने के लिये समस्त मध्यकालीन कवियों

की विविध रचनाओं की सम्मुख हो रहना ही पड़ा है, इसके अतिरिक्त उस काल की प्रवृत्ति की पूर्णतः समझने के लिये संस्कृत साहित्य से उन पर थाई समस्त शास्त्रीय प्रवृत्तियों का भी संघेप में उल्लेख करना पड़ा है। मतिराम अष्टाक्षर (नायिका-भेद तथा अक्षर-वर्णन), छतसईक्षर तथा पुटकछ छन्दकार सभी रूप में हमारे सामने आते हैं जिससे मध्य-कालीन कविता के इन विविध रूपों की प्रक्षणात्मक व्याख्या करनी पड़ी है, साथ ही साथ नायिका-भेद तथा अष्टाक्षर-छात्र आदि काम्य-छात्र सम्बन्धी विषयों की भी चर्चा करनी पड़ी है।

अन्त में यह बिलम्बने का प्रयत्न किया गया है कि पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी किस प्रकार मतिराम अपनी मौलिकता का परिचय देने में सफल हो सके हैं तथा किन परवर्ती कवियों ने मतिराम की कविताओं का मोह ग्रहण किया है, वे किस प्रकार मतिराम की प्रतिमा पकड़वाने में असमर्थ रह गये हैं।



परिशिष्ट

की विशिष्ट रचनाओं को सम्मुख तो रखना ही पड़ा है, इसके अतिरिक्त उस काल की प्रवृत्ति को पूर्णतः समझने के लिये संस्कृत साहित्य से छन कर आई समस्त शास्त्रीय प्रवृत्तियों का भी संक्षेप में उल्लेख करना पड़ा है। मतिराम छन्दकार (नायिका-भेद तथा अलंकार वर्णन), छन्दसईकार तथा छुटकछ छन्दकार सभी रूप में हमारे सामने आते हैं जिससे मध्य-काव्यीन कविता के इन विविध रूपों की तुलनात्मक व्याख्या करनी पड़ी है, साथ ही साथ नायिका-भेद तथा अलंकार-शास्त्र आदि काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों की भी वर्णन करनी पड़ी है।

अन्त में यह दिक्कतने का प्रत्यक्ष किया गया है कि पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी किस प्रकार मतिराम अपनी मौलिकता का परिचय देने में सफल हो सके हैं तथा किन परवर्ती कवियों ने मतिराम की कविताओं का भाव ग्रहण किया है, वे किस प्रकार मतिराम की प्रतिमा पर कद पाने में असमर्थ रह गये हैं।



परिशिष्ट



❀ परिशिष्ट ❀

प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत दोहों की संख्या ५ कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित मतिराम ग्रन्थावली के अनुसार ही है। मतिराम सतसई में एक दोहा दो बार छिपा मिछता है जो क्रम से संख्या ४ ७ और ६११ पर लिखा गया है। यह भूल सम्मान रूप से प्राप्त मतिराम सतसई की सभी प्रतियों में रह गयी है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं व्यन पड़ती। मैंने इस दोहे को एक बार ही छिपा है, जिससे आशीर्वाद के दो दोहों को छोड़ कर सतसई की संख्या बट कर ७०० ही रह गई है। सतसई का दोहा न० ५१० अपूर्ण ही मिछता है जिसे मैंने क्यों का क्यों रहने दिया है। 'रसराज' और 'संस्कृतसंग्रह' में उद्धृत दोहों के सामने ग्रन्थ का नाम और उनमें किस उपाहरण के छिपे हैं छिपे गए हैं, स्पष्टतः लिखा दिया गया है जिसकी अनिवार्यता के छिपे ही ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में मतिराम सतसई का सम्पादित करना पड़ा है। रसराज के छिपे (१०) और संस्कृतसंग्रह के छिपे (७०) ही लिखा गया है।

मतिराम सतसई

ईदना

मो मन वन-सोमहि हरी राधा का मुख-चंद ।
बड़े जाहि छवि सिंधु सौं नैद-नंदन आनंद ॥ १ ॥
मुंज गुंज के द्वार पर, मुकुट मोर पर पुंज ।
कुंजबिहारी बिहरिये मेरई मन कुंज ॥ २ ॥
रतिनायक सायक सुमन सब अंग ओतनवार ।
कुहल्य बल मुकुमार वन, मन कुमार अंग मार ॥ ३ ॥
राधा मोहन छाछ को जाहि न मावत भइ ।
परिधी मुठी हजार इस वाकी आँखिनि रोइ ॥ ४ ॥

मुदरी वर्णन

मागरि-नैन-कमान-सर करत न पसी पीर ।
जैसे करत रँवारि के दग-यनुही के तीर ॥ ५ ॥
वन रोषित रोचन सहे, रंजन कंचन गोपु ।
पिया पिया पासो दिया, छिया छिया अंग होतु ॥ ६ ॥
मुख को मुनो पुरान यो, योगनि बछो निहारि ।
बाहि-बाहि जुग माह मुख मुसिक्यामा मुख मोरि ॥ ७ ॥
बंद चौक सोमंत की बेठी गौठि जुराह ।
पेलि परीसी को, पिया मृपुट में मुसिक्याह ॥ ८ ॥ देता रसराज ७०५१५५

गुरुजन बूजे क्याह कौ, प्रति दिन कहत रिसाह ।
 पति की पति राखै बहू, आपुन चौंस कहाह ॥ ९ ॥
 बरपा रितु बीतन छगी, प्रति दिन सरब चखोवि ।
 छहछह कोवि जुबार की भरु गैबारि की होवि ॥ १० ॥
 नय बिरह-अँसुपानि की छिन-छिन होत चखोव ।
 अँसुपानि जग्यो अपार बह सन-पानिप की सोव ॥ ११ ॥
 नबख नेह में तुहुनि की छसी अपूरब बात ।
 क्यों सुखति सब वेह है, क्यों पानिप अधिकाव ॥ १२ ॥ वेसो २० तथा अछित०
 कत सबनो है अनमनी, अँसुबा भरति ससंक ।
 बने भाग नैवछछ सौ, झूठहु छात कलंक ॥ १३ ॥

वेसो रसराव उ० शिष्या तथा अछितककाम उ० ऐस ।

अबगुन वरनि सराहनो क्यों-क्यों ग्याछिमि धरि ।
 क्यों-क्यों हरि तन हेरि हँसि हरपति महरिहि चेहि ॥ १४ ॥
 छगनि छनो छोचन छले कासों मोहन छल ।
 करि सनेह वा माछ सों सिखै सकल प्रभ छल ॥ १५ ॥
 तेरी बीरे माँति की दीपसिखा-सो वेह ।
 क्यों-क्यों दीपति कमलगै, क्यों-क्यों पाइत नेह ॥ १६ ॥
 पानिप में पर मोन को कहत सकल संसार ।
 हग-मैननि को देखियत पानिप पारावार ॥ १७ ॥
 वेसैं वानिक आमु की, बारों कोवि अनंग ।
 मछो चख्यो मिछि सौँबरे जंग रंग पद रंग ॥ १८ ॥ उ० उ० परिकल्पक ।
 अबहो सब ह्रम हेरसी हँसि-हँसि बावनि पागि ।
 मेरे बितवत नेकही प्रभ मैं छगति आगि ॥ १९ ॥
 पगी प्रेम नैवछछ के, भरन आपु कछ चाह ।
 घरी घरी घर के तरै वरनि देवि हरकह ॥ २० ॥
 छपटानी अति प्रेम सों वे हर हरब कर्तग ।
 घरी एक छगि छुटे हैं, रही छगो सो जंग ॥ २१ ॥ वेसो रव० उ० प्रीदा ।
 नींद, भूख भरु प्यास तबि करयो हो वन राज ।
 बहसाई दिन पूजिहैं क्यों मन के अभिछाव ॥ २२ ॥
 बाबक सों रागी पगनि हरित नगम अँगुरोन ।
 बाबक सों रागी पगनि, मनु कीनो परबोन ॥ २३ ॥
 प्रानपियारो पग पय्यो, तू म छखत यहि ओर ।
 ऐसो हर जु कठोर, वी सचिरे सरजु कठोर ॥ २४ ॥

वेसो रसराव उ० शिष्या-बाब तथा अछितककाम उ० हि० सम ।

छपकौही-सो लंक हर, सबकौही-सो येन ।
 जिहसीहै-से बधम मैं छसत मचोहैं नैन ॥ २५ ॥

क्यों-क्यों परसे छाछ तन, क्यों-क्यों राखति गोद ।
 मबछ बधू छाजन छत्रि ईषुबधू सो होइ ॥ २६ ॥ ख० उ० नवेदा ।
 नबछ बधू के संग में बहिवी पाठ दिताति ।
 ताही सौंसनि के छो छोछी अति सिधराति ॥ २७ ॥
 सुनति है वह सुंदरो कनक बेसि अभिराम ।
 बाधे तपनि मिटै, सु रस बरसो घन घनश्याम ॥ २८ ॥
 मंदछाछ कहिये कहा छछो अपूरण द्वार ।
 गुन बिहीन किमुछनि की तिन मधि मुकुट मुपार ॥ २९ ॥
 नैन बिसारे जान सों पछो बटाछइ मारि ।
 बचन सुपारस सीषिके बाहि जोब दै नारि ॥ ३० ॥
 हन्यो मोहि छहि नैन सों, नैननि कियौ अपेय ।
 कादि बहुरि विष आपनो क्यों विषपर हर छेत ॥ ३१ ॥
 तेरी मुख समता करी साहस करि निरसक ।
 बुरि परो भरविह मुख, पंदहि छग्घा कछक ॥ ३२ ॥
 छेछत मार सिकार है छोरे पास समेत ।
 नैन मृगन सों बांधि के नैन मृगन गहि छेत ॥ ३३ ॥
 मृगपति जित्यो मुछक सों, मृगछछन मृदु हास ।
 मृग मद जित्यो मुनैन सों, मृगमद जित्यो मुवास ॥ ३४ ॥
 छपै छपाय अब नही, मैं पायो छलि अंक ।
 नाहिन जु पै कछक ही कैसे बदन सरसक ॥ ३५ ॥
 बाँसठि कछा बिछासजुत बदन कटानिधि पेलि ।
 दुतिषा को देखै कछा को दुति याक्ये देखि ॥ ३६ ॥
 पावे पेपन आपनो, कहे कुट्टक कीन ।
 सोनो सोनजुही छहे छवित रह दुति सोन ॥ ३७ ॥
 तामे अनमिष नैनता किए छाछ बस एन ।
 अनमिष नैन मुने न ए निरखत अनमिष नैन ॥ ३८ ॥
 नारि नैन के नीर को नीरधि बदे अपार ।
 जारे जौन दियोग की बड़बानछ को द्वार ॥ ३९ ॥ ख० उ० ।
 आवरूप रूपहि छराति पोषत प्रभु मन एन ।
 निपट निहारे निछत्र ए छानि हमारो नैन ॥ ४० ॥
 रोस न कर जी तजि बस्यो जानि अंगार गंगार ।
 छितिपावन को माछ में रोही छाछ सिंगार ॥ ४१ ॥
 कहा भयो महिराम दिय, जो पदिरी नैदछाछ ।
 छाछ मोछ पावे मही छाछ गुंन की माछ ॥ ४२ ॥
 गुन श्रीगुन को वनछक्र प्रभु महि करन बिचार ।
 केवळ इमुमन आदरत हर मिर परत बपार ॥ ४३ ॥ ख० उ० अर्पणायाम ।

माछ छाछ बेदी दिए बटे प्रात अछसात ।
 बोनी छाभनि गढ़ि गई, छे छोग मुसकात ॥ ४४ ॥
 ओ तें पहिरे सुंदरी, सो दुति अभिक चबोतु ।
 तेरे सुबरन रूप तें रूपा सुबरन होतु ॥ ४५ ॥
 भने धैप्यारी रैनि मैं मयो मनोरण काज ।
 पूरे पूरब पूर्य तें पय्यो परावन आस ॥ ४६ ॥
 निख बछ के परिमान तुम तारे पवित बिसाछ ।
 कहा मयो जु न होँ सरसु, तुम न बिसाहु गुपाछ ॥ ४७ ॥
 कर धरि कधि कंठ के बरल छतपटी चाछ ।
 बकित करति पमिकनि सबनि बकित पंथ मैं बाछ ॥ ४८ ॥
 नेकु न बाक्य पंथ में, बडै सु कोस ह्वाार ।
 बचछ छेइनि-इपनि पर भय जात असवार ॥ ४९ ॥
 छवित नाक मयुनो बयो चुनो रही छछपाव ।
 गजमुक्कति के बिष परयो, कहो कहौ मन जाह ॥ ५० ॥
 झूठे हो ब्रह्म में छयो मोहि कलंक गुपाछ ।
 सपने हूँ कबहुँ दिए छो न तुम नैवछाछ ॥ ५१ ॥ रस उ० मोहरत-हाव ।
 चंद-किरनि छगि बाछ वन छठे अंग अति जागि ।
 परसत कर दिनकर किरनि, क्यों वरपन मैं आगि ॥ ५२ ॥ रस उ० प्रोढ़-प्रापित० ।
 इसा सुने निख बाग की छाछ मामिहो झूठ ।
 पाबस-रितु हूँ मैं छहीं जाड़े ठाढ़े ठूठ ॥ ५३ ॥
 धरनि-किरनि झळमळित मुख, छाछो छवित कपोल ।
 प्यास जगावति हगनि मैं प्यासो पाछ अमोल ॥ ५४ ॥
 छाछ तिहारे संग मैं लेछे लेछ पछाह ।
 मूँषव मेरे नैन हो करनि कपूर जगाह ॥ ५५ ॥ रस उ० अस्वभाव्यना ।
 छेछत चोरमिहोचनी परे प्रेम पहिचानि ।
 जानी प्रगटत परस तें विष छेचन पिय पानि ॥ ५६ ॥
 छेछत छेछ ससीमि मैं छठे धूरि अबगाहि ।
 पछक न छगत पक पछ इतै नाह मुख चाहि ॥ ५७ ॥
 निबर बटोही बाट में छलनि लेख छसारि ।
 अरे गरीब नैवार तें काहे करत चजारि ॥ ५८ ॥
 मेरे सिर कैसो छमी, यों कहि चौधी पाग ।
 सुंदरि रति बिपरीति में प्रगट कियो अमुराग ॥ ५९ ॥ रस उ० अस्वभाव्य ।
 नहिँ सुहाइ परगोव है गोव आपसो पाह ।
 बिहा करी कुछ-छानि को मैननि नैन बसाह ॥ ६० ॥
 प्रोपम हूँ रितु मैं अरो तुहुँ कूछ पैराह ।
 छार बछ की बहति है मदी तिहारे गाँव ॥ ६१ ॥

हियो हिए सों मिछि बस्यो, नैन बले मिछि मैन ।
 इते इते मारो फिरे, छात्र कहूँ ठहरे न ॥ ६२ ॥
 पसिबे को मित्र सरवरनि मुर बाको छलपाहि ।
 सो मराछ बक-वाछ में पैठन पाबत नाहि ॥ ६३ ॥
 लट्ठव था घन को विमिर, मो पै बछो न जाइ ।
 ज्यों ज्यों मनिरगन जगमगत, त्यों-त्यों अति अधिकाइ ॥ ६४ ॥
 कहा इवागिनि के पियै कहा घरें गिरि पीर ।
 पिरहानछ में बरत जो यूँवत सोपन मोर ॥ ६५ ॥ अ० ३० वंशम प्रतीव ।
 सतरीदो मौहनि मही घुरे घुराप नेह ।
 होति नाम नैदछाछ भी दीपमाछ सी बह ॥ ६६ ॥ अ० ३० सविता ० अ० ५०
 सूखी सुता पटेछ की सूखी छलनि पेरि ।
 जय पूछी-पूछी फिरै पूछी भरहर बसि ॥ ६७ ॥
 जपछ बिच बेपो निरसि, बाही हरनि घुरावि ।
 नैन घान वै देखि के छात्र मही ठहरावि ॥ ६८ ॥
 भले एक मन ही गयो सज्जनता को नेम ।
 हगनि मारि पायछ कियो, तासों बाँधत प्रेम ॥ ६९ ॥
 कोटि-कोटि मतिराम कहि जवन करो सब कोइ ।
 फाटे मन जरु दूष में नेह न कपहुँ होइ ॥ ७० ॥
 पानिपयूख पयोधि में भेक नही ठहराइ ।
 नैन मीन ए पछक में मन जहाज गिछि जाइ ॥ ७१ ॥
 पानिप पूर पयोधि में रूप आछ बगराइ ।
 नैन मोन ए नागरनि बरबट बाँधत आइ ॥ ७२ ॥
 कंक काइत छल की चंपक जाइ निबाहि ।
 चरन सैंपि छीनो विद्या ईसि सूठ करि आदि ॥ ७३ ॥
 सुबरन चरन सुपास जुठ, सरस दसनि मुकुमार ।
 ऐसे चंपक कौं वर, ने ही मौर गैवार ॥ ७४ ॥ अ० ३० प्रद्युम्नपुर ।
 इरे हूँ बिन देखि हूँ छगी रहै अति आस ।
 कैसे हूँ न पुसाति हे, ज्यों मक्खे को प्यास ॥ ७५ ॥
 समिन हियो उपदेस जो, नहि कैसेहुँ ठहराव ।
 मबछ नेह पित थोकन टरकि होय छौं जाव ॥ ७६ ॥
 सौहनि करि पौहनि परपा तरे रिखै ब्योति ।
 माह नेह तोमें छयो, ए बत स्त्री होति ॥ ७७ ॥
 भौहनि संग बड़ाहपो कर गहि बाप मनोज ।
 माह नेह सायहि बड़पो छोचम छात्र बरोज ॥ ७८ ॥
 छईअ पीर जनाइ के करि मिछाप की आस ।
 मन बड़ाव अजहूँ रहे, ईको छरी बसास ॥ ७९ ॥

नैन मिछी मन हूँ मिछी, बावनि मिछी बनाइ ।
 क्यों न मिछावति देह सौं नेह-राखतो छह ॥ ८० ॥
 छाय छुटो, गोहो छुट्यो, सुख सो छुट्यो सनेह ।
 सखि कहियौ पा निठुर सौं, रही छुटिबैं देह ॥ ८१ ॥
 छुरबन ये निरिख रहैं, गुरुबन गारी देव ।
 सहियत बोळ कुयोळ प, छळ तिहारे देव ॥ ८२ ॥
 छनो छत के बाळ प, छनो छसत इहि भौन ।
 बानि छह-रबनो मनो कियो नखत-गान गौन ॥ ८३ ॥
 मेरे तन के रोम प, मेरे माहों निदान ।
 छठि आवर अगमन करैं, करैं कौन बिधि मान ॥ ८४ ॥ रस० ३० म० नादिका ।
 छनमिछ छेचन बाळ के, पातैं नंदकुमार ।
 गई बीच परसत पबारि बिरहानछ की द्वार ॥ ८५ ॥ रस० ३० कदवा ।
 बछड़ निहासी रैन दिन, रहे नैन द्वारि छागि ।
 बादति छाति बियोग की बिछुठ की-सी आगि ॥ ८६ ॥
 - सौर मूत नूतन रहै, देखि धरैं क्यों धीर ।
 मनो मनोब महीप के सीरनि मरे मुनीर ॥ ८७ ॥
 दिपै देह वीपति गयो दोष बबारि बुझाइ ।
 अंचळ ओढ किए तरु चली मयेछी बाइ ॥ ८८ ॥
 ऐसे बोळो धोळ बलि, ऐसे पाहि सुहाव ।
 बेछि मयेछो कनक की झुकति तनक ही पाव ॥ ८९ ॥
 सारी छटकति पाट की, बिछसति कुंदी छिछार ।
 मनो रूप-अदिर बैसे सुंदर पदमवार ॥ ९० ॥
 पति आयो परदेस तें, हिय हुछसी अति बाम ।
 टुक टुक कंचुक कियो करि कमनैसी काम ॥ ९१ ॥ रस० ३० आगतपतिप्र ।
 छळ तिहारे नैन सर अचिरब करत अचूक ।
 बिम कंचुक छेदै करैं छाती छेव छटुक ॥ ९२ ॥
 पिप के दरपन में निरखि प्रतिबिम्बित निम रूप ।
 बाळ छळ मुख छलि मई रिख मरि मई अमूप ॥ ९३ ॥
 और बाळ कहिये कहा, सुमिये नंदकुमार ।
 बिरह आंच संचि मय पाके बंक बैंगार ॥ ९४ ॥
 छलित छाह की छटप-सी चली जाति जई मारि ।
 बिरह-अगिनि की द्वार तहैं, मारि आव होकारि ॥ ९५ ॥
 बहौ तहौ रिदुराज मे फूले किछुक-बाळ ।
 मानहु मान मर्तग के, अंकुश-छोह छळ ॥ ९६ ॥
 बिठैं सिधिर रिदुराज के मधुर प्रताप सुपैन ।
 बाम्यो नैन महीप मुनि पिक बंदिनि के नैन ॥ ९७ ॥

होत इसगुनो अंकु है दिई एक ज्यों बिंदु ।
 दिई दिठोना यों बड़ी आसन आमा इंदु ॥ ९८ ॥
 तू सोने को सटक है, रही और गुन पागि ।
 पिन छागे पीरहि करे, रहे पीर पर छागि ॥ ९९ ॥
 मान बनाबति सबति को, मन म मान को ठाट ।
 बाळ मनाबन को छरे छाळ विहारी बाट ॥ १०० ॥ रसयत्र उ० कपुमान ।
 नखवाबलि नख, इंदु मुख, वनु दुति दीप अनूप ।
 होति निसा नैश्याळ मन कहे विहारो रूप ॥ १०१ ॥
 इते-इते सचकिठ बिठे चले हुआबति बाँह ।
 बोठि बचाइ सखीन को छिन इक निरखति छाँह ॥ १०२ ॥
 सौझ समै बा छेळ की छछनि करी महि माइ ।
 बिन डर बन डरपाइ के छियो मोहि पर छाइ ॥ १०३ ॥ २० उ० कियान्दुर ना०
 रावि भँप्यारो हसकि मुकि हँठे हो मय मागि ।
 छछिड बाळ मन माळी, रहो छात्र पर छागि ॥ १०४ ॥
 हम सों तुम सों छाळ इत नैननि ही को नेह ।
 एत प्यारो के हगनि के छछिड सोचियत बह ॥ १०५ ॥ २० उ० प० संख्या ।
 छितबार यह मार सों अकस करो छिन चेह ।
 मामिनि बाँह कमान के गोसा ही गहि सेह ॥ १०६ ॥
 मुषा मधुर तेरो अपर, मुम्बर मुमन मुर्गप ।
 पोब जीब को बंध यह, बंध जीब को बंध ॥ १०७ ॥ २० उ० प्रीता स्ना०
 पग बराह को गूजरो, मयुनी मुकुट मुदार ।
 घने घेर को घोंघरी, घूंघरवादे बार ॥ १०८ ॥
 बंदन विखक छिछार में ऐसी मुख छवि होति ।
 रूप भीन में जगमगे मनो दीप को ज्योति ॥ १०९ ॥
 मन में नैननि को जखी, नैननि से मन काज ।
 है दीपक को छाँह को बीच बिछानी छात्र ॥ ११० ॥
 पीन पयोधर-भार यह घरे छिन कटि ऐन ।
 छाटे मुख में छसत हैं बड़े-बड़े ए नैन ॥ १११ ॥
 तेरे मुख की मधुरई जो बायो बख बाहि ।
 छाग बछत्र जंजीर-सो बंध पूर-सो ताहि ॥ ११२ ॥
 तेरो मुख छवि छरि छरी होत बंध ता मुख ।
 बंद छाह के बसिए ज्यों रुखे को पूर ॥ ११३ ॥
 निज नीचे को निरमि निव डेचे होत बरोज ।
 याते मुख के होत है नीचे मैन-सरोज ॥ ११४ ॥
 ज्यों-ज्यों डेचे होत है बरज बाळ के ऐन ।
 सब सौखिम के होत है र्यों-र्यों मोचे मैन ॥ ११५ ॥

जब-जब बढ़त जठामि पिन थंयमुकी यह नाम ।
 तब-तब धर-धर भरत हैं दीप बारि सब गाम ॥ ११६ ॥
 छबत परस्पर हेर के राधा नंदकिशोर ।
 सबमें बेई होत हैं चोर-मिहचयी चोर ॥ ११७ ॥ रस० उ० संयोग० ।
 लंबन कमल चकोर अछि जिते मोन सुग ऐम ।
 क्यों न बढ़ाई को, छई तरुनि तिहारे मैन ॥ ११८ ॥
 बँसुबा बरुनी है चकत बछ पावर के रूप ।
 जमल कपोलनि श्री शङ्कर शङ्कति दीप अनूप ॥ ११९ ॥
 कुन हैं मम बछभार चछि मिछे रुमावछि रंग ।
 मनो मेरु के तराही मनो सितासित संग ॥ १२० ॥ रस० उ० मध्या ।
 सरदागम पिप-आगमन, जगी जोति मुख ईशु ।
 धंग अमल पानिप मयो, फूले दग अरविदु ॥ १२१ ॥
 मो मन सुक छौं चढ़ि गयो, अब क्यों हैं न पत्याइ ।
 बसि मोहन बनमाछ में रखो बनाछ बनाइ ॥ १२२ ॥ रस० उ० अभिषेक ।
 बेदी छछि मसूर श्री छसति सछोने भाछ ।
 मनो ईशु के अंक में ईशु-कामिनी अछ ॥ १२३ ॥
 फिदि फिदि आवत द्वार में सूठे सुकि अछसावि ।
 छेति आगि तितनो बहु, जो बीचही जुसाति ॥ १२४ ॥
 जमल कपोलनि मैं अरुन शङ्कनि पीछ अनूप ।
 छटी मनो रवि-किरम सौं आगि छपट के रूप ॥ १२५ ॥
 बार-बार बा रोह सौं बारि-बारि छे जाति ।
 काहे तैं बिन बात ही बावी आगु जुसाति ॥ १२६ ॥
 मोठि-मोठि आगे परे, पैगु परपौ जनु फंद ।
 को न होति गति मंद है छकि तेरी गति मंद ॥ १२७ ॥
 नैम जोरि मुख मोरि हँसि नैसुक नेह बनाइ ।
 आगि छैन आई, हिये मेरे गई सगाइ ॥ १२८ ॥ रस० उ० उपपत्ति ।
 सुबरन बेछि तमाछ सौं धन सौं दामिनि देह ।
 सुंरावति धनस्याम सौं राखे सरस सनेह ॥ १२९ ॥
 है सौंभो कैथी मयो मेरोई मति मंग ।
 आनु बढ़छि काहे गयो बढ़छि बसन तम रंग ॥ १३० ॥
 सुरत अंत मुख अमित है मोर मय निधि आगि ।
 जर सोई छागी ज्यों, जो जर सोई छागि ॥ १३१ ॥
 हूनी मुख में छवि मई, बेसरि परी ज्यारि ।
 हरि के जर सोई छागी, करति रसोई मारि ॥ १३२ ॥
 जब हैं मिछि बरुनीनि सौं अछिजन श्री छवि अछ ।
 बलु अबनीप अर्नग के तरछ तुरंग सपच्छ ॥ १३३ ॥

ससत बूँद जँसुवानि के बरुनिमि छोर छवार ।
 एग तुरंग मूलनि मनो, हलकत मुकत मुहार ॥ ११४ ॥
 मानहु मै बिन मूपननि धरति अधिक छवि अंग ।
 नैन तरंगनि तँ भय तरल तुरंग तुरंग ॥ ११५ ॥
 क्यों क्यों छवि अधिकाति है नथल बाल मुख ईदु ।
 क्यों-क्यों मुरझत सीति की भ्रमल वदन अरबिदु ॥ ११६ ॥
 अंजन सुत जँसुवानि को पार पसति जुग नैन ।
 मनो होर मलदूख के बाँधे खंजन नैन ॥ ११७ ॥
 बिंदु ससत जँसुवानि के छाळ मय एग कोर ।
 देखें बिन पिय बंद-मुख बिनगी भुगत बकोर ॥ ११८ ॥
 सपने में छाछन बछत छलि रोई अकुआइ ।
 आगत है पिय दिय छगी, हिलको तळ न आइ ॥ ११९ ॥
 पिय-आगत सुनि बाल तन बाँधे हरल बिटास ।
 प्रथम बूँद बारिद छई, क्यों पमुमती मुपास ॥ १२० ॥ २० अ० आगतपति ५ ।
 बाँके मन में आमियन, कोऊ छगी समाग ।
 कहत गान बिन अरय की प्रगट अरय अनुराग ॥ १२१ ॥
 छाप तरौना-नखनि की सोवत छगी कपोल ।
 मनो मदन की मोहनी मूँगा माळ अमोल ॥ १२२ ॥
 मोकों तुम क्यों कहति हो ते गुपाल का नौई ।
 रिस मिस नेह गोबिंद की कहति फिरँ मय गौर ॥ १२३ ॥
 नर नारो सब जपत है पर-पर हरि को मौँव ।
 मेरे मुख धोसैं बरत, बरत गात्र अज गौर ॥ १२४ ॥
 पगनि परे पिय पोठ पर परे नैन बल दृष्टि ।
 सीखी मनो सनेह-रस, गयो मान मय छुटि ॥ १२५ ॥
 पगनि परयो छलि प्रानपति, बियो मुगध-तिय रोइ ।
 कज्जल छल मन मखिनता स्थाप जँसुवा घोइ ॥ १२६ ॥
 ईदु बपल हर बाल की कठिन माम में होत ।
 इरो बिन कैसें इवे तो मुख ईदु बरोत ॥ १२७ ॥
 मौँद बोप तिल तनक-से सोहत मुखभा सँधि ।
 दियौ डिठौना रीझि सों, मानहुँ बिरधि बिरधि ॥ १२८ ॥
 बछत अछ के मैं कियो मज्जनी दिया परान ।
 कहा करो हरकत मही भरे बियोग कमान ॥ १२९ ॥
 बहो रहे प्रतिदिन अटा, सगि सनेह मुख सोरि ।
 छोचन पियत पियूष है, प्रेपि प्रान पिय पौरि ॥ १३० ॥
 कहा एपावति मुगध तिय बोति जातुरो बोळ ।
 कहैं देत अनुराग की धीरति कछि कपोल ॥ १३१ ॥

वरसाइति वर को चहुँ, बहु बिधि पूजि बिसेसि ।
 पूरत है मनकाम को काम तरोवर छेसि ॥ १५२ ॥
 सहस्र बात बूझत कुसुम बिहसि नवाई मोष ।
 तरुन द्विजे तरुनी वई नई नेह को नीब ॥ १५३ ॥
 करति मनोरथ बहु बहु इगनि अनन्य छोडत ।
 कठव सीतलायत सखी, सीतल हीतल होत ॥ १५४ ॥
 बड़ा होम राधा मई, मुनिप नंदकिशोर ।
 दोपदिखा छौं देखितत बारि बबारि झकोर ॥ १५५ ॥
 निसि-दिन निदति नंद है, छिन छिन सामु रिसाति ।
 प्रथम भए सुत को यह अंकहि छेति छयाति ॥ १५६ ॥
 कुसुम खेत को खेद सब कहत विहारो रूप ।
 डंभी छेद वसास धन, प्रम-बल-कछित अनूप ॥ १५७ ॥
 बाँधत कुसुम कुसुम के रहे छागि अमिराम ।
 कंदक छत छतियाँ कपै, क्यों न छपावति नाम ॥ १५८ ॥
 जानति हों बा खेत सों लाई बोन कुसुम ।
 कछित कंदकनि कायकुल, कुसुम कछित कुच कुंम ॥ १५९ ॥
 जानति खेत कुसुम के तेरी प्रीति अमोख ।
 चुमव करनि कंदकनि ली, कत कंदकित रूपोख ॥ १६० ॥
 अब तेरो बसिबो इहाँ माहिन उचित मराख ।
 सकल सुखि पानिप गयो, ययो पंकजय ताख ॥ १६१ ॥
 तिय पग पिये जैगुरी परसि मो घर आनंद-जानि ।
 क्यो सु परि पिय पीठि पर मुचा-सीठ जैसुबानि ॥ १६२ ॥
 बिहुरत रोषत हुहुनि की सखि यह बात छली न ।
 हुक जैसुबा पिय नैन में सुख जैसुबा तिय नैन ॥ १६३ ॥ स्तव्य उ० मुदिता ।
 पग परिवो मुरि बेठिबो, यहै तिहारे काज ।
 हुनई मनावन की नई, इहै नाम को अज ॥ १६४ ॥
 परसत हो बाकी मई तन करव की माक ।
 रघो कहा परि पगनि में क्यों न अंक मरि छाक ॥ १६५ ॥
 नोख नखिन बल सेज में परी सुवनु वनु रेह ।
 छसे कसौटी में मनो तनक कनक की रेह ॥ १६६ ॥
 मुख नीचे ऊँचे कसे तरुनि घरज घर माँह ।
 मनो मुदित मन कोक जुग पाह कोक-भद छाँह ॥ १६७ ॥
 पिय-अपराध अनेक निज आँखनि हूँ छलि पाह ।
 तिय इकंत हूँ कंत सों मागो करति छात्राह ॥ १६८ ॥ स्त० उ० छप्पा० ।
 तो रसु रास्यो रैन-दिन मुख-समुद्र के सोत ।
 बाही हैं सौखीनि के ये अनखहु छत होत ॥ १६९ ॥

निसि नियराति निहारियति इनछे मुख भरबिंदु ।
 सली एक यह देखियत तेरोई मुख ईंदु ॥ १७० ॥ रा० उ० मय्या०
 उदियारी मुख ईंदु को परी कुपनि सर आनि ।
 कहा निहारति मुगध तिय पुनि-पुनि चंदन आनि ॥ १७१ ॥ रा० उ० भ्रांति
 दुबराई गिरि सातु है, फंकन कामिनि बाँह ।
 लपकेस न ठहराव क्यों दुरजन के उर भाँह ॥ १७२ ॥
 मन रे सुनिय छाछ यह तमक तरुनि की बात ।
 अँसुका उड़गम गिरत है, होन कहत लतपात ॥ १७३ ॥ देसा लखन
 कहति आपु हो येन है ऊँस पियूष रसाळ ।
 कित मोडति कोकिल अली, पुनि-पुनि बूझति बात ॥ १७४ ॥
 भिनमें निस-दिन बसतु है ह्रम पन सुम्बर नाह ।
 क्यों न चढे तिय दग तितैं बहुल बाह परबाह ॥ १७५ ॥
 अलख स्याम निज नाम यह करत कहा इत आपु ।
 जा सर नेक बसो, करी ताही के तन सापु ॥ १७६ ॥
 दिस दिस विगसित माळवी निसि नियराति निहारि ।
 ऐसे अवतु-अराम में भ्रम-भ्रम और निवारि ॥ १७७ ॥
 नारि-नैन की मीर अंस तरुनी सीर उरंग ।
 बहत सरित परवार के गिरत एक हो संग ॥ १७८ ॥
 बाव सखिनि को सोखैं हैं मान न जानति ठामि ।
 पिय दिन अगमम मौन में बेठी भाँहति तानि ॥ १७९ ॥ रा० उ० मु० राठिया
 परिहर पंकज के किरँ मैनि राख बिसास ।
 मैन मित्र, मंत्री मिरग, दंडन किए लबास ॥ १८० ॥
 छाछ जनायो मैं तुम्हें छागन कहत कटक ।
 चंद-मुगी वह चंद सों अब पितवत निरसक ॥ १८१ ॥
 बदे हमारे दग क्यौ, तुम कहि सखी मुमैं न ।
 पिय-नैननि भीतर सदा बसत तिहारे नैन ॥ १८२ ॥
 आमा तरिबन छाछ को परो कपोलनि आनि ।
 कहा छपावति जसुर तिय बँध बँधलत आनि ॥ १८३ ॥ रा० उ० अ० रा० उ० प०
 गहि कोमलता सरसता सोनो होइ मुग्धु ।
 तपई कबहुँ होइ सखि, तेरे तन को बंधु ॥ १८४ ॥
 दुरा दोने हैं सुजन जन छोड़त निज न मुदस ।
 अगल हारियत आगि में, करत मुबामित केस ॥ १८५ ॥
 तू राखो करि छाछ है निज घर में बनमाळ ।
 ते राख्यो करि छाछ है बँटमान की छाछ ॥ १८६ ॥ देसा लखन
 अरी जोगद को जोति यो छपै जट्ट की छाँह ।
 मनो छीरनिधि की चटे छहरिछहरि छिति भाँह ॥ १८७ ॥

अमिनब जोबन जोति सों जगमग होत बिछास । ।
 पिय के तन पानिप बदे, पिय के नैननि प्यास ॥ १८८ ॥ र० उ० सु०, उ० उ० सु०
 बासम को पानिप धठायी तन पानिप की आस ।
 मिटी पयिक की बदन तैं, छगी इगमि में प्यास ॥ १८९ ॥
 दिनकर-तनया स्याम बछ छे घट भरे बनाइ ।
 ताके मर गरुष भए हरपै धारति पाइ ॥ १९० ॥
 भय्य सुम्बो परदेस को, हियरो रखो न ठौर ।
 छै माझिनि मीदिहि दियो नव रसाळ की मौर ॥ १९१ ॥ र० उ० पर म० मे०
 प्यो राख्यो परदेस तैं करामात अथिछाइ ।
 कन्क कळस पानिप भरे, सगुन छोज दिखाइ ॥ १९२ ॥ उ० उ० विशेषोक्ति
 सुम्बो भाइके तैं बहु, आयो बामन कंत ।
 कुसळ पूछिबे के मिसनि कीनो बोल हर्षत ॥ १९३ ॥ र० उ० पर० आ०
 भम-बल-कन झलकन छो बलकनि कलित कपोल ।
 पलकनि रस छलकन छो, छलकन छोजन छोल ॥ १९४ ॥
 गौने की चरचा चहै, दिवै तहाँ चित बाळ ।
 अधमूषी अँलियनि सों गूँधी गूँदति माळ ॥ १९५ ॥
 सखी तिहारे नेह के होत परहि घर घेर ।
 पीवस तन पानिप परे, फेळि रखो चहुँ फेर ॥ १९६ ॥
 हूँ न करति मन भौषटी, रति विपरीत विचार ।
 हेरे सूखे सुरत में विछियनि को छनकार ॥ १९७ ॥
 कइति सौँव हूँ भौषटी मेरे चित अति प्रीति ।
 किये बिना विपरीति रति हिए न होति प्रीति ॥ १९८ ॥
 दानवीर-रस के सखी, तेरे नैन-निकेत ।
 दान समें सम-दान है, ईसि जगाइ कहि देत ॥ १९९ ॥
 रोस किए कैसो करे सखी तिहारे नैन ।
 सहज मधुर मुसिक्यानि में हसत मानसनि येन ॥ २०० ॥
 चंचळता हो चकनि की कही न जाइ बनाइ ।
 झिई चाहि चंचळ महा चिटी अपछ छे लाइ ॥ २०१ ॥
 तेरे अंगनि छाछ छवि मुख मयंक मुख पाई ।
 त्यो चकोर छवि छाछ के क्यों न बाळ छलजाई ॥ २०२ ॥
 नंदलाल के रूप पर रीझि मूँरी एक चारि ।
 अधमूषी अँलियनि वई मूँरी प्रीति उपारि ॥ २०३ ॥ र० उ० प्रसंग
 कोपनि तैं किसलय अबे होई कबिन तैं कौळ ।
 तबै चलाई चखन की चरचा नायक मीळ ॥ २०४ ॥ र० उ० मी० प्र० उ०
 कामिनि वामिनि दमक-सी, धरनि कीन पै जाइ ।
 झीठि नहीं ठहरावै, झीठिन हो ठहराइ ॥ २०५ ॥

राखी हिम जागति रहे, अगिनि लगनि की मोहि ।
 मो हिय में तू बसतु है, औष न पहुँचति सोहि ॥ २०६ ॥
 चखन छगी अँलिया चपल, चखन छगी छलि छोह ।
 तन खोवन आवन सम्यो मन भावन मन मोह ॥ २०७ ॥
 बिन देखें दुख के चखें, देखें मुख के जाहि ।
 कहो छाल बन हगनि के अँसुषा क्यों ठहराहि ॥ २०८ ॥
 बरसाइति में सप्रिनि इठि साजे अंग सिंगार ।
 पछिछे कंचन आभरन लगनि अगिनि की झार ॥ २०९ ॥ स्वयं उ० अ०
 झारि तिहारे नेह में अगिनि लगनि की मैन ।
 हठफति पाके मान सें छाल सछोने नैन ॥ २१० ॥
 कीन बसत है कीन में, पों फटु कही परै न ।
 पिय नैननि तिय नैन है, तिय नैननि पिय नैन ॥ २११ ॥
 छाल पाछ को घर कठिन, घरबनि निपट कठार ।
 चादि छेदि सीसन गई तेरी ईछन कोर ॥ २१२ ॥
 बाल निहाळ भई छरै छलित छाल मुख ईदु ।
 मनु पियूष बरपा भई, नैननि झलके बिंदु ॥ २१३ ॥ ग० उ० व०, ल० उ० गु०
 तिय हिय जो पहुँचि पही सीगि सखिनि की बात ।
 बिरह औष जरि जात है मौन समीपहि जात ॥ २१४ ॥
 मुख पुटेछ छबत मखी कर बछाह मुखियाइ ।
 गाई गयो छरोज निय बिईसी मोह पदाइ ॥ २१५ ॥ ग० उ० सविदान
 इन्द्राळ कंदर्प को कहे कहा भविराम ।
 आगि छपट बरपा बने, नाथ घरे घनस्याम ॥ २१६ ॥ रत्ना समितवक्ष्यम
 दुई अटारिनि में सरी, सखो अपूरव बात ।
 बने ईदु सुरसातु है, इते कज बुद्धिछाव ॥ २१७ ॥
 खोवन में अँलिया समी, परो छाल के जेस ।
 छरिछाई के मौरियत खोरमिहबनी खेस ॥ २१८ ॥ छवितवक्ष्यम उ० अ०
 राधिक के हग गेस में मूँदे मंशुमार ।
 करनि छोरो हग कोर सौ, भई छेद घर पार ॥ २१९ ॥
 में मूँदति हो जेस में तरे छापन बाळ ।
 मेरै कर अति प्यार सों पूसत है मँदछाळ ॥ २२० ॥
 सुरमि छोम जुठ बखिनि में सहत अधर का रंग ।
 मनो तरनि-खनपा मिछी बानी गंग-तरंग ॥ २२१ ॥
 सेठ बसन में पों छगे छपरत गोरे गाव ।
 भई आगि ऊपर छोरो यों बिभूति अबदाव ॥ २२२ ॥
 रूप आळ मँदछाळ क परि बरि बहुरि गुटे म ।
 ६ बरोट मृग मोन-स मजबनितान के नैन ॥ २२३ ॥ ग० उ० माछे-मा

बाके सीख समान है, सौंवे होव सुमित्र ।
 नेही बचख बखनि को बाछो बचख बित्त ॥ २१४ ॥
 किन में प्रफुल्लित होत है, किन में मुकुलित होत ।
 इंदीवर अरविंद से बख मुख ईदु बहोत ॥ २१५ ॥
 प्रीपम हूँ रवि तपत हूँ रहे बख बख सुमि ।
 तपी दगमि सोतल करै गौं निरुद की सुमि ॥ २१६ ॥
 नैन निवासी सौं बख्यो मन परदेस अनेह ।
 छत्रति आहु अनमोषी सपने नैननि रोह ॥ २१७ ॥
 आहुहि बख्यो बिदेस को तखि, सनेह बित्तबोर ।
 छत्रति भरे घर मोषी, बसी पास चहुँ ओर ॥ २१८ ॥
 परी बूझी सेह में सखी निहारहि भीठि ।
 परसति नहीं बराति-सी, बरिने के घर भीठि ॥ २१९ ॥
 छत्रति पकटत सौंखी भूरति को मुख ईदु ।
 रीझ भार बँझिया बकी, झुके अम-अम-बिंदु ॥ २२० ॥ ॥ २२० ॥ और बखि ।
 चलो छाक वह बाग में, छको अपूरब केछि ।
 आलबाळ घन समथ को प्रीपम रिदु की बेछि ॥ २२१ ॥ ॥ २२१ ॥ उ० र० ॥
 कहा कहों बाकी दसा, निठुर कही नहि चाह ।
 अंग अंगारनि को मिटै, रंग अंग अंधिकाह ॥ २२२ ॥
 बड़बानल से ले छगे, बछिनि करत उपचार ।
 मिळत छगे घनस्थान कर ते अंग ब्यो घनसार ॥ २२३ ॥
 गई छबीछी छूटि वह छल सौं नेह बनाह ।
 कहौ कौन के छे छल, आप छल छलाह ॥ २२४ ॥
 पियराई तन में परी, पानिप राखो न बेह ।
 राखसौ नवकुंवार ने करि कुंवार को मेह ॥ २२५ ॥
 बोधी दग बोरानि सौं, बेरी बखनि समाव ।
 गई ठर नैनानि हैं निकसि भटी-सी छाव ॥ २२६ ॥
 छोक-छाव छलकानि सौं गरब करो बिन बीर ।
 ऐन नैन ब्रह्मराज के नैन नैन के वीर ॥ २२७ ॥
 क्यों न फिरै सब अगत में करत दिगबिलै मार ।
 बाके दग सारथ सर कुबलय बीतनवार ॥ २२८ ॥ ॥ २२८ ॥ उ० र० ॥ परिकर
 नेह छुटे हूँ राबरो, पातें भीयति पाछ ।
 बखत सहज हूँ गछिमि में तसहि बिछोकि छल ॥ २२९ ॥
 केछि-भौन के देहरो करी पाछ छवि भीछ ।
 काम कछि हिय को छे, छाव छछि दग कीछ ॥ २३० ॥ ॥ २३० ॥ उ० र० ॥ मन्ना
 निति बढि ऐसैं रूप सौं आवत हो ब्रह्मराज ।
 सो तुम सौं पिय रिस करै, ताके हिय न अज ॥ २३१ ॥

तुम सौ कीजि मान क्यों जगनायक मन रंज ।
 बात कहत सौ बाळ के भरि आप हग कंज ॥ २४२ ॥ २० उ० म० प
 डोसी पाहनि सौ मिलो, बोधी कछु न योळ ।
 सुन्दरि मान जनाइयो छियौ मानपति मोळ ॥ २४३ ॥ २० उ० प्री० पीप
 आवत पठि आवर कियो, बोले योळ रसाळ ।
 बाँह गहत नैशाल के मए बाळ हग छाळ ॥ २४४ ॥ २ प्री० पीपपीप
 बेनी गहत एक की मंदछाळ बित छोळ ।
 चूमत प्यारी बाळ के बिहसत गोळ कपोळ ॥ २४५ ॥ २० उ० ज्येष्ठकनिष्ठ
 मनभावन सौ ब्याह की मुनी सखेनी बात ।
 अँगिया में न शरोज अरु आनंद सर न समात ॥ २४६ ॥ ४० उ० महर्षम
 छति जैहै जग गाँव को सबे पतुर है बाळ ।
 छविषा नख छतबोह जिन छैल-छपीले छाळ ॥ २४७ ॥
 भडो न केसक रूप यह सबनी गेह मराम ।
 बसन फटै बंडक छौं निशि दिन आठो जाम ॥ २४८ ॥ २४ उ० दुरतगुता
 जुपे द्वार में पसत ही पयिक जाइ जिन सोह ।
 मेरो घर सुनो इहाँ, पोरनि को डर होइ ॥ २४९ ॥
 प्रीपम रितु में देखि के बन में छगी ईवारि ।
 बड़ी अपूरव बात है, मन में जरति गैवारि ॥ २५० ॥ २० उ० नष्ट० अनु०
 जरद भई तिय हरद रंग, बादे हरद असूळ ।
 छागे बीतन संग हो कुसुम-कूट, हिय-सूळ ॥ २५१ ॥
 छरी सपसव छाळ कर छलि तमोळ की बाळ ।
 मुरझानी हिय साळ परि फूट-माळ-सी हाळ ॥ २५२ ॥ २४ उ० अनुत्पना
 छसति गूझरी ऊझरी, बिछसति छाळ इवार ।
 हिए इबारनि के हरे बैठो बाळ बजार ॥ २५३ ॥ २४ उ० निका
 कहत विहारो रूप सति, यह वैद को रैद ।
 ऊँचो लेत बसास है, कछि सऊळ तन खेद ॥ २५४ ॥ २४ उ० अ०-अम्यर्षमेन
 छे आवति हो सेज हत तेरो प्रीति गुणाल ।
 बात कहो अकहि मरी, दुग न दोषिप छाळ ॥ २५५ ॥ २४ उ० वि०
 केसे त्याऊँ हो इहाँ, है जित मंदकिसोर ।
 दिन हूँ मैं मुग्धबंद को छलि छलबात बकोर ॥ २५६ ॥ २४ उ० रूपग०
 बीरनि के पाहनि दियो माहनि आवक छाळ ।
 प्रान पियारी राखरी, पेशति मुँह गुणाल ॥ २५७ ॥ २४ उ० देम०
 पिय प्रियोग तिय हग जळपि जळ तरंग अपिकाह ।
 बहनि मूळ बछा परसि बटुरी बटुरि बिछाह ॥ २५८ ॥ २४ उ० मुग्धमेदि०
 पन के हत बिछासिनो रहे सपारे बेस ।
 जो तिय के हिय मैं बसे, सो पिय बसे बिदेस ॥ २५९ ॥ २४ उ० यदिअ०

कोऊ करो अनेक यह तबौ त टेक गुणाल ।
 निसि औरनि के पग परो, बिन औरनि के छल ॥ २६० ॥ रस० उ० मन्था०
 कंठ कहा सौँहनि करो जानि परयो अब नेह ।
 पैन कछो, सो बिन बिप जाम न पैही गोह ॥ २६१ ॥ रस० उ० गमिका०
 भाई गौने काहि है, सोख्यौ कहा सयान ।
 अबहा तैं हसन छगी, अबही तैं पछिताम ॥ २६२ ॥ रस० उ० मुन्था कल०
 बोरत मुनि सजनी विपति, तोरत तपस समाज ।
 नेह कियो बिन काज पुनि तेज कियो बिन काज ॥ २६३ ॥ रस० उ० परकीया०
 कस्यो न कंठ खोटे में, कसत नखत को राह ।
 अमल कमल सो बाळ को बदन गयो कुम्हिलाह ॥ २६४ ॥ रस० उ० मुन्था विप्र०
 तिय कोँ मिस्यो म प्रानपति, सबल जल्य तम नैन ।
 सबल जल्य छलि के भय सबल जल्य-से नैन ॥ २६५ ॥ रस० उ० मन्था विप्र०
 बिहंसि केछि-मंदिर गई कस्यो न बिच को माज ।
 नैन करनि तैं बल बल्य गिरे एक ॥ साय ॥ २६६ ॥ रस० उ० मीदा विप्र०
 साहस करि हुँबनि गई, कस्यो न नंदकिसोर ।
 दीपसिखा-सी घरहरी कोँ बयारि झखेर ॥ २६७ ॥ रस० उ० परकीया विप्र०
 कत न कंठ आयो सली, कबनि बूझि सफै न ।
 नखत बाळ पछिछ परी, पलक न छागत नैन ॥ २६८ ॥ रस० उ० मुन्थाक०
 पीव न आयो मीद कोँ, मूँदे छोजन बाळ ।
 पलक उपारे पलक में आयो होह म छल ॥ २६९ ॥ रस० उ० मीदा० ।
 कंठ बाढ छलि गोह को हुँज देहली आव ।
 देहँ पीव बिचारियो, नारि फेरि फिरि आव ॥ २७० ॥ रस० उ० प० उ०
 छलत बाढ पिय को तिया खँगरानी खँग मोरि ।
 पौदि रही पछिका, मनो हारी मदन मरोरि ॥ २७१ ॥
 बीठि बचाइ सकीनि की केछि-मौन में आव ।
 पौदि परै पछिका पलक, पलक खंग अचिकाह ॥ २७२ ॥ रस० उ० सु० वासक०
 सब सिंगार सुन्दरि सबै बैठी सेव मिछाह ।
 मयो झौपदी को बसन, बासर नहिनि बिहाह ॥ २७३ ॥ रस० उ० प्रौ० वासक०
 मनमावन के मिछन के करै मनोरथ नारि ।
 परै पौन के सामुहँ दिया मीन को नारि ॥ २७४ ॥ रस० उ० प० वासक०
 पिय मिछाप के हेत तिय सने सछाह सिंगार ।
 हग कमलनि के द्वार में गंधि बंदनवार ॥ २७५ ॥ रस० उ० वासक०
 अली चली मवलाहि छे पिय पै साबि सिंगार ।
 त्यो मर्तग खँडुवार कोँ छिपै जात गँडुवार ॥ २७६ ॥ रस० उ० सु० अमि०
 जोवन मद गज मंद गति चली बाळ पछि-गोह ।
 पगनि छाम भाँदू परो, चढ़यो महाबत नेह ॥ २७७ ॥ रस० उ० म० अमि०

सत्रि सिंगार सेजहि पसी पाछ प्राणपति प्राण ।
 बहत अटारी की सिद्धी भई कोस परिमान ॥ २०८ ॥ रस उ० प्री० अभि०
 स्याम यमन में स्याम निमि, दुरे न तिय की देह ।
 पहुँचाई पहुँ ओर पिरि मौर मीर पिय गोह ॥ २०९ ॥ र उ० प० ह० तयास० उ० प्र०
 मझिन फरो छवि जोन्ह की, तन छवि सों यल जाँत ।
 क्यों जेहे पिय वै सखी, छवि जेहे सब गॉस ॥ २१० ॥ रस० उ० प० गुहा०
 जेठ मास की दुपहरी, चली बाछ पिय-मीन ।
 आगि छपट हीखन छुपै मय मछय के पीन ॥ २११ ॥ रस० उ० दिपाधि०
 मागारि सखल सिंगार करि चली प्राणपिय पास ।
 बाहि चली यहसनि मनो सोमा सहज सुवास ॥ २१२ ॥ रस उ० गंधिका०
 क्यों सहिहे सुकुमारि बह पहिछो बिरह गुपाठ ।
 जब बाके धिठ हित भयो, चलन छो गब छाछ ॥ २१३ ॥ रस० उ० मु० प्रवत्स्य
 सबही ली मिछि माहि सखि, चलत आनु ब्रजराज ।
 भँसुबनि राखति रोकि तिय, भिपहि निकामति छात्र ॥ २१४ ॥
 कुजी मागारि कमझिनो, छड़ि गए मित्र मझिह ।
 आयो मित्र बिदेस हैं, भयो सु दिन आनंद ॥ २१५ ॥ रस० उ० ग० आगत०
 मरी मौबरी साँबरे, रास रसिक रस जान ।
 तिमही में मनु भँसु है छे बीहर को पान ॥ २१६ ॥ रस० उ० नायक
 चढत पीय परदेस को, बरति सखी नहि तोहि ।
 जे ऐछो आमरन ली, जोबत पैही मोहि ॥ २१७ ॥ रस० उ० गंधिका प्र
 सखनी मेरो मन परयो मनमोहन के लंग ।
 चटपटाव छुटत न क्यों पंजर परयो पतंग ॥ २१८ ॥
 जा दिन ते गौनो भयो, जाई बाछ रसाछ ।
 ता दिन हैं बिरहिनि भई तर मोतिन की माछ ॥ २१९ ॥ रस० उ० पत०
 मपने हूँ मनभौबतो करत मही अपराध ।
 मेरे मन हूँ मैं सरतो, रही मान को साथ ॥ २२० ॥ रस उ० अनु०
 इच्छिन माइक एक तुम मँदछाछ ब्रजर्षिह ।
 कुछप ब्रज बनिठानि के दग ईश्वर वृंद ॥ २२१ ॥ रस० उ० दगिन
 निछत्र नैन कुछटानि के आइ बसे ब्रजराज ।
 हिए ठिहारे हैं सखल मारि निकारी छात्र ॥ २२२ ॥ रस उ० पूह०
 पियत रही अपराधि को रसु भति मधुर अमोछ ।
 ठावें मोठ बहत है छाछ यदन के बोध ॥ २२३ ॥ रस० उ० छट०
 छोजन पानिय दिग सजी, छट बंभी परबोन ।
 मो मन बारबिछासिनो फगु सियो मनु मीन ॥ २२४ ॥ रस० उ० ईश्वर०
 यामें कीन सपान है मोहनदाछ सुजान ।
 आयु करत अपराध हो आपुहि पुनि अभिमान ॥ २२५ ॥ रस उ० मानी

पिय मिथ्यप को मुक्त सखी, कबो न जाइ अगूँ ।
 सौतुक तौ सपनो भयो सपनो सौतुक रूप ॥ २९६ ॥ रा० उ० स्मरणधन
 चित्रहु में सखि जाहि छलि होत अनंत व्यनद ।
 नैन कुबलयम सौ कहूँ सो छलिबौ अन्नचंद ॥ २९७ ॥ रा० उ० चित्रदर्शन
 पाको मन छीने छल्य, बोछो बोछ रसाछ ।
 मुकति वनक वह बात मैं कनक बेछि वह बाल ॥ २९८ ॥
 सखी सखेनी देह में सखे सिंगार अनेक ।
 कबरारी जँझियानि मैं भूख्यो काबर एक ॥ २९९ ॥ रा० उ० मदन
 सरद बाँझनी में प्रकट होत न तिय के बंग ।
 सुनत मंजु मंजीर अब सखी न छोटति संग ॥ ३०० ॥ रा० उ० उन्नीछित
 सखी सरस रस केछि मैं आपुनि पौं सुधि जाति ।
 कंद संग हेमंत की छिन-सो राति सिराति ॥ ३०१ ॥
 छल विहारे बिरहैं तैं भाइ भास की राति ।
 करि कपूर को कोच सो सखी समीपहि आवि ॥ ३०२ ॥
 कहा बनावति बाहुरी, कहा बड़ावति मौँह ।
 अधनिकरे अकरानि सौ सोहैं कीसै सोह ॥ ३०३ ॥ रा० उ० स्वर-भंग
 छल विहारे नेक हौं, नैन विहारे वीर ।
 बाके कंबुक कछि कुच काँपत बोध अवीर ॥ ३०४ ॥
 बाळ रही इकटक निरसि, छल बदन अरविदु ।
 सिपराई जँझिवन परो, पिपराई मुख ईदु ॥ ३०५ ॥ रसराज
 पिय समीप को मुक्त सखी, कहूँ वेव बे बेम ।
 अबछ अन्न मिरवळ बचन, नबळ सुनीदि नैन ॥ ३०६ ॥
 साटे फळ जागैं बरैं सखी जानि सुसिक्खाइ ।
 पिय समीप, प्यारी पिबा, रही सखुनि सिर नाइ ॥ ३०७ ॥
 पिय आयो परदेस तैं बहुते दोस बिताइ ।
 सखी छठाई पास तैं मूँटे ही समुहाइ ॥ ३०८ ॥ रसराज उ० बंसा
 पासे गर्मबती तिया सिमिळ हाथ डरकाइ ।
 इसत छल छोचम छलै, छोचन रही मवाइ ॥ ३०९ ॥
 ध्यान करत तैवछाळ की मप नेह में वाम ।
 तनु मुकुट रंग पीठ मैं, मन मुकुट रंग त्याम ॥ ३१० ॥
 पिय आयो परदेस तैं हिय में आयो प्रान ।
 मिळत बिरहिनी के भयो छिन अनु जुग परिमान ॥ ३११ ॥
 कहा भयो मेरी हितू, हो तुम सखी अनेक ।
 सपने मिळवत नाथ के नीद आपनी एक ॥ ३१२ ॥
 रूप प्रसेद बढ़े-बढ़े मौँह मनो मय-बाप ।
 अपने पिय मो जानियत, सपने करति बिमप ॥ ३१३ ॥

प्यारो की मुसिक्यानि-सी सरद-जोन्ह हूँ दे न ।
 यह नैननि सीठछ करे, हूँ कठ आरति नैन ॥ ३१४ ॥
 अछो बछो कहु कौन वै, बड़े कौन के भाग ।
 पछट्यो कंधुक कुचन पर कहै देठ अनुराग ॥ ३१५ ॥ २० उ० विभ्रम-हाव
 सहुषि न रहिये सौंबरे, मुनि गरयोहे घोछ ।
 चढ़ति भौंह बिहसत मनन, मिहसत गोछ कपोछ ॥ ३१६ ॥ २० उ० विभ्र० हाव
 मन भौवन की भौंभती भेंटति रस चतकंठ ।
 बौंदी छुटै न कंठ सें, नौहो छुटै न कंठ ॥ ३१७ ॥ रतणत्र ।
 बिरो अघर, अंजन मनन, मिहिरी पग अरु पानि ।
 तन कंचन के आभरन नीठि परति पहिचानि ॥ ३१८ ॥ रतणत्र उ० छवि-
 हाव तथा छविछात्र उ० अनुगुन
 कहा काज कुञ्जकानि सों, छोक-छात्र किन जाइ ।
 कुंजबिहारी कुंज में, कहूँ मिर्छ मुसिकाइ ॥ ३१९ ॥ रतणत्र उ० बिठा
 छत्तो अपूरब बाछ में, बाछो इसा घनाइ ।
 हियरें हे मुषि राबरो, हियरो गयो हिराइ ॥ ३२० ॥ ३ उ० विनोद
 सरद चंद की चौंदिनी, जारि डार छिन माहि ।
 बा मुख की मुसिक्यानि-सो क्यों हूँ कहाँ न लोहि ॥ ३२१ ॥ २ उ० गुन-कपन
 मोहिं रसाछ की मंजरी, क्यों न करो करवार ।
 मुन्दर सौन समीप बौ, राखै नन्द कुमार ॥ ३२२ ॥
 बिहस साछ को पाछ हूँ क्यों न पिछोछति जानि ।
 बोळि कोछिछनि सों कहे, बोळ विहारे जानि ॥ ३२३ ॥ रतणत्र उ० प्रत्य० ।
 मुरस भोज सों साइ मुठ सिवा सूर सिरदार ।
 सरद-चन्द आठप क्रियो मुषि आठप इक बार ॥ ३२४ ॥
 पिमुन बपन सखन बिबै भके न चोरि न प्यारि ।
 कहा करे छगि तोय में छुपक लोर तरवारि ॥ ३२५ ॥ छवि उ० प्रति०
 निहयै नखत निहारियव मयुनो मुकठ प्रकास ।
 कैसे करि पावै कहाँ, नीचन भाक-निवास ॥ ३२६ ॥
 रोख निहारो धान को, पौ भूसति मुसिक्याइ ।
 पही हमारे पिय कही सपन ज्यारि बरसाइ ॥ ३२७ ॥ रतणत्र उ० बचन
 राखै मरि दुपहर सखो सपन छाँह में गोइ ।
 कहे घाम की बर की, ज्यार येन जुन होइ ॥ ३२८ ॥
 भौंह कमान कटाछ मर, मयर-भूमि बिचयै न ।
 छात्र लजे ॥ इहुनि के सज्जम मुमट-से नैन ॥ ३२९ ॥ छवि० उ० पूर्वोक्त
 अरुन बसम निकरी पहरि पावस में लबियानि ।
 ईइ गोप-सी गोपिका, गोप इंदु छगि जानि ॥ ३३० ॥

ति सुहार अति ही बड़े पामिप भरे अनूप ।
 एक मुकुट नैनानि सौ होइ परी यह रूप ॥ ३३१ ॥
 ज्यो और को सब कहू मान आपनो सेइ ।
 यो न खड़े संताप जो, भार भाप सिर देई ॥ ३३२ ॥
 ने तो अक्षियानि छन, भी मुसिक्यानि रसाळ ।
 हूँ छल छोवननि की छेहि छाछसा बाल ॥ ३३३ ॥
 जो तिहारे हगनि की मधुर मंद मुसिक्यानि ।
 सति रहै निशि घोस हूँ अब कमकी अक्षियानि ॥ ३३४ ॥ अ० उ० पर्याय ।
 प सदन मिछि छन बसन रवन रुचिर रुचि होति ।
 भित्ति में बिधु बिब बनु, बिधु में बामिनि जोति ॥ ३३५ ॥
 जो खोबन हूँ कहतु है, सब खोबन हूँ पीठ ।
 पै जोय बिन जियत, सी धिंग खोबन यह जीठ ॥ ३३६ ॥
 न निवासी तोहि वधि कब को कियो उधार ।
 अबहूँ छौ बसतु है, मान कहा मुनिवार ॥ ३३७ ॥
 रव कीठि छगि जाहगी, हीं बिछकी अति आनि ।
 नखन वैके कीजिये अनखन मरि अक्षियानि ॥ ३३८ ॥
 समथ किमो पियूपमथ तेरी सुदु मुसिक्यानि ।
 है मूरछित करति है, यहै शिवावति आनि ॥ ३३९ ॥
 जब पग सेबक समुझि करि करि बरतें रिस वृरि ।
 री सुदु मुसिक्यानि है मेरी खोबन मूरि ॥ ३४० ॥
 गळ अमोछक छलबी, करत कोटि मनुहारि ।
 दिर आवत इदिरा वै न किवार गैवारि ॥ ३४१ ॥
 व है रखो करार को, अब करि कहा करार ।
 र बरि नंदकुमार को, वरन कमळ सुकुमार ॥ ३४२ ॥
 नरुन बरन बरनिन परै, अमळ अघर दळ मोझ ।
 यो फूली हुपहरो, केयो फूली सौझ ॥ ३४३ ॥ अ० उ० संदेह
 गळ बदन प्रतिबिंब बिधु बिब रखो सिद्धि संग ।
 यो रहत अब रैमि दिन, वपन वपावत जंग ॥ ३४४ ॥ अ० उ० हेतु अप०
 गट हरष करष की तेरो जंग अनूप ।
 जो छियी नैवनेद जित सुंदर स्याम सरूप ॥ ३४५ ॥ अ० उ० पनावाछि
 मावली कृपान सौ मारयो सिबहि मनोज ।
 के भय स्वरूप है सोहत बाल करो ॥ ३४६ ॥
 न पावत रदन रुचि, नैन जंग प्रकाश ।
 न पावत बदन छवि, नैन जंग सुवास ॥ ३४७ ॥
 प रासि यह छच्छ की तुला नदी यह बाल ।
 न पावति रावरो मिछन अमोछक छल ॥ ३४८ ॥

छलित मंद कल हंस गति, मधुरमंद मुसिक्याति ।
 बछे सारदा बिसव रुषि सरप रौदनी राति ॥ ३४९ ॥
 मैं जानो हो मिसन तैं मिटिहै तन संताप ।
 जब सजनो दूतो चढ़यो हठक मनोबहि दाप ॥ ३५० ॥
 साँच मदनमिद आमु सुम रंजन रसिक रसास ।
 बनल जाल दग दलियत, छाल-छाल रुषि भास ॥ ३५१ ॥
 पाइनि प्रेम बनाइ बिन परिये मंदकुमार ।
 बनल छाल पग लगति है जाबक छीक छिलार ॥ ३५२ ॥
 रोस-भरी अँखियानि छलि छोगनि में अनसाइ ।
 हंसिय कंत छपटाइ के एक रूप है जाइ ॥ ३५३ ॥
 प्रीति द्वेष द्विजराज की कला कलप करि बिभ ।
 जगत लोकमंदित बरित, बढ़त मित्र जो मित्र ॥ ३५४ ॥
 अँखियनि बर्मग अर्मग को, पुषत अंग अनसाइ ।
 प्रीतम तन ताबति तरुनि छाइ लगनि को छाइ ॥ ३५५ ॥
 दिन दिन दुगुन बढ़ै न कथो लगनि अगिनि की झार ।
 नैन-नैन दग दुहुनि के बरसत नेह अपार ॥ ३५६ ॥
 छिलत बालनछ भूमि तन लगत छाल मुसिक्यानि ।
 छात्र मुटो निसी जानियति छात्र भरो अँखियानि ॥ ३५७ ॥
 चंबलनिधि उर पसि रही करनि प्राप्त पसि राज ।
 भरबिहनि पै ईदिरा सुंदर नैननि लाज ॥ ३५८ ॥ म० उ० दीरक
 घटन पढ़त बढि जाइ पुनि, पटत पटत पटि जाइ ।
 नाह राबर नेह-विषु मंडल श्रितो बनाइ ॥ ३५९ ॥
 तत्कत्र पाइनि जीब को कौन जियाबत जानि ।
 जान हाति जन दगनि में सुषा मधुर मुसिकानि ॥ ३६० ॥
 छोड़ मंग मुख, जागि दुख, छिड़ समुझी निरपार ।
 छोन पुष्प मुरछोक तैं छेव अबनि अवतार ॥ ३६१ ॥ अति उ रमर
 तनु आगे को चछनु है मन बाहो मग छेम ।
 मल्ल साठ में ग्यो पल्ल चछत बड़ाऊ भीन ॥ ३६२ ॥
 प्रतिबिंबित सो बिब में भूतल भयो कटक ।
 निभ निरमलता दाप यह, मन में जानि मर्यक ॥ ३६३ ॥ अति उ छेम
 विहि पुरान नब है पदे, बिहि जानो यह पाव ।
 जो पुरान सो मय सदा, जब पुरान है जाव ॥ ३६४ ॥
 सपने में सपनी समुझि होव दूरि ग्यो संक ।
 संक छोड़ संसार को रहो जानि निरसंक ॥ ३६५ ॥
 तिय द्विप आनंद बदन हू, परन प्रानावय पेयि ।
 बिन देखन को दुग परे, होन दगनि में दयि ॥ ३६६ ॥

छिन्नति अवनिष्ठ भरन से बिहसत बिमल कमोल ।
 अमनिकरे मुख ईदु तँ अमृत-बिंदु ते बोल ॥ ३६० ॥
 अमगी हर आनंद की छहरि छहरि दग राह ।
 बूझी छाब-बहाब छौं नेह-नीर-निधि माह ॥ ३६८ ॥
 हीं मन मोहन के लखति, हौं न आपुनी बाध ।
 करत नैन नैदल के हँसत हेरि हर गाध ॥ ३६९ ॥
 बसत रहत मधिराम निधि, बौस काम अमिराम ।
 इंदीवर छवि दगनि में इंदीवर छवि स्याम ॥ ३७० ॥
 लखित लाल-सी जोन्ह इह डारति अङ्ग लक्ष्मिनि ।
 मई पिमूष मरीचि को मोकों मरिचि मरीचि ॥ ३७१ ॥
 लोक प्रसून पराग तँ लखत पिबरनि सुग ।
 मय नैबेली के बिरह पीत रंग सब अङ्ग ॥ ३७२ ॥
 मामठ छाब लगाम नहिं, नेक न गहत मरोर ।
 होव दोहि छलि बाळ के दग सुरंग सुंदर ॥ ३७३ ॥ अंक ० ठ ० १० वि०
 सपन स्याम कर्दशिनी राख्यो रोकि अकस ।
 अति संकट पावत नही विष हिस में अकसास ॥ ३७४ ॥
 हिरें बसत, मुख हसत हौ, हमको करत निहाल ।
 घट-घटक्यापी प्रभु तुम प्रगट भए नैदल ॥ ३७५ ॥
 बरनत साँच असंग के, तुमको बेह गुपाल ।
 हिए हमार बसत हो, पीर न पावत छल ॥ ३७६ ॥
 बड़े घरोज पहार प, हर उनके अठिअहिं ।
 तो तन नित छाडी बड़े, लखित छाळ पियराहिं ॥ ३७७ ॥
 कुच कठोर पापान तँ, क्यों न करैं हर पीर ।
 बड़े नरम लग नैन कठ, होत बिपस बिप-दोर ॥ ३७८ ॥
 सखी तिहारी साँच यह बीपसिखी-सी देह ।
 दिन बीपति पियराति है, अधिक राति रति मेह ॥ ३७९ ॥
 दरपन में निज रूप छलि नैननि मोह लग ।
 पिय मुख पिय बसकरन को बह्यो गरब को रंग ॥ ३८० ॥
 निज पाइनि बलि आह के दो घर बाहिनि देह ।
 आवि बाळ निज गेह के घर लखाह दग सेह ॥ ३८१ ॥
 तो तन सुबरन बरन है, छुटिछ स्याम मन मोह ।
 सलि सनेह कैसें रहे, सुवन न पैसत छाँह ॥ ३८२ ॥
 तिय हिय में पिय ईदु मुख निधि-दिन करत मकास ।
 सीखी सखिनि की छाँह छौं नेक न पावति बास ॥ ३८३ ॥
 नैक छोट करि गिरि बरी समत सकप गुनिष ।
 प्रभु बोरत अब इह छौं यह तेरो मुख-ईदु ॥ ३८४ ॥

करवर पर गिरिवर धरे छलित साठ छछपाइ ।
 जाके पितवन चखनि कुच, सो सकुपित मुसिक्याइ ॥ ३८५ ॥
 हारे बरपव बारि भरु तन दीपति अभिराम ।
 निदरे सध घनस्याम तूँ मोति-मोति घनस्याम ॥ ३८६ ॥
 छाती कुच कुंजुमनि को छाप करि बिहिं बाळ ।
 ताको हर मन में नही, मिलत मोहि नैदछाळ ॥ ३८७ ॥
 नैन-मीन बह बाळ के छास-जाळ परि आनि ।
 पियत रहत तो यदन को सुधा मधुर मुसिक्यानि ॥ ३८८ ॥
 मेरे दग बारिद ब्रूया बरसत बारि प्रवाह ।
 छठत न जंझुर नेह को तो हर छसर मोह ॥ ३८९ ॥ छवि० उ० भारव
 राधा चरन सरोज नल ईत्र किए प्रज्जचन्द ।
 मोर मुकुट चंद्रकनि तूँ चर चकोर आनंद ॥ ३९० ॥
 मुखद साधुजन को सदा गजमुख हानि उदार ।
 सेवनीय सब जगत की जग मा बाप कुमार ॥ ३९१ ॥ छवि० मंगलचरण
 महराज मच मिछिद गन गान सुवित गननाथ ।
 सुमिरत कवि मतिराम के सिद्धि रिद्ध निधि हाथ ॥ ३९२ ॥ छवि० उ० चंदना
 अन्न छलित सित रंग पट, अन्नराग अवर्तस ।
 हंसवाहिनी कोजिये बाहन मेरो हंस ॥ ३९३ ॥
 नृप नैन कमलनि ब्रूया पितवत बासर पाहि ।
 हृदय कमल में हेरि लै कमलमुली कमलाहि ॥ ३९४ ॥
 ब्रज ठकुराहिनि राबिका, ठाकुर किए प्रकास ।
 ते मन मोहम हरि भय भय दासी के दास ॥ ३९५ ॥
 पियत अघर सो बेति है कर कमलनि की मार ।
 छ्याति स्वादु के सिंधु में मिरचि किरप छो बार ॥ ३९६ ॥
 पियत अघर तूँ बेति है कर कमलनि की मार ।
 होत पंच अँगुरी छगे सबल पंचसर मार ॥ ३९७ ॥
 करति केळि अति प्रेम सो पगे प्रेम मद् मैन ।
 अंबर में चंचल छसें तंजरीट से मैन ॥ ३९८ ॥
 प्राननाथ परदेस को चछिये समो मिचारि ।
 स्याम नैन-घन बाळ के बरसन छागे बारि ॥ ३९९ ॥
 सरद-पार्श्वी में बिरुष विमल मालती कुंज ।
 जगत जोतिमय प्रेम के मनो मुजस के पुज ॥ ४०० ॥
 कोमल कमलनि सो कहै तिगै न नक सपान ।
 होत पार द्यगज हिरं मैन प्रेम के बाम ॥ ४०१ ॥ छवि० उ० परबरा
 जोठ मंढिरे को अरपो मुख मुवास रम रत ।
 स्याम रूप नैदछाळ अति, मदि अति अति जनमत्त ॥ ४०२ ॥ छवि० उ० छरा

भूद ईदु-अरविदु में कइत सुधा मधु बास ।
 सो मुक्त मंजुल अक्षर में तिनको प्रगट प्रकास ॥ ४०३ ॥ अक्षि० उ० सापह०
 औरै कहु बितबनि बलनि, औरै सुदु मुसफानि ।
 औरै कहु सुख दत है, सके न बैन बखानि ॥ ४०४ ॥ अक्षि० भेदकाशिष०
 सो निसि-दिन सेवम करै, अरु जो करै विरोध ।
 तिन्है परमपद दत प्रभु, कहाँ कौन यह बोध ॥ ४०५ ॥ अक्षि० दुस्व वा०
 लखो लाख तुमको लखे ए बिछास सरसाव ।
 बिहसत अक्षित कपोल है, भगुर नैन मुसिक्यात ॥ ४०६ ॥ अक्षि० उ० चम्पा०
 पगी प्रेम नैदलाह के, हमें न भावत भोग ।
 मधुप राजपद पाइ कै मोह न भाँगत भोग ॥ ४०७ ॥ अक्षि० उ० हरांत
 मधुप त्रिमंगी हम लखी, प्रगट परम करि प्रीति ।
 प्रगट करी सम जगत में कहु कुटिलनि की रीति ॥ ४०८ ॥ अक्षि० उ० निदर्शना
 हरिमुख लखि छेपन सखी, मुक्त में करति विनोद ।
 प्रगट करत कुबलमानि की चंद्रोदय तें मोद ॥ ४०९ ॥
 बिषयनि तें निरवेद्वर, ग्यान भोग प्रत नैम ।
 बिफल मानियो ए बिना प्रभु पग पंकज प्रेम ॥ ४१० ॥ अक्षि० उ० विनोदि
 देवत दीपति दीप की देत प्रान अरु देह ।
 राखत एक पतंग में बिना कपट को नेह ॥ ४११ ॥ अक्षि० उ० विनोदि
 अक्षित राग रंजित हिषो नायक जीति बिसाह ।
 बाह तिहारे कुचनि बिच छसत असोखि लख ॥ ४१२ ॥ अक्षि० उ० श्लेष
 कहा मयो जग में बिहित, मय धरित छवि लख ।
 सो ओठनि की स्खिर रुचि पावत नही प्रवाल ॥ ४१३ ॥ अक्षि० उ० श्लेष
 प्रगट कुटिलता जो करी हम पर त्याग सरोस ।
 मधुप भोग बिच छगिलियै, कहु न विहारी दोस ॥ ४१४ ॥ अक्षि० उ० व्यास०
 इसत पाह के ध्वन में जो छवि कहु अतूख ।
 फूली चंपक बेलि तें झरत चमेली फूल ॥ ४१५ ॥ अक्षि० उ० च० वि
 मयो सिंधु ते बिधु मुकवि वरनत मुमति बिचार ।
 लपक्यो तो मुख ईदु तें प्रेम-पयोधि अपार ॥ ४१६ ॥ अक्षि० उ० कहीं वि
 पियत रहत पिय नैन यह तेरी मधु मुसिक्यानि ।
 ठरु न होत मर्यक-मुखि, तनक व्यास की हानि ॥ ४१७ ॥ अक्षि० उ० विरोधोक्ति
 पिय नैननि के राग कौ मूपन सजे बनाइ ।
 निरखि विहारी छवि सुती, सीति दगनि सरसाइ ॥ ४१८ ॥ अक्षि० उ० दि० अ०
 जाँ मयो है लख ए जग की जीवन-दान ।
 मेरो जीवन हरतु है कौन बैर मन मान ॥ ४१९ ॥ अक्षि० उ० अ०
 बिरह भ्राँच मन छड़ि सखो धन सुंदर तन चाह ।
 दुगुन दाह बाँदे तहाँ आपुहि जात बिसाह ॥ ४२० ॥ अक्षि० उ० सु० वि

जिनमें अतुल्य विछोकेये पानिप पारावार ।
 समझि बलन नित हगनि भरि तो मुख रूप अपार ॥ ४२१ ॥ ललित उ० अधिप
 मन बरापि अतुल्य है, तऊ न छूटति संक ।
 दृष्टि परे जिन भार ते निपट पावरो संक ॥ ४२२ ॥ ललित उ० अधिप
 सुपे सलो, ब्रह्म गोंठ में घर घर सहज बचाव ।
 वी हरि-मुख छलि देखि किन नैनि बकोरनि आव ॥ ४२३ ॥ ललित उ० अधिप
 कनक-बोछ में कोकनद, तामे स्पाम सरोज ।
 तिनमें मृदु मुसिक्यानि है, तामे मुदिस मनोज ॥ ४२४ ॥ ललित उ० अधिप
 मो मन मेरो मुक्ति नै करि हरि को अनुकूल ।
 छे प्रिकाक की साहिबो नै बचुर को कूल ॥ ४२५ ॥ ललित उ० अधिप
 फिरि फिरि आवति जाति थलि भंगरानि मुसिक्यानि ।
 बाळ छाळ की ललित मुख छलि छत्राति छत्राति ॥ ४२६ ॥ ललित उ० अधिप
 तो मुख छवि सों हारि अंग भयो कलंक समेत ।
 सरस ईदु अरविमुरि, अरविनि दुरा देव ॥ ४२७ ॥ ललित उ० अधिप
 मधुप भाई मोहन लखो यह व्यामनि की रीति ।
 करा आपनो काज को, मुहं जाति भी प्रीति ॥ ४२८ ॥ ललित उ० अधिप
 गंग मोर बिभु रुचि हलक, कदु मुसिक्यानि बंदोति ।
 कनक-भौन के दोष लीं जगमगाति तन जोति ॥ ४२९ ॥ ललित उ० अधिप
 रात बचनन को मधुरई चाखि सोंप निश लीन ।
 रोम-रोम पुसकित मय, बहव मोद गहि भीन ॥ ४३० ॥ ललित उ० अधिप
 मेरो सिस सीते न सखि, मोसो छै रिसाह ।
 सोयो पाहति नौर भरि अंग अंगार पिछाह ॥ ४३१ ॥ ललित उ० अधिप
 हरि की मुपि को राधिका बल्ले जकेले भीन ।
 हंसव बीच ही मिछि गए बरबस के मुख बीन ॥ ४३२ ॥ ललित उ० अधिप
 मंत्रिनि के बस जो मृगति, मो म छहनु मुख मात्र ।
 मनहि बाधि हग देव हग मन कुमार की रात्र ॥ ४३३ ॥ ललित उ० अधिप
 दधि छिनाह मोहन छियो सगो सपन बन डीर ।
 बड़ो लाम मन में गनी, जोन कियो कपु जीर ॥ ४३४ ॥ ललित उ० अधिप
 कहा भयो तत्रि जात है मछिन मधुप दुरा मानि ।
 सुबरन धरन सुवास जुग चंपक सहे न हानि ॥ ४३५ ॥ ललित उ० अधिप
 देह दोष दोषति दिपे बदन चंद को वयोनि ।
 दामिनि दुति मुसिक्यानि मृदु मुख की जानि बंदोनि ॥ ४३६ ॥ ललित उ० अधिप
 मुकट-हार हरि के हिये मरकत मनिमय होति ।
 पुनि पावत हवि राधिका मुख मुसिक्यानि उदति ॥ ४३७ ॥ ललित उ० अधिप
 बदन चंद को बौदनी, देह दीप को जानि ।
 राति विने नै नाम बह भीन रातिभी हानि ॥ ४३८ ॥ ललित उ० अधिप

छाल बित्र अमुराग सों रंगति निच सब अंग ।
 वरु न छाड़त सौंवरों, रूप सौंवरों रंग ॥ ४३९ ॥ अकित० उ० अठ०
 आई फूलनि छैन को, बली बाग में छाल ।
 सुहु बोलनि सों जानिहौ सुहु बेछिन में बाल ॥ ४४० ॥ अकित० उ० विशेषक
 आसिनि देह बताइ हौं, मोहि कछु तुम वेहु ।
 वसीबट की छौह में छल जाइ सकि छेहु ॥ ४४१ ॥ अकित० गुरीपर
 सरद चंद की चाँदिनी को कहिए प्रसिद्ध ।
 सरद चंद की चाँदिनी को कहिए प्रसिद्ध ॥ ४४२ ॥ अकित० उ० चित्र
 को हरि बाहन, बडधि सुत को, को ज्ञान बहाब ।
 तहाँ बहुत उत्तर विषी एक वचन बिराज ॥ ४४३ ॥
 मोर भय आप भजन स्वाम-बसन जुत स्वाम ।
 हैसि अँवर केसरि हँवो आगे राख्यो वाम ॥ ४४४ ॥
 बों न प्यार बिसराइयै, कियो मोहि तू मोह ।
 मुक बिजोकि नंदबाल की, कहै सकी सों बोक ॥ ४४५ ॥ अकित० उ० गुरादि
 कलव अल मुक पाइहौ, बरनि सबै नहि नैन ।
 कसत बदन सतपत्र सी, सहसपत्र से नैन ॥ ४४६ ॥
 बड़ि गुलक पिप करनि तैं जगत पिपा मुख-चंद ।
 मनो कोकनद रबनिकर करत रबनिकर नंद ॥ ४४७ ॥
 सेत वसन की चाँदनी परत गुलक सुरंग ।
 मानो मुर-सरिता मिठवि सरसुवि तरल तरंग ॥ ४४८ ॥
 सिध अँवर जुत विषनि में अड़ि-बड़ि परत गुलक ।
 पुंडरीक पटकनि मनो बिजसत आतप बाल ॥ ४४९ ॥
 स्वाम रूप अमिराम अति सकल विमल गुन वाम ।
 तुम निसि दिन मतिराम की मति बिसरौ मतिराम ॥ ४५० ॥
 प्रेम छन्यो अंगार है, सीता मन बिन ज्ञाम ।
 देत अँगुठी राम की मानिक मो इनुमान ॥ ४५१ ॥
 रहे और ही रूप है, निषम बिरह दुख सामि ।
 भीठि परे हूँ परसपर, भीठि परे पहिचामि ॥ ४५२ ॥
 मोहि को किन मार तू, बिरह बिपति में गाढ़ि ।
 बल्लभ-मुखी कौ बल्लभ बिन वड़ित आशुकिनि ताढ़ि ॥ ४५३ ॥
 अजहूँ प्रगटित होत है पुलक पटकता माँह ।
 जीन अङ्ग बिद है कदत, गुदी छेक की छौह ॥ ४५४ ॥
 सिरिस हनुम सम बाल के कुम्हिलाने सब गाथ ।
 करत प्राप्त अलसात अति सौति द्वियनि चतपाथ ॥ ४५५ ॥
 प्रतिपाळत सेवक सकल पवन दलमलत डौति ।
 संकर तुम मय सोंकरे सबक सोंकरे काटि ॥ ४५६ ॥

सेवा सेवा के सुनें, सेवा सेवा बनेक ।
 दीनबन्धु हरि जगत है, दीनबन्धु हर एक ॥ ४५७ ॥
 सपन विमिर में तरुनि की जगमगाति तन जोति ।
 प्रेम प्रेम, पावस झृन्तु निशा कसीटी होति ॥ ४५८ ॥
 रूपक बेस मदिरा मदन, मदन महरि से नैन ।
 प्रेम छुके पिय छवि छुके, हटके मैरु रहै म ॥ ४५९ ॥
 पिय मुख रुचि भारो चुगै करत परस्पर भैन ।
 मदन महर से बाळ के बदन महरि से नैन ॥ ४६० ॥
 मदन हनु अरविदु सो सुधा मधुर मधु बेन ।
 मेरे होत बकोर-से, बचरीक-से नैन ॥ ४६१ ॥
 बरनत भौह कमान जुत, बरनत बेन बने न ।
 सरल-सरल सत मदन के तरल-तरलतर बेन ॥ ४६२ ॥
 तेरी भूरति जुत छिन्नी निज सूरति छवि बाळ ।
 धनि मानति मनमोहरी निज तनु में मँदसाळ ॥ ४६३ ॥
 तपी न तो बीगुननि सों, रची म तो अनुराग ।
 मत्र में देहु बढाई के ऐसी तिया समाग ॥ ४६४ ॥
 बिहसि बढायो छाल गुम तिय हिय में अनुराग ।
 बिफळ क्यों न दुख देत क्यों आप छगायो बाग ॥ ४६५ ॥
 निशा समै अरविद रुचि, चौस हनु की ब्योति ।
 बाळ-बदन छवि तो बिरह, छाळ कहा पौ होति ॥ ४६६ ॥
 बढी सहेदनि गुंज को धरि सित भूपन पीर ।
 जोन्द बीच जंघुसुरी मई बँधु को छीर ॥ ४६७ ॥
 मेरे मन तो बसति है, नैन कियो अपराध ।
 हुगई दोस को बेटु है, है यह काम असाध ॥ ४६८ ॥
 जमुना तट बा कुंज में गुम जु गई ही माळ ।
 निकसति बीबहि बाधि के लामों रासति बाळ ॥ ४६९ ॥ कति० उ० उ० उ०
 जिन बछाह्ये बछन की बरथा स्याम मुत्रान ।
 हों देखित हों बाहि परि, बाध सुनत दिन ग्राम ॥ ४७० ॥ कति० उ० मावि०
 नैननि को आनंद है त्रिय को जीवनि जानि ।
 प्रगट रूप बँधरप की तेरी मुहु मुसिक्यानि ॥ ४७१ ॥ कति० उ० देउ
 कहा करों, परबस भई छवि मुग रूप रसाळ ।
 बेपी में मँदसाळ है, सीनी में मँदसाळ ॥ ४७२ ॥
 नितुणई नहि नितुर पै, कदति सोंच छित बाध ।
 छगे बँटवित कुचनि में, मय बँटवित गाध ॥ ४७३ ॥
 कहा मयो सो गू भद्र गुन गनमय सब बेह ।
 जोबनबारी तो मजस, जो बनबारी नेह ॥ ४७४ ॥

मुक्त मास मंडित छसै बाळ छरोब छर्तग ।
 नक्षत्र पौति सोमित मनो बिबि सुमेरु के मृग ॥ ४७५ ॥
 दोप-ज्योति के बाळ-से जगमगाति अति जंग ।
 मानस मानस के चपळ छड़ि-छड़ि परै परतंग ॥ ४७६ ॥
 निवसि अवि अमिराम सी, ईषीवरनि अनूप ।
 झलकति तो ऐश्वर्यानि में अति बनस्याम स्वरूप ॥ ४७७ ॥
 छसत मुरत अम सखिछ कम, छछित बाळ नैबछाळ ।
 फली मनो मुक्ता फलमि कंचन बेछि तमाळ ॥ ४७८ ॥
 बिहसत भीळ हुकूल में छसत बदन भरबिंदु ।
 हलक्य बसुन्ता रूप में, मानो पूरन ईहु ॥ ४७९ ॥
 बरठारी सारी हके नैन छसति मतिराम ।
 मनो कनक पंखर परे लखरोठ अमिराम ॥ ४८० ॥
 छान्दकरत-छत देत यो सोहत बाळ छरोब ।
 सरसरोज सों संसु की मारत मनो मनोज ॥ ४८१ ॥
 स्वाम नैन प्रतिबिंब खुव तिय के सरब जंग ।
 मनो मनोज सरोज सर, छो ईस के अङ्ग ॥ ४८२ ॥
 रचे बिर्चि बमाह के तेरे ईस छरोब ।
 तिमके पूखन कों किए हरि के हाथ सरोज ॥ ४८३ ॥
 बदन ईहु तेरो अछी, छा भरबिंदु अनूप ।
 तिनमें निसि-बासर सदा बसत इंदिरा रूप ॥ ४८४ ॥
 तो मुख मंडुछ हास महु, मदन मोद की मूर ।
 पिय नैननि सीतळ करत है कपूर को चूर ॥ ४८५ ॥
 तेरे आनंद धंद की मधुर मंद सुहु हास ।
 मेरो जानि मनोज की कीरति पुंज प्रकास ॥ ४८६ ॥
 रची बिर्चि बमाह ई सुधरनमय बर बाळ ।
 बदे जोति बी हो मिलै ईहु नीळ रुचि छाळ ॥ ४८७ ॥
 बिमल बाम के बदन में राबत ओठ रसाळ ।
 मनो सरब बिन्दु बिंद में छसत बिमलछ छाळ ॥ ४८८ ॥
 छसत मुकुट रुचि छाळ की मेरे ओठनि सेह ।
 अति अद्भुत यह बाढ पुनि, छाळ मुकुट रुचि लेह ॥ ४८९ ॥
 अजी विहारे अघर में सुधा योग की साज ।
 द्विजराजनि सुत ज्योतिष, छाळ बदन तुजराज ॥ ४९० ॥
 दुहुँ दिसि बचन निरंज कृप, कैचत है निधि सार ।
 क्यों न क्यों न मर्यक-मुक्ति, छछित संक मुकुमार ॥ ४९१ ॥
 क्यों न छहै मुख योग की छछित बाळ के नाथ ।
 नोबो नीबो मदन की परो नाह के हाथ ॥ ४९२ ॥

कर सरोज सौं गहि रही, पिय कर गहत सरोज ।
 छाछ प्रबल मन में भई, मन में सबल मनोज ॥ ४९३ ॥
 बेठि रहे, रोये, हँसे, आतुर चरि उताळ ।
 प्रथम मुरति बिपरीत की रीति न जानति बाळ ॥ ४९४ ॥
 यही मुरत बिपरीत में, लियो बिघन कर पाळ ।
 छोपन रही उपाह के, छरयो हसत मुख छाळ ॥ ४९५ ॥
 मोर होत पिय की छसयो, छोड़यो पइत समीप ।
 बिधु-मुख छोपन कमळ से वनु दोषति वनु बीप ॥ ४९६ ॥
 परै न पुनि मुनि सखिज को, छाजनि होति अघोर ।
 कर कमळनि सौं गहि रहे मुरत मुखर मंजीर ॥ ४९७ ॥
 पाळ मुरत रस रीति में गही छात्र अरु मैन ।
 करनि बिरल खँगुरीनि करि मूँदति नायक नैन ॥ ४९८ ॥
 छात्र मैन हूँ बिच परी मुरत समे मुखियाइ ।
 कमळ चढावे करनि गहि दोष समीप पचाइ ॥ ४९९ ॥
 रति बिपरीति प्रवेदकन पिय को सीधति वाम ।
 मनो प्रीढ़ पुभाग के मुखनि पूजति काम ॥ ५०० ॥
 राखत अरुन सरोज है, मानहु रंगे कुसुम ।
 जोपन भई गज कुंभ के सावकुंभ से कुंभ ॥ ५०१ ॥
 ऊँची खासनि सौंपिये, मुरत अन्ध मुखियाइ ।
 पुनि पोतन के मैन की बीनी जागि जगाइ ॥ ५०२ ॥
 ममो मैन के निधि कइस तेरे तरुनि सरोज ।
 चाहत जे विय पै इहै पाठनि हमत मनोज ॥ ५०३ ॥
 पल्लव पग, कर अघर है फल सरोज मल पूछ ।
 और मोर पर बार है, बाळ बेछि के वृक्ष ॥ ५०४ ॥
 मल-गोसो, सर-आँगुरी, कर-पग पाह तुनोर ।
 इसौं दिसनि दिन भरनि सँ, पबर पंचसर घोर ॥ ५०५ ॥
 ब्याळ जाळ बिगुलि छटा पटा धूम अनुहार ।
 बिरहिनि जारनि को मनो छार्द मयून दीवारि ॥ ५०६ ॥
 बलप पीठि दरबनि मुखनि, सर कुच-कुंज-छाय ।
 जिते जाहु मनमाँदते, जिते बिकाने आप ॥ ५०७ ॥ र० उ० म० अ०
 इन हठी सौंहनि किये नहिं द्वेही अकलंक ।
 कियो अघर-अँजन प्रभा । बदन-भई सलंक ॥ ५०८ ॥
 बेठो आनन कमळ के अरुन अघर-दख जाइ ।
 काटन चाहत भाँदते, रीजो और उहाइ ॥ ५०९ ॥
 बिघन इत इत चटपटे, कहत सटपटे बात ।

आबक दोयो पगलि में सुबती आति सिंगार ।
 पुष्प मान प्रिय जानियत, मंडन करयो छिछार ॥ ५११ ॥
 मछी छौ मन माँबते, करी जामरन आप ।
 काम निसेनी-सी बनो यह बेनी की छाप ॥ ५१२ ॥
 बनो उड़ावत ही नहीं, पीर न होत समाग ।
 ठौर-ठौर वा भीर के दूरे अघर दूक दाग ॥ ५१३ ॥
 सीने शगा बिकोकियत नख छत छवि घर नाह ।
 मछे बिराजत प मय, चंद्रहार द्विप माह ॥ ५१४ ॥
 छवि विहारे गुननि सौ अति सनेह सरसाह ।
 काम ओज बाके द्विप दीनो दीप जगाह ॥ ५१५ ॥
 अठनु तेज ठकै सुवतु, ठनु जीवन क्यों मीम ।
 नंदलख यह है रछो चंदकछा सम छीन ॥ ५१६ ॥
 कहा कछो बाकी दसा, सुनो साँबरे बाव ।
 बैसे बिन कैसे बियै, बेकात हग न अबाव ॥ ५१७ ॥
 परै कौन बिधि बीर वह, सुनो बीर बखीर ।
 काम तीर की बीर मरि द्विपरो मरयो हुन्यीर ॥ ५१८ ॥
 बाके द्विप के हसन को मयो पंचसर बीर ।
 छल हुनै बसकरन को रहै न तरकस बीर ॥ ५१९ ॥
 बचन कहत आवत न बनि, बखो छनौ बखि आपु ।
 प्रबळ अनंग प्रयाप सौ अंग-अंग संतापु ॥ ५२० ॥
 सखिन करति अपचार अति, परति बिपति छत रोख ।
 सुरसत ओज मनोज के परसि अरोज सरोज ॥ ५२१ ॥
 बागत ओज मनोज के परसि पिपा के गाव ।
 पापर होत पुरैनि के चंदन-पंकज पाव ॥ ५२२ ॥
 बन-सुंदर तो छवि बटा, लनै रही मन छाह ।
 आज चंचला छौ वसकि चंचळ आति दिखाह ॥ ५२३ ॥
 सुंदरि नगर अनंग कौ तेरो अंग अपूप ।
 सोमित सुपरन परन में जरब गुरब के रूप ॥ ५२४ ॥
 तुम छाहक हम हैं कहाँ, तुम हम तें कमनीय ।
 मो मन तो तन में बसी बसति पाह रमनीय ॥ ५२५ ॥
 रंजनाळ मग है कदव सिध तन दीपति पुंख ।
 सिधिया को सो घट यधौ बिन ही में बन हुंख ॥ ५२६ ॥ रत्न उ० नायिका
 सुनि-सुनि गुन सब गोपिकनि समुझ्यो सरस सबाप ।
 कदी अघर की माधुरी मुरली है करि नाह ॥ ५२७ ॥
 अब फिर आवत है नहीं मो तन जीवन हीम ।
 तो तन पानिप रूप में, मो मन रूप बिछीन ॥ ५२८ ॥

भई देवता-भाव यह, हौं तुमको बलि बाँधें ।
 बाही को मुख रूप मन, बाही को मुख मारें ॥ ५२९ ॥ ए० ४० मध्यम-मान
 कहे चोर के चोर सो, बाँधे भौंह पढ़ाह ।
 छर्ये पररपर गोपिका आपुस में मुसिक्याह ॥ ५३० ॥
 बिसर जात सब दुख सखो मन में आनत बाहि ।
 अबलोकन पैयत मही, अबलोकनि सो ताहि ॥ ५३१ ॥
 करिये संग सखीनि के कही कीन बिधि सैह ।
 अछि रोकत मग बास में छेड़ गाँव में गैह ॥ ५३२ ॥
 सिखा सपन बनस्याम हर तिय कुच सैह कठोर ।
 मुकुट हार दुरि बात है परिरंमन के जोर ॥ ५३३ ॥
 छोरी रहे हरि हिय रहे करि ईरला बिसाल ।
 परिरंमन में बल्लबी मली दबी घनमाल ॥ ५३४ ॥
 अपम अजामिठ आवि जे हौं तिमको हौं राह ।
 मोह पर कीये मया कान्ह दया-दरिवाह ॥ ५३५ ॥
 छसति दान की क्योति घों बाळ बदन मुसिक्यात ।
 अमल किंजल्क झलक क्यो कमल प्रपुष्पित प्रात ॥ ५३६ ॥
 मिछि बिसरे हो आपुकी सुमिरत सुधि न सँमार ।
 किंकिन की हर हार करि कछिही कहा विहार ॥ ५३७ ॥
 अपर रंग बेसरि मुकुट मानिक बानिक सेह ।
 ईसव पवन दीपति बहुरि होठि हीर छवि सेह ॥ ५३८ ॥
 अनमिष नैन कहे न कछु, समुझे सुने न कान ।
 निररो मोर पछानि क भई पछान समान ॥ ५३९ ॥ ए० ४० बढ़ता
 ठठे जगत दुख पैम को हो कठोर कुच कुंम ।
 निसिचर कुंम-निकुंम क्यो दामक सुंम निर्मुंम ॥ ५४० ॥
 प्रतिबिंबित निज रूप छवि पिय के मीनन मोह ।
 मुख पुंवन को प्रेम सो गहो कँठ दुई बाह ॥ ५४१ ॥
 सकल कल्य कमनीय पिय मिछन मोह अपिछात ।
 बिछसतिमाछतिमुकुछनिसि, निसिमुखसुमुसिक्यात ॥ ५४२ ॥
 बरकत नही पियोग में छोने घनक घन घोर ।
 तरे छरजनि मिछि मयौ मेरो दिवो कठोर ॥ ५४३ ॥
 हरि रानिनि में राधिका, सुषदिन बानी एह ।
 बर सुदाग अनुराग की कोमो बिसल बिबेह ॥ ५४४ ॥
 राधा की बेनी छरी, जो हरि रूरी आप ।
 बिठ मुख मागर को मयो बहुबानत सेताप ॥ ५४५ ॥
 छसति छाळ रुचि तरुनि के अमल कपोलन पीक ।
 रुचि-रुचि परसत हृदुर में मयो अनल की छीक ॥ ५४६ ॥

बाळ छळ मुख सीति कौ, मुग्घो नाम परकास ।
 बरये बावर सैन पर बहुयो हंस सम दास ॥ ५४० ॥
 कहा रहै निहचिह ॥ छसी छळ चलि आप ।
 प्रलय अनिल सम खास है, प्रलय अमल सम दास ॥ ५४८ ॥
 चाहत फल तेरो मिलन निसि-बासर यह बाळ ।
 कुप सिख पूजति, नैन-बळ पुंइ मुक्खमय माळ ॥ ५४९ ॥
 तरुनि अरुनि पड़ीनि के किरम समूह खोति ।
 बेनी सदन मुक्ख के पुंइ गुंइ हुति होति ॥ ५५० ॥ रस० उ० मामिका
 छळ बदन छवि बाळ के कुचनि कंठ रुचि होति ।
 चपल होत चक्का मनो चाहि चंद की खोति ॥ ५५१ ॥ रस० उ० फन
 गयो महावर छुटि यह, रछो सहज इक अंग ।
 फिरि-फिरि झाँचति है कहा रुचिर परम के अंग ॥ ५५२ ॥
 छसत कोकमद करमि में यों मिहरी के दंग ।
 जोस बिंदु परि के मितयो मनो पच्छवनि राग ॥ ५५३ ॥
 मुनि हत वै मम मानिनी बिन अपराध रिसानि ।
 नह बनावन कौ महा वीप खोति सर आनि ॥ ५५४ ॥ रस० उ० मानवरी
 मुनि मानिनि अपराध बिन, कहा तबत दग बारि ।
 निसि बासर यह मानियै, बारै राग पकारि ॥ ५५५ ॥
 बैख्यो ओख बगाइ के मन सिंहासन माद ।
 मनो छपाकर छत्र छवि किरनौ चौखर बाद ॥ ५५६ ॥
 इसनि बोल्ह तेरी छरै, मुनियै नैदकिखोर ।
 बाके नैननि होत है कुमलय किधौ चकोर ॥ ५५७ ॥
 सखित सख मुसक्यानि हुति देखत हरत कहेस ।
 छळि छळ तेरो बदन तिय ओचन तारेस ॥ ५५८ ॥
 रछो हारि बिपरीति में, पिय नैननि में आइ ।
 चंदमुखी सीचति मनो मुषा-कलस-कुच नाइ ॥ ५५९ ॥
 सखी सखै सिंगार सुम, सखि सुन्दरि के अङ्ग ।
 केछि मौन पहुँचाइ के फिरी छात्र के रंग ॥ ५६० ॥
 नीबी खोछनि कौ गही पिय अमुराग निखोटि ।
 हरष मयन अलमय वसन, कियो छात्र निज खोति ॥ ५६१ ॥
 भौंसु छपा के हरष के सजनी भौंह कहाइ ।
 कुच कंधुक रोमच की ब्यौं न तुरायो आइ ॥ ५६२ ॥
 है छपाइ मूपननि सौं आप गाव छपाइ ।
 भय चीन्ह छत छपारत, य नहि जात छपाइ ॥ ५६३ ॥
 रहत नही मो बीच यह, चकत तिहारे संग ।
 याकों नीकै राखियो पिय बसाई मित्र अङ्ग ॥ ५६४ ॥

शिथि रूप भुति बचन, तनु परस सुखद दिन-राति ।
 होम अघर-रस, नासिका मुख-मुखास न अपाति ॥ ५६५ ॥
 गरसत तिय के करनि ते बस्यो पिपिळ नवनीत ।
 बसनहार परदेस को कियो न पुनि मन भीत ॥ ५६६ ॥
 दहा भयो जो सुरत में फूले रूस बिसाळ ।
 छलछली मुख छाति है, प्रफुल्लित पाह रसाळ ॥ ५६७ ॥
 छलछली वो नाम ही, रही मैं सख काळ ।
 पाह प्रसाह रसाळ की बोलन छगो रसाळ ॥ ५६८ ॥
 मोर मोरों भरत है, कोकिल-कुल मंडरात ।
 या रसाळ की मंजरी सौरभ सुम सरसात ॥ ५६९ ॥
 कसों जाति पलायन है आँख-कछो रस बिच ।
 बिसरायो जिहि जाति हैं बचरीक की पित ॥ ५७० ॥
 छीनो रस कोकिल कुलनि आँख-कछी को झारि ।
 तासों मन मान्यो मधुप, सुमना सुमन बिसारि ॥ ५७१ ॥
 पाद नाथक सों बाबरी, मधुर बचन मुख पाछि ।
 छतरि आहूँ रूप-मह कटुक बचन मुख बोछि ॥ ५७२ ॥
 कियो कंठ पित बचन को, तिय दिय भयो बिपाह ।
 बोल्यो बरनायुष सुखी भयो नलायुष नाह ॥ ५७३ ॥
 फूल कपोल मधुक के अघर पित फल रस ।
 रस पासत पिय मुद्रि बन, क्यों न होय जनमच ॥ ५७४ ॥
 निरखि तरनि कर निरख की, अरु बरनत आछोक ।
 होव प्रफुल्लित सोक तजि सकळ कोकनद कोक ॥ ५७५ ॥
 पिया अछोकनि में निरखि पीक अरुन घर जोति ।
 तन दीपति दिन दीप सब, सब सीतिम ॥ होति ॥ ५७६ ॥
 बसम हरयो पिय सुरत में, तिय तन जोति समीप ।
 केछि-भौन में राति हू भय शीत के दीप ॥ ५७७ ॥
 अटा ओर मैदबाळ पत निरखी नेक निसंक ।
 बपळा बपळाई तजी, पैदा तजी कर्तक ॥ ५७८ ॥
 पिय मुख पंढर में परे तिय-दग-मधुप धड़ाह ।
 अरुन भय रस पान बस राग पराग छगाह ॥ ५७९ ॥
 आनंद आमुन सों रहै छेचन पूरि रसाळ ।
 शोनी मानो छाळ को बल अंगुलि बर बाळ ॥ ५८० ॥
 बिरह जनक मुमुदिनि द्विष्ट दारयो जोग्द मुसाह ।
 मुमुदिनि तें ममो घूम रवि अछि-मुख बरे चढ़ाह ॥ ५८१ ॥
 रति बिछास सुक सारिकनि, कहे गुरुनि में प्रात ।
 छात्र छविगुन गुन गौरि के दुरे गाग में गात ॥ ५८२ ॥

परो पाव मुख-मंद में बिरह राह की छाँह ।
 के दग वान मुझाइये, मुकुट हेतु करि नाँह ॥ ५८३ ॥
 अति अचरात महा मिही कसी बरोब रसंग ।
 केसरि रंग रंगि छो बँगिया रंगनि संग ॥ ५८४ ॥
 फूले नही पछास य, बन में छोटी बैबारी ।
 सौँच कइति सखनीनि ती, सके न नैननि बारि ॥ ५८५ ॥
 झड़त मौर ऊपर छसै पल्लव-छाछ रसाछ ।
 मनो सधूम मनोब को कोब-जनक की ब्याछ ॥ ५८६ ॥
 बिकस अरुन मेवक घरन, गुंजा बीज समान ।
 किमुक मनो मनोब के काछकूट कुत वान ॥ ५८७ ॥
 प्रथम कामिजन मननि को रंगत मुरमि रिनु राग ।
 करत अछंछत पल्लवनि, पुनि पीछे बन बाग ॥ ५८८ ॥ रस० उ० उद्दीपन
 देखि परे नहि बूबरी, मुनिपै त्याम मुजान ।
 जानि परे परबक में अङ्ग बाँच अनुमान ॥ ५८९ ॥ रस० उ० व्याधि
 सपने हूँ बितवत नही और खोर बर बाछ ।
 तू अपने अमुराग के रंगो रंग में छाछ ॥ ५९० ॥
 कहा होति अति ही निदुर, तू म बिछेकति बाम ।
 तो सिंगार रस रंग में अङ्ग रंगे निज त्याम ॥ ५९१ ॥
 दिसि-दिसि हुनई बिछेकि बह बाछ तबति अति सोक ।
 तो प्रतिबिंबित सहित सब भयो मुकुट मृष छोक ॥ ५९२ ॥
 कीनो अति अमुराग सों पीतम भाचे रूप ।
 मनो छिप गुन गौरि हैं गुन गौरिहें अनूप ॥ ५९३ ॥
 जे अंगनि विष संग में बरखत हुते पियूष ।
 ते बीछ के डंक-से मय मयक मयूप ॥ ५९४ ॥ रस० उ० उद्दीपन
 बाहि बाहि बहिस किषो, गने न निसि मग-हाम ।
 कंद विकान्यो अनत सो, रछो अकस को छाम ॥ ५९५ ॥
 मनमोहन तो सकल क्यों, यो अपराधमि ठानि ।
 जो न मनाबत हेतु यह होति मधुर सुसिक्त्यानि ॥ ५९६ ॥
 पिपदि उठावनि पगति सैं, क्यों म कौन यह ज्ञान ।
 ठुल सागर में बूझिहै बाँधि गये गुरु मान ॥ ५९७ ॥ रस० उ० मान
 जो सखनी गुनगननि बस अति सनेह रस यानि ।
 मयो दास तब सो छलै, अथ उदास रँकिषानि ॥ ५९८ ॥
 मुनि सखनी बह सौँबरी, परि गुंजनि के हार ।
 राखतु हे हिय आपुनो तो सनेह घनसार ॥ ५९९ ॥
 अलि यह अनल अनंग को अङ्ग-अङ्ग अधिकार ।
 क्यों कौँ चंचल मान ए पारव लौन उदाव ॥ ६०० ॥

कदा द्वियौ गुरुमान की, अति तापी है मेम ।
 पारद सो बड़ि जाइगौ अलि चंचल यह प्रेम ॥ ६०१ ॥ रत्न० व० अ० ना०
 जानति सौति अमीति है, जानति सखो सुनोति ।
 गुरुजन जानत छात्र है, प्रीतम जानत प्रीति ॥ ६०२ ॥ रत्न० (ब० स्वामीया)
 छसत चारु तारनि सहित, तिय छोचन कमनीय ।
 पड़े शंखटोनि मनो, चंचरीक रमनीय ॥ ६०३ ॥
 नीद भार दावे दगनि, छसत पोक पर माग ।
 कुवलय मुकुटित होत क्यों, परसि प्रातः-रवि-राग ॥ ६०४ ॥
 दरपन अमल कपोल में, परत पानि प्रतिबिम्ब ।
 पुनि-पुनि पौठति पोक भ्रम, देखि आदरस बिम्ब ॥ ६०५ ॥
 पलकल कलिका कुल कलक, अचल कुल की केलि ।
 छोटे कल कलोल है, छाल छाल कहेलि ॥ ६०६ ॥
 अल प्रीत घनदयाम दधि फनई धूमियन आइ ।
 रही कदम्ब कट्येनि की अंग येलि छवि छाइ ॥ ६०७ ॥
 तन दुरबल मनमय प्रबल, डिंग बसत पिय दूरि ।
 अचल बिरह चलि-बीष सखि, तनक न सुख दुख भूरि ॥ ६०८ ॥
 हरयो बसन मन भोजते फिरि किंकिनि गुन तोट ।
 करै मनो मन भोजी पुष्प पटल-नट ओट ॥ ६०९ ॥
 औरनि हू के छसत है, अति अनिपारे मैन ।
 मन मानत हैई न वे, सो मन छागत पैन ॥ ६१० ॥
 है यह गोंब गुलाम नर पुर ठाकुर के गेह ।
 बसौ न आवति बास है, जो दूर की दूर ॥ ६११ ॥
 प्रीत मन की छावसा, जगन जगति गुन माय ।
 मुर नर पल्लव अरुन रुचि भागनाथ के हाथ ॥ ६१२ ॥
 कलपद्रुम पल्लव भयो, सँ अति दानि निशान ।
 भोगनाथ नर नाथ के हाथ साय बड़ि दान ॥ ६१३ ॥
 छाल भाळ जाबक छगे, छटे रसिक सिरसाज ।
 सौति सखी सुन्दर दगनि रोस दास अरु छात्र ॥ ६१४ ॥
 छगे निसा अमिसार में कटक तिय के पाइ ।
 अछौ न सरुहै निरुर तुम भये और ही पाइ ॥ ६१५ ॥
 मो मैननि नीचे छगे, रही छपट यह भाळ ।
 तनक रगो यह पाग अय छाळ करै सब छाळ ॥ ६१६ ॥
 छाळ विहारे पछन की सुनो बाळ यह बाज ।
 सरद नदी ये सोत सँ प्रति दिन सुगति गात ॥ ६१७ ॥
 दियो प्यार मो पर प्रगट, मैं छेनो धरि सीस ।
 पिय प्यारी के नाम यह दियो मोहि बखसोस ॥ ६१८ ॥

परो पाळ मुख-बंध में बिरह राह की छाँह ।
 कै दग दान मुझाइये, मुकुट हेतु करि नौह ॥ ५८३ ॥
 अति अवदात भइ मिही कसी चरोख चतंग ।
 केसरि रंग रंगि छौ बँगिया अंगनि संग ॥ ५८४ ॥
 फूले नहीं पलस प, बन में छगो वँवारि ।
 सौँच कइति सबनीमि ली, सबै न नैननि बारि ॥ ५८५ ॥
 छुट मोर छपर छसे पल्लव-छाछ रसाछ ।
 मनो सभूम मनोज को भोज-अनछ की ज्वाछ ॥ ५८६ ॥
 बिरुच अरुन मेचक बरन, गुंजा बीज समान ।
 किंसुक मनो मनोज के कछकूट सुत बान ॥ ५८७ ॥
 प्रथम कामिजन मननि को रंगत मुरमि रितु राग ।
 करत अछछत पछबनि, पुनि पीछे बन बाग ॥ ५८८ ॥ रस० उ० उड़ीपन
 देखि परे नहि दूबरी, सुमिरै स्थास मुखान ।
 जानि परे परबंक में अङ्ग औँच अनुमान ॥ ५८९ ॥ रस० उ० व्याधि
 सपने हूँ बितवत नहीं और ओर बर बाछ ।
 तू अपने अनुराग के रंगो रंग में छाछ ॥ ५९० ॥
 कहा होति अति ही निडुर, तू न बिछोइति धाम ।
 तो सिंगार रस रंग में अङ्ग रंगे निज स्थास ॥ ५९१ ॥
 बिसि-बिसि तुन्है बिछोकि यह बाछ तइति अति सोक ।
 तो प्रतिबिंबित सहित सब भयो मुकुट भूप छोक ॥ ५९२ ॥
 कीनो अति अनुराग सौँ पीतम आधे रूप ।
 मनो छिप गुन गौरि तू गुन गौरिते अनूप ॥ ५९३ ॥
 ते अंगनि पिप संग में बरखत हुते पियूप ।
 ते बीछ के बँक-से भए मर्यक मयूप ॥ ५९४ ॥ रस० उ० उड़ीप
 जाहि जाहि उदिम कियो, गने न मिथि मग-धाम ।
 कंद बिकाम्यो अमद सो, रछो अजस कौ छाम ॥ ५९५ ॥
 सममोहन तो सकल क्यों, थो अपराधनि ठानि ।
 जो न ममावत हेतु यह होति मधुर मुसिक्यामि ॥ ५९६ ॥
 पियहि छडाबनि पगति हैं, क्यों न कीन यह छाम ।
 मुख सागर में बूझिहैं बाँधि गये गुरु मान ॥ ५९७ ॥ रस० उ० मान
 जो सबनी गुनगननि बस अति सनेह रस मानि ।
 भयो दास तब सो छलै, अब पदास अँक्षियानि ॥ ५९८ ॥
 सुनि सबनी यह सौँबरी, बरि गुंजनि के द्वार ।
 राखतु है दिय आपुनो तो सनेह बनसार ॥ ५९९ ॥
 अलि यह अनछ अनंग को अङ्ग-अङ्ग अधिकार ।
 क्यों भी बँचछ मान प पारद छौन उड़ाव ॥ ६०० ॥

कदा द्वितीय गुरुमान की, अति तापी हे नेम ।
 पारद सो रुद्रि जाइगौ अति चंचल यह प्रेम ॥ ६०१ ॥ रत्न० उ० अ० ना०
 जानति सीति अनीति है, जानति सखी सुनोति ।
 गुरुजन जानत छात्र है, प्रीतम जानत प्रीति ॥ ६०२ ॥ रत्न० (उ० सखीया)
 छसत चारु चारनि सहित, तिय सोचन कमनीय ।
 चढ़े छत्रोदनि मनो, चंचरीक रमनीय ॥ ६०३ ॥
 नीरु भार दावे दगनि, छसत पोक पर भाग ।
 कुलद्वय मुकुलित होत क्यों, परसि प्रातः-रति-राग ॥ ६०४ ॥
 दरपन अमल कपोल में, परत पामि प्रतिबिम्ब ।
 मुनि-मुनि पौडवि पोक भ्रम, देखि आवरस विम्ब ॥ ६०५ ॥
 कलकल फलिछा कुल छलक, कचिठ कुच की केलि ।
 छोले कल कलोल के, छाल छाल कंचेलि ॥ ६०६ ॥
 बल पूरित धनदयाम रुषि जनई धर्मियन आइ ।
 रही कदम्ब कछोनि की जंग बेलि छवि छाइ ॥ ६०७ ॥
 तन दुरबल मनमय प्रबल, दिग वसंत पिय वूरि ।
 अचल बिरह चकि-जोष सकि, तनक न मुखदुख मूरि ॥ ६०८ ॥
 हरयो वसन मन भाँवते फिरि किकिनि गुन छोट ।
 करै मनो मन भाँवती पुच्छ पटल-गढ आट ॥ ६०९ ॥
 बीरनि हू के छसत है, अति अनियारे मैत ।
 मन मानत है न ये, सो मन आगत वैत ॥ ६१० ॥
 है यह गाँव गुहाय बर पुर ठाकुर के मोह ।
 चढौ म आयति बास है, जो देखर की पह ॥ ६११ ॥
 पूरित मन की छाछसा, जगन जगति गुन माय ।
 मुर नर पल्लव अरुन रुषि भोगनाथ के हाथ ॥ ६१२ ॥
 कलपद्रुम पल्लव भयो, मू अति दानि निदान ।
 भोगनाथ नर नाम के हाथ साथ पडि दान ॥ ६१३ ॥
 छाल भाल आवक लगे, बढ रमिक सिरतात्र ।
 सौति सखी सुन्दर दगनि रोम हास अरु छात्र ॥ ६१४ ॥
 छगे निजा अभिमार में बेटक तिय के पाइ ।
 अत्रो म सरुहे निठुर तुम भये बीर हो भाइ ॥ ६१५ ॥
 मो मैतनि मीछो छगे, रही छपट यह माछ ।
 तनक शो यह पाग अब साछ करै सब साछ ॥ ६१६ ॥
 साछ तिहारे चलन की सुनो नाम यह नाम ।
 सरद मदी पे सोत छी प्रति दिन सुगति गान ॥ ६१७ ॥
 द्वियो प्यार मो पर प्रगट, मैं छोनो घरि सीस ।
 पिय प्यारी के नाम यह दियो मोहि बचसीस ॥ ६१८ ॥

सुरच्छि गयो बिछाई के हुस्वो परम अमिराम ।
 माह राबरे नेह यह, मये गंधरब गम ॥ ६१९ ॥
 द्विच अनुराग रंगे छाया, ये कहु और अमोख ।
 ओठनि ही के रंग मय, रंगि रंगि बोल्य बोल ॥ ६२० ॥
 छोड़ि नेह नैवछाछ की, इस नहि चाहत भोग ।
 रंग-बाति क्यों छेठ है रदन पारखी भोग ॥ ६२१ ॥
 भोगनाथ मर नाथ के गुन गम बिमल बिसाल ।
 मिष्कुक सेवत पानि है, पग सेवत महिपाल ॥ ६२२ ॥
 अमृत गावत जगत सब भोगनाथ गुन गाव ।
 भूमिपाल सेवत करन, मिष्कुक सेवत हाव ॥ ६२३ ॥
 एक दौस की औधि पिय, अति साहस आरम्भ ।
 मम सो कहु बरि मात क्यों मुबनि खलधि को अम्भ ॥ ६२४ ॥
 हरद करन हैं अधिक बड़ि सरद होत वह मित्र ।
 सरद बोन्ह में मानियो, दरप न आवत चित्र ॥ ६२५ ॥
 औ बियोग बड़वागि की ब्याल न नेक करयो न ।
 सो सागर अनुराग की सूखत धामि परयो न ॥ ६२६ ॥
 क्यों-क्यों विषम बियोग की अनल ब्याल अधिकार ।
 क्यों-क्यों तिय की वेह में नेह छठत वफिनाह ॥ ६२७ ॥
 बड़वानल पर बड़ि है विरह ताप तब अंग ।
 अति अमृत अधिकारि है प्रेम पयोधि तरंग ॥ ६२८ ॥
 वहे सबे अमुनय सहित, अमुर बचन चित आव ।
 क्यों राखै अब रोकि सखि, फूट्यो प्रेम तखत ॥ ६२९ ॥
 अति कर्तव्य करनि छसत, अपल मुकत बर हार ।
 मनो मेरु गिरि गूंग हैं गिरत गंग जुगधार ॥ ६३० ॥
 सरस बाल को मन छाया, पारावार अनूप ।
 मीरख मानसरोवरो, मारबार के रूप ॥ ६३१ ॥
 चढ़त मुन्यो नहि स्याम में और रंग अरु बाल ।
 अबर राग सो हैं रंगे, अमृत वै नैवन्मल ॥ ६३२ ॥
 एक मय मन हुहुनि के, छुटे न किये कषाय ।
 कही सिंधु संभेद को कोक न सकत छुड़ाव ॥ ६३३ ॥
 हरिन रूप विरहीन की, जलद बाल बगराह ।
 बाधि-बाधि जाननि बधत, मार बधक सम आव ॥ ६३४ ॥
 प्रफुली सुमन रमाळ के कंध धिटप मुझ मेछि ।
 मात निवारी विरह की, फूल निवारी बेछि ॥ ६३५ ॥
 निब स्वरूप प्रभु देत है सौंष कहत मुनि गोठ ।
 भोगनाथ की रोहिमें भोगनाथ फवि होत ॥ ६३६ ॥

सरल बान जाने कहा प्रान हरन को पाव ।
 रंक भयंकर धनुष की गुन सिखावत सतपाव ॥ ६३० ॥
 कियो भोग सपने रमन परम मुगध मन बाळ ।
 सेमुक प्रति पराहने, छई रंक भरि छाळ ॥ ६३८ ॥
 दियो काहू निज कान हैं तुम गुहाप को गुच्छ ।
 गुरुजन में अवतंस करि फिरति छाळ करि गुच्छ ॥ ६३९ ॥
 सखी सिखावन राबरे, कहो कहा अब दाह ।
 मोहम तन पानिप गई छात्र दगनि को धोह ॥ ६४० ॥
 छात्र गई मोहहि डहे, निशि दिन ददैन रह ।
 मुनी साँबर राबरे, तहाँ न दोजे नेह ॥ ६४१ ॥
 चढ़ी अटारी बाम बह कियो प्रणाम निजोद ।
 तरनि करनि हैं दगनि को पर सरोज करि ओट ॥ ६४२ ॥ रत० उ० क्रिया वि०
 कदव पिपूषहु ते मयुर मुख सरसुति के सोव ।
 भोगनाथ नरनाथ के साथ बसे कबि होव ॥ ६४३ ॥
 दिनहु में अति जगमगे बाळ पदन बिधु फाति ।
 छली छाळ या संधि में बड़े सेख की मोति ॥ ६४४ ॥
 भोग नाथ मुख-पंख को ओर छलव मरबोर ।
 करौ कौन बिधमान ए ओपन होव बघोर ॥ ६४५ ॥
 जंग करत परिरम में मुषा समुद्र बिनोद ।
 मुरत अमृत हू पाइये, मुरत आदि को मोद ॥ ६४६ ॥
 भूमिपति के परबाह में अति बूझिये बराति ।
 कहा करै मैनानि को, भीरु नहीं नियरति ॥ ६४७ ॥
 जनक ज्वाळ सी छाति है, बाळपने में बाळ ।
 बग जारन को सानियत जीवन में जंभाळ ॥ ६४८ ॥
 पलक-पलक छागे बिना, क्यों करि दगनि बिनाह ।
 सोवन देत न सरद में पिकष तुमुद आभोद ॥ ६४९ ॥
 तेरो सख्ये सुहाग बर, जानत हैं सब छोक ।
 होत बरन के परस पिय, प्रसुखित सुमन असोक ॥ ६५० ॥
 मोठम पिपा पिपाह के, मुर मुर मुषा अनूप ।
 पुलक मुमुञ्ज केसर पटल, करि केसरि अनुत्प ॥ ६५१ ॥
 पिय के मन मन भाँवती, भीर बाळ भाँहि पूछ ।
 कुप परिरमनसो तरुनि, करि नुरपक तरून ॥ ६५२ ॥
 करि बर पाव पिपीनि सौ, सुमन कलि अनुकूञ्ज ।
 तरन विसोछो तिलक कौ, तरुनि तिलक तर रूप ॥ ६५३ ॥
 पितबनि कुप परिरम मुर, सिद्ध बरन इति कहि ।
 दियो तिलक कर बह निठिठ सास बहुञ्ज कंकडि ॥ ६५४ ॥

हीत जगत में सुखन को दुरजन रोकन हार ।
 केतक, कमल, गुलाब के कंठकमय परिहार ॥ ६५५ ॥
 कसु म गनति दुरजननि छवि, छेहि दगनि मुख देति ।
 निषरि कंठकनि मधुकरो रस गुलाब की छेति ॥ ६५६ ॥
 कृपति कठो गुलाब की, सखि यह रूप छखै न ।
 मनो दुखवति मधुप को वै घुटकी की सैन ॥ ६५७ ॥
 भ्रमव रहत मिस बीस हू करी मधुकरी लूछ ।
 किन्त वह बारो सो हितू किन्त बकिमव की पूछ ॥ ६५८ ॥
 मिले मोहि अति प्रेम सों सतपटाह छठि प्राव ।
 छाड़ि आपनों मौन तुम मौन कीन के जाव ॥ ६५९ ॥
 हियो बल्लभो बाळको अनक भोज निह मैन ।
 तापर तेरे देव तुल छाछ सखौने नैन ॥ ६६० ॥
 हरि द्विष तैं रति रंग में गिरे गुंन गुन-दुष्टि ।
 ममे त्याम जन तैं परे ईदगोपिगन मुष्टि ॥ ६६१ ॥
 करति रसोई बाळ कह मगन तिहारे ध्यान ।
 करति आगि निम्नु बीगुरी, होत नहीं मन ज्ञान ॥ ६६२ ॥
 प्रथम अरष छोटी छगी, पुनि अति छगी बिसाळ ।
 बामन कैसी देह निति मई बाळको छाळ ॥ ६६३ ॥
 करी कोटि अपराध तुम, पाके हिए न रोष ।
 न्यह सनेह समुद्र में, बूढ़ि जात सय दोष ॥ ६६४ ॥
 बिरह वषे दिव-कुचमि छौं बीसुबा सकत न आव ।
 गिरि छद्मगन क्यों गमान ते बीचहि जात बिछाह ॥ ६६५ ॥
 त्याम तिहारे बिरह दग करत सकलजळ रोष ।
 मनो बहावत प्रेम सों, सूर सुवाहिं सरोव ॥ ६६६ ॥
 छाँह बिना क्यों केठ-रमि, क्यों बिन बीबमि रोग ।
 क्यों बिन पानी व्यास, यो तेरो दुसह वियोग ॥ ६६७ ॥
 सो दग कंजनि को दियो दरपसु भोड़ निदानु ।
 भोगनाथ मन भौंघते मय मोर के मासु ॥ ६६८ ॥
 भोगनाथ नर माष की बदन हनु अरविशु ।
 करत कबितनि करत नर मधुर सुषा मधु विनु ॥ ६६९ ॥
 कमल मुखनि कुचलय दगनि, कुमुद मधुर मुसक्यानि ।
 छत्रौ छाळ ऊपर गहळ कमलाकर मुख दानि ॥ ६७० ॥
 तब छौं महि जानति दगनि, जय छौं नहीं छ्योति ।
 बिहसन छीर मिठास मय मग पदकी ओति ॥ ६७१ ॥
 जब-जब तेरो बाळ के बिच पदे मुसिक्यानि ।
 अपर कपोल बिछोचननि तब दग झळकति जानि ॥ ६७२ ॥

बासर में रवि हा लड़ी आमे निरलत भौह ।
 सुनो छाल बा प्रेम के परो आह बिष सौह ॥ ६७३ ॥
 कपट वचन अपराध हैं निपट अधिक सुखदानि ।
 बरे अंग में संकु क्यों होत बिया की खानि ॥ ६७४ ॥
 छाल तिहारे बिरह नित छीन बाळ के अंग ।
 जानति हो चाहति दियो निज साधुग्य जनग ॥ ६७५ ॥
 बाळ अल्प जीवन भई गोपम सरिस सरूप ।
 अम रस परिपूरन करौ सुख बनश्याम अनूप ॥ ६७६ ॥
 सुख बिधु छिन छिन यो रहे एक चौस हो भौस ।
 पून्यो हुषी प्रमाद अब होति अमावस साँस ॥ ६७७ ॥
 कहा कहे कहे वचन, सातक भाष अपार ।
 तरुनि छपायो चाहति तू, तिनको ओट पहार ॥ ६७८ ॥
 तेरो मृदु मुसक्यानि छलि सरह मोन्ह सम रंग ।
 बाहल मोह पयोधि के दगनि तरंग वरंग ॥ ६७९ ॥
 भँसुवनि सौ छाय रहे छाल बाळ के नैन ।
 तब हैं वो दरसन छुट्यो, तब हैं कष्ट छथैन ॥ ६८० ॥
 बाळ गहति इसननि छसत छाल अपर धर बिष ।
 मनो इसन अरबिह है सरह इंदु की बिब ॥ ६८१ ॥
 सखि छपाव यह भाष अब चाहत भयो अनाह ।
 अँखिया में धर की हमगि रह्यो तनीन वनाह ॥ ६८२ ॥
 अँजन जुन भँसुवा डरत, छोचम मीन समान ।
 छसत मीन मनि दंड जुन, मनो मनोज निमान ॥ ६८३ ॥
 सेतु पिनु बदन सहित गिरत नाछ ते दूटि ।
 बिधु हर हैं अनु बिधु बपू परति भासु कर छूटि ॥ ६८४ ॥
 बाके धर बरबोर यह करत सकल तन देनि ।
 परछी मनो मनोज की तिरछी पाठ पितैनि ॥ ६८५ ॥
 झीठि परपर दुहुनि की दई बदन अनु येन ।
 तिय मुख में पिय नैन है, पिय मुख में तिय नैन ॥ ६८६ ॥
 दुहैं ओर मुख दुहुनि के बिधु की करत प्रकास ।
 छत्र भँस्यारी दुहुनि को कटू म पावति बास ॥ ६८७ ॥
 मौन भाँति के बरनिये सुन्दरता नैद मन्द ।
 बाके मुख को भोग छे भयो क्योंति भय चन्द ॥ ६८८ ॥
 दिन में सुमग सरोज है, निसि में सुन्दर हनु ।
 चौस राति हैं चारु अति बाके बदन गोबिन्द ॥ ६८९ ॥
 दिपा बरस बोनो मछी माहन मन्दकुमार ।
 मछो बन्धो छुप्यानि की अंग अंग सिंगार ॥ ६९० ॥

छसत रतन वरपन बिमल हो कपोल बस नारि ।
 सनमुख रहि जो भाळ में छीबै तिरक सँवारि ॥ ६९१ ॥
 मुनव सदा गुरु वचन हित, रहत बिबुधगन साथ ।
 भोगनाथ यह जानियत, सदा भूमि सुर नाथ ॥ ६९२ ॥
 सरनागत पाछक महा, वाम मुख जति धीर ।
 भोगनाथ मरनाथ यह पग्यो रहत रस बीर ॥ ६९३ ॥
 भोगनाथ मरनाथ के छोचन छसत विसाळ ।
 रहत गरीबो गहि दुहुनि, नीबो गहि वरपाळ ॥ ६९४ ॥
 जगत जगत दोऊ मुखा जग्य-रूप के रूप ।
 भोगनाथ मरनाथ की मौंह निहारत रूप ॥ ६९५ ॥
 जब छैं सबनी बोझिये वे गरबीछे बैन ।
 जब छगि तुम निरछे नही भोगनाथ के मैन ॥ ६९६ ॥
 दुरग अरव ऐराक के मनि आमरन अनूप ।
 भोगनाथ सों भीछ छै मय मिसारी भूप ॥ ६९७ ॥
 भोगनाथ मरनाथ की रीझ्यो लीझ अनूप ।
 होत मिसारी भूप है, भूप मिसारी रूप ॥ ६९८ ॥
 मुरझीधर गिरिधरन प्रभु, पीतांबर घनस्थाम ।
 बन्धी बिदारम कंस अरि, चोर हरन अमिराम ॥ ६९९ ॥
 पीत शङ्खुछिया पहिरि के जाल छकुटिबा हाथ ।
 भूरि मेरे लेखत रहे ब्रजवासिन ब्रजमाय ॥ ७०० ॥

आशुर्वाद और प्रार्थना

तिरछी बितबनि स्थाम की छसति राधिका ओर ।
 भोगनाथ को बीझिये यह मनमुख बरबोर ॥ ७०१ ॥
 मेरी मति में राम है, कबि मेरे मतिराम ।
 बित मेरो आराम में, बित मेरे आराम ॥ ७०२ ॥

नामानुक्रमणिका

अ

अररापोर १३
अर्जुन १४
अनंग हर्ष २९
अरिस्त्यायि ३४
अमिनव गुप्त ३६, ४७, ४८, ४९
अनघविहारी पाण्डेय ७०, ७२, ७३, ७४
अमोघातिह उपाध्याय १०३
आर्यपात्र १३७
छात्र अकबर १३९ १४०, १४२, १५१
अमय हीरित १६३
अमरक २२९
महापत्नी अमन्त कुमारी २३५

आ

आर्यसू ११, १४
आनन्दवर्षन २२, ३०, ३८, ४१, ४२, ४६,
९५
आत्म ९०

इ

इन्दुमती १३
इन्दु २०, २२८

ए

एकन २१
उर्मट ४३, ४७, ४८, ९६
राजा उपाध्याय १०१, १३६, १५०, १५२,
१५३, २०२
उदित नायकन सिंह २३७

ओ

ओम्पकाय ९४, १०१, १०४, २१७, २१८,
२१९, २२३, २२५

औ

औरंगजेब १४१, १४३, १४४, १५२, १५७,
२३५

क

कविस ४
कालिदास ६, ७, १२, १३, १४, १५, १८,
२०, २३, २६, ५३, ६०, ९६
कुमारदास १६
रोमेन्द्र ४१, ४२, ४६
कमादि ४
कुन्तल २२, ३८, ४, ४३, ४६
कथर ५८, ५९, ६०, ७७, ७८, ७९, ९५,
९७, १४४, १६३, १६५, १६६,
१९१, १९२, १८८, १८९, १९०,
१९६, १९७, २०१, २०३, २१९,
२२०, २३१, २३३, २२४, २४३,
२६१, २७३, २७७, २८३

कृष्णदास ६०

कबीर ६८, १२८, २३६, २३९
कुमरति मित्र ८३, ९६, ९७, २२३
कर्मछटाट ९२

कनैठ ९५, ९७, १६२, १६४

कृपायाम ९४, ९७, १६३, १६४, १६५,
१८५, १८६, १८९, १९७

कृष्णविहारी मित्र १३, १४, १०७, १०८,
१०९, ११२, ११३, ११४,
१६५, १६९, १३२, १३४,
१३५, १३६, १३७, १३८,
१३९, १४०, १४१, १४४,
१४५, १४७, १५४, १५५,
१५६, १५७, १६९, १७२,
२०३, २०६, २७८

काटीरग १०५

कटोपध्याय, छत्रपति १०५

काटी मण्ड १३८

किशोरीदास गुप्त १५९

कस्तूरायन १९९

कौटिल्य १९९

कन्हयिजोया २२८

ख

खानभाभी अकबर खॉ १९१

ख

खैतम ४

खैतमनाथार्य ३१, ३२

खुम्बोमिन्व सिंह ३०

खेकुम्नाय ३०

खुमान मित्र ३०

खैय ८३, ९७

खोपा ९४

खिरबराह ९७

खैरीप्रसाद ९७

खार्सा-द-वासी १००, १०२

खिमर्वन १०१, १५२

खम्वारस १०५

खिमर १०३, ११५

खुलामन्मथी ११२

खोपीनाथ सिंह १३७, १४१

खडसिंह १४१

खाल कवि १९३

खर्मोचार्म १९९

खालनाथ २२८, २३१, २३२, २३४, २३७,

२३८, २४२,

ख

खानानन्द ९१, ९९

ख

खन्दबराई ३, ५४

खिराय २५

खैतन्य महाप्रभु ५०, २३१

खन्नीसार ३०

खण्डीराय ३८, २३१

खिन्तामणि ७९, ८०, ९५, ९७, १०१, १०५,

१०३, १४, १०५, १०७, १११,

११२, ११३, ११७, ११८, १३३,

१९०, २०१, २२२

खक्यमि १०३, ११५

खैरुल्लान १४०

खन्नामान १५७

ख

खवि सिंह ३८

खषाख १०१, १३३, १३७, १४१

ख

खकदेव ३२, ४४, ४५, ५१, ५३, ६८, १३९,

२०५, २२९, २२४, २३१

खायवी ५४, ५५, ५६, ७५, २३३

खोबराय ३, ३१

खगदायदास रत्नाकर ९४, २३५

खसमन्त सिंह ९५, ९७, २०१, २०२, २११

खटाईकर १०१, १०२, १०३, १०४, १०७,

११३, ११४, ११५, ११८

खनवाईकर १११

खिमनईकर काकि १०७, ११३

खमजाय १०५, ११४, २०१, २८२

खवाहरदास खडवैदी १०५

खहौगीर १३४, १२३, १४१, १४३, १५७,

१३५, २५०, २५१, २६२

खयसिंह १४१, २४५

खगदाय प्रसाद माधु १९९

खहौनभाय १९८

खैवर्धदा १९८

ख

खकुर ९१, ९२

ख

खकाकर ३, ४५, ३०, ८३, ८४, ९३, ९७,

१९५, १९६, १९७, २१, २२५,

२३१, २३२, २३२, २३८, २३९,

२८०, २८१

धामिनि ४, १११
 पुष्पदन्त ॥
 प्रतिहारिन्नु यम ४३, ४४
 पण्डितराज ब्रह्मराज ४७, १४
 पूज्यीयम ५७, ८९, ९३, ९३, २३७
 परमानन्द दास ६९
 प्रवीर यम ७७, २२१
 प्रतापणादि ८४, ९७ १३४, १९३
 पुष्प ९४
 प्रसाद दत्त १०५
 प्रभुदेवस मिश्र १३४, १९१
 प्रताप नारायण सिंह १९३,
 पतञ्जलि १९९
 वसतिह धर्मा, २३१, २३९

५६

पठह विह १०१, १५५

५७

कपदेव स्याम्नाय ६, ११ १३, १४, १८,
 २४, २५, २७, २८, ३०,
 ४१ ४२, ४३, १५९
 दास ६, ७, १०, २४, २५, २६, २७, २८,
 ३३ १००, २२९
 ब्रह्मदेव दास ४५, १०९, १२६, १३३,
 १६४, १९९, २११

विहारी ६, ११, ५९, ७३, ७४, ७५, ७६,
 ८५, ८८, १४७, १८६, १९३,
 २३५, २३४, २३७, २३६, २३८,
 २३९, २४२, २४४, २४५, २४७,
 २५२, २६३, २६४, २६६, २७२
 २७८

कुद १३

ब्रह्मासीदास ६०, ७३

बेनीमरीन ८९, ९६, ९७, १०१

बोपा ९१, ९२

बौदीदास ९३

ब्रह्म मिश्र ९५, ७, ११५, १६४

बाळकृष्ण ९३

बालभाषार्य ५२

बेजनाय १०५

बिहारीलाल १०५, १११, ११३ १०६
 २३७, २५५

बलभद्र १०६,

बन्दीदत्त बाण्डेय १२३, १५२, १५३

बप्पेदास १३४

बराहनि १९९

बिहुर २३२

५८

भरभूति ७, २१

भाषि ७, १२, १४, १५, १६, १८, १९,
 २००

भट्टिस्वामी १५, १६, ४७, ४८, ५३

भाल २०

भरत मुनि २०, ३५, ३७, ३८, ३९, ४३,
 ९४, १५९, १८९

भौमसेन २१

भट्टनारायण २१

भोशराज २२, ३८

मर्तुहरि ३०, २२९

मर्गदय मिश्र ३४, ३५, ३६, ३७, ४०,
 १६७, १९२

महम्मद ३६, ३७

महम्मद ३६, ३७

मालुदास ३७, ९४, १६२, १६३, १८६, १८९

माधव ३८, ३९, ४३, ४४, ४५, ४७, ९४,
 १००

माध ७२, १४०, १४१, १६९

भूराज ८०, ८१, ९७, १०७, १०१, १०२,

१०३, १४, १०५, ० ७, १०८,

११०, १११, ११२, ११३, ११४,

११६, ११८, १२५, १२४, १४१,

१५०, १६१, १६२, २०३, २०४,

२३२, २३३ २३२

मिखाय्यास ८२, ८३, ९३, ९७, ११४,
११५, २२५, २७९, २८०

माकसिंह १०१, १०३, १२२, १३०, १३२,
१३३, १३४, १३५, १३६, १३७,
१३८, १४१, १४२, १४३, १४४,
१४७, १४८, २०२, २०३, २३३

मामीरप मराह बीरिय १०२, १०६, १०८,
१०९, ११०, ११२,
११५, ११७, १४३,
१५४, १५६, १५७

मवानीरुकर ग्राहिक ११३, १२५, १४५,
१४६

मोनाय १२३, २३३

मोयनाय १४३, १४७, १४८, १४९

मोन्सिंह १३७

मम्बानरास १३९

मेमरसी १९९

मीष्मपितामह २३३

म

मठियम ७५, ७६, ७८, ८३, ८५, ९५,
९७, ९९, १००, १०१, १०२,
१०३, १०४, १०५, १०६, १०७,
१०८, १०९, ११०, १११, ११२,
११३, ११४, ११५, ११६, ११७,
११८, ११९, १२०, १२१, १२२,
१२३, १२४, १२५, १२६, १२७,
१२८, १२९, १३०, १३१, १३२,
१३३, १३४, १३५, १३६, १३७,
१३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३,
१४४, १४५, १४६, १४७, १४८,
१४९, १५०, १५१, १५२, १५३,
१५४, १५५, १५६, १५७, १५८,
१५९, १६०, १६१, १६२, १६३,
१६४, १६५, १६६, १६७, १६८,
१६९, १७०, १७१, १७२, १७३,
१७४, १७५, १७६, १७७, १७८,
१७९, १८०, १८१, १८२, १८३,
१८४, १८५, १८६, १८७, १८८,
१८९, १९०, १९१, १९२, १९३,
१९४, १९५, १९६, १९७, १९८,
२००, २०१, २०२, २०३, २०४,

२०५, २०६, २०७, २०८, २१२,
२१५, २१६, २१७, २१८, २१९,
२२०, २२१, २२२, २२३, २२४,
२२५, २२६, २२७, २२८, २२९,
२३०, २३१, २३२, २३३, २३४,
२३५, २३६, २३७, २३८, २३९,
२४०, २४१, २४२, २४३, २४४,
२४५, २४६, २४७, २४८, २४९,
२५०, २५१, २५२, २५३, २५४,
२५५, २५६, २५७, २५८, २५९,
२६०, २६१, २६२, २६३, २६४,
२६५, २६६, २६७, २६८, २६९,
२७०, २७१, २७२, २७३, २७४,
२७५, २७६, २७७, २७८, २७९,
२८०, २८१, २८२, २८४

माघ १२, १३, १७, १८, १९, ५३, ७२,
२०

मातुचेर १३, १४

मम्मर २२, ३८, ४१, ४४, ४६, ४८, ९५,
२०७

मुपरि २३

मूकट ३९

मेवासिन ४३

महावीर मराह द्विवेदी ४६, ४९

मिलकन्तु ४६, ५०, १०९, १०४, १०७,
११०, १३०, १३२, १३३, १५२

मज्जसिन दास ६०, ६१, १५२

मुबारक ८७, ९७, २४७, २४८

मोहनदास बी मिम ९४, ९५, ९७, १५४

म

मनाहर ९७

मोहन दास ९७

मावावीर ग्राहिक १०७, १०८, १९,
११३, ११७, १२३,
२५१

मान सिंह १३९

महापत ली १४१

महन १५०, १५२

मिसर गवि १५२

मदनमोहन १५२
मधुलाहि १५७
मित्रलाहि १५७
मयूर कवि २२९

ख

कुम्हलीदास ५१, ५३, ५६, ५७, ५८, ६१,
६२, ६६, ६७, ८५, ८६, ९३,
१३२, २२८, २३९, २३३, २३४,
२३६, २४२, २४३, २४७, २७३,
२७६, २८३

लोपनिधि ९६, ९७

ख

ह-ही ७, २८, ३८, ४२, ४५, ४७, ४८,
९५, २००

रामकन्ती १९

श्रीपदी २१

देवीदस ६०

राजू ६८

रेव ८१, ८२, ९६, ९७, १८५, १८९, १९०,
१९१, १९२, १९३, १९५, १९६, २३३,
२२४, २२५, २३१, २७८, २७९

कुविशर १०६

देवीप्रसाद ११२, १५४

कुण्डा ९२

दूत ९६, २२४, २२५

देवराज उपाध्याय १३१

राधिकाकोट १४१

घ

बन्धुकुमार बैन ३, ४

बनराज २८

बनोदति ४३

न

नरपति नास ९६

मारद १३, १६

ज १९

मयेन्द्र १८, ४०, ७४, ७५, ८३

मिथार्काचार्य ५०

नरपति ५४

नवम सिंह ६०

नन्दराज ६२, ६९, ९५, १६३, १६४, १६५,
१८७

नेत्राज ९०

नरसेद विगारी १०२

मन्दकुमार धर्मा ९७, ११२, ११६

नन्दकिशोर १०५

नान्दराम ब्रह्मद १२७

भूरभर्ता १२६

नायपय दास १३८

नवीन १९६

नन्द दास २५९, २६१

य

धुगलकिशोर १५३

वासकाचार्य १९९

र

रवीन्द्रनाथ टैगोर ३, ४

रामचन्द्र १२

राजगोपाल २२, २३, ३१, ३७, ३८

राधा ३२

रद्वट ३५, ३६, ३७, ८०, ४२, ४४, ४६

रामचन्द्र रास ४६, ४९, ५०, ५५, ६०,
६८, १०१, १०३, १०४, ११३,
१३७, १६३, १२७, २५३, २७१

रसक ४७

रामानुजाचार्य ५०

रामानन्द ५०

राधवानन्द ५०

रामपारीविह दिनकर ६२, १६०, १६१

राममनाद विगारी ६८

रवणानि ६९, ७०, ९०, २६२, १७८, १८३

राधहृष्य दास ६५

रहीम ८५, ८६, ९५, ९७, १४१, १६४,
१६५, १८८, २१०, २३३, २४३,
२४७, २४८, २४९, ३०, २५१,
२७४, २७७, २७८

रसमीन ८९, १९३, २९५
रसनिधि ८९, २३९, २४३, २४४, २४५,
२४६

रमुनाथ ९६, ९७, १९३
रवाकर त्रिपाठी ९८, १०४, १०६, ११३
रविनाथ १०४, १०५, १०६
रामदीन १०५, ११३
रामनरेश त्रिपाठी ११३, २३४
रतन सिंह १३१, १३७, १४१, १४३
राधाकृष्ण झा १२८
राव कुलसिंह १३२, १३३
राणा संजयसिंह १३८
राम सिंह २२८
रामचहाय २३७, २४५, २४६
राजेश्वर प्रसाद कल्लोही २७३

ख

कलकवि ६०, १४१
कौशिक ९७
कमाराम मेहता ११२
कमिष्ठ १९६
राजा कमिष्ठ २३२

ख

बाबलीकि ४, ६, ११, १२, १४, २०, ५७,
६०

बास्वतपन ६, ७, १९
बाघ ४, ६, ६२
बामनमह २८, ३८, ३९, ४०, ४५, ४७, ४८
विष्णुमिश्र ४
विष्णुमादिन ६
विष्णुनाथ ९०, ३७, ३८, ४६, ९५, १०६,
११५, २०७, २१९

बाबददा २२, १९९, २००

विष्णुनाथ प्रसाद मिश्र ५१, ७७, ७८, ८५,
९१, १०४, १०५,
१५२, १६०, १६३,
२२८, २३०, २३५,
२४७, २५८

विद्यापति ५३, ६७, ६८, ६९, १३२, २३१,
२८३

विष्णु ८९, २४५, २४६

विष्णुनितम्बा २३९

वीर सिंह १३७, १३८, १५७

बृन्द २३३, २३४

बेबीमाधव २३२

ख

बाबकर १४

बाब स्वामी १८

बाब २८

बाब ३६, ३७

बा० श्रीकृष्ण ४, ६, २२३

श्रीकृष्ण १३

श्रीहर्य १८, १९, ५३, ६, २००

शम्भूनाथ सिंह ५५, ५६

श्रीधर ६०

श्रीपति ८२, ९६, ९७, १९६

सेख १०

शिव सिंह ९४, १०१, ११३, ११४, १२४,
१३६

शम्भूनाथ सुखी १०१, १०३, ११३, १३६,
१५४

शम्भुसुन्दर दास १०२, १०७, २२७, २२९,
२३२, २३३, २३५, २३७

शिवानी १०२, १४३, १५०, १५२, २२२

शिवचहाय शिवारी १०४

श्रीराम १०५

शिवगुप्त १०५

शिवराज १०५

श्रुतिधर १०६, ११५

श्रीराम ११३

शाहबहा १४१, २३५, २८२

शिवकुमार गुप्ते १४५

शम्भा बी १५२, १५४, १५५

ग्रन्थानुक्रमविका

अ

- अनर्घराज ११
अमरशतक ३०, ३१, ५२
अभिप्राय ३२, ४६, ४७
अष्टकशतक ८७
अष्टाक्षरचन्द्रिका ९४
अष्टकाध्याय ९६
अष्टाक्षरचितामणि ९७
अष्टाक्षर चार ४३
अष्टाक्षर छन्द ४४
अष्टाक्षर रत्न ४५, १९९
अष्टाक्षर पञ्चाङ्गिका १११, १२४, १४९,
१५३, २०९
अंगदपंच १९३

आ

- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास ४, ६,
१२६
आर्यसत्तपथी ३१, ३२, २३०, २३२, २३३
आस-मन्दार जोषम् ३३
आध्यात्मरामायण ५१
आचार्य केसवदास ५९, १८८
आरहा रामायण ६०
आरहा महाभारत ६०

इ

- इक्षर रामचरित ११, ५१

क

- कुमारसम्भवम् १३, १८
काव्यप्रकाश ३६, ४०, ९५, २०७, २२५,
२३१
कामधन ६, ७, १९, १६१
किरावाकुंती १४, १५, १७
कूर्मचरित २३

- काव्यमयी २५, २६, २७, ३३, २००

- कुलकर्णामृत ३३
काव्यालंकार ३८, ४०, ४३
काव्यमीमांसा ३८
काव्यानुशासन ४१
काव्यादर्श ३९, ४३
कविकर्षण ४६
कवितावली ३१, ३३
केसवदन्तावली ७८
कमिषिया ७८, ९५, २०१, २२०, २२४
कविरत्नाकर ८७, ८८
कर्मामरण ९५, १३२
कुलकानन्द ९५, १३२, २०४, २१७, २२१,
२२४, २२५

- कविध्वज ९५
काव्य रत्नासन ९६, २२३, २२४
कुशल विमल ९६
काव्य सरोज ९६
काव्य निर्णय ९६, २२५
काव्य कलाकर ९६
कविकुल कंठाभरण ९६, २२४
काव्य विमल ९७
कवि श्रीति कव्यनिधि १०२, १०७
कुमार का हविहास १११, १२३, १५१,
१५२, १५३

- कविवर विहारी २३५

ख

- खुमानराजी ५४

ग

- गद्य चितामणि २८
गीतगोविंद ३२, ३३, १६९
गद्य संहिता ५१
गीतावली ३२, ३३

अन्धबली १२९

गधा सप्तछती २३१, २३२, २३३, २३४

घ

बंदी घटक ३३

बन्दाछोक ४४, ९५, ९६, १६२, २०४

२१७, २२१, २२५

बितामनि ४६

बम्पूरामायन ५१

बाबक्य नीति ५१

बंदी बरिज ६०

छ

छत्रप्रधाय ६०

छत्रताळ ८१

छन्दविचार ९५

छन्दोर्ग ०१

छन्दसार १ १, १०१, १२१, १४४, १५३,

१५४, १५६, १५८

ज

जालकीहरण १६

जयमाला ४७

जहाँगीरजय बन्धिका ५८

जैमिनी पुण्य १०

जम्मनामा १०

जहाँगीरनामा १०९, ११६, १४१

जगदिनी १९५, १९६

जम्मनखी नियम १९०

घ

मार्चन भारत का जयविनाद ५, ७२

मलप्रपत्र २३

पट्टिक ३४

पृथ्वीयय तला ५४

पणवत ५४, ५५

पदाभरण ९६

पयस्मी हाड़ावत ११९

पाठाक विजय १९०

पुण्य ६०१

फ

फूलमंदरी १०८, १०९, ११०, १२१, १२४,

१२५, १२७, १३०, १३१, १३४,

१५७, १६५

ब

बुद्धचरित १३

ब्रह्मरामायन ५१

बिहारी ५१, ७७, ९१, ११०, १६३, २२८,

२३५

बीरसदेव राखी ५४

बेकिचिचकनमिरी ५७, ९३

ब्रह्मविष्णु ६०

ब्रह्मपाषा का सारिस्व और इतिहास ६०

बाल्यमामय २३

बाल्यमारत २३

बंशमारत २२२

बिहारी सतसई १२९, १४८, १९६, २३४,

२३६

ब्रह्मसाक्षिण का मायिका मे १६४, १९१,

१९५

बिहारी की वाग्विम्ब २३

बिहारी की सतसई १३१

म

महिषासुर १५, १६, ४३

मामिनीविजय ३३

मामरत ५१, ६१

माषा मागवत ६०

माणा सप्तछती ६०

ममरगीत ६

भारत की विजय ७१

भारत नाट्यमाम ९४

भूमपुत्र ९५, ११२

माषामुपम ९५, १०१, १०२, १०४, १२१,

१६५

मामरिनाम ९६, १९१ २२३, २२४

मामिनीविजय ३३

भारतीभूषण ९७
भारतीय साहित्य-शास्त्र ४४, १५९
भूषण ग्रन्थावली ११६, १३४
भूषण (विष्णुनाथ प्र० मिश्र) १५२

झ

महादशावक ३१
महावीर चरित ३१, २२
मेघदूत १८
माधविकाग्निमित्र २०
माधवीमाधव २१
महामातल २७, ६०, १९९
मुकुन्दमाधव स्तोत्र ३३
मिथिलानु विनोद ४९, १०२, १०३, १०७,
१०८, ११०, ११६, ११९,
१२४, १३०, १३३, १३६,
१३७, १५२, १५४

मध्यकालीन भारत ७०, ७२, ७३, ७४
महिराम छतर्वा १३, ११०, १२३, १३४,
१४४, १४५, १४८, १५७,
१६६, २०३, २२६, २३६
महिराम प्रयागवली १०३, ११४, ११६, १२९,
१३२, १३४, १३५, १३६,
१३७, १३८, १३९, १४०,
१४१, १४२, १४४, १४५,
१५०, १५४, १५५, १५६,
१५७

मनोहर प्रकाश १३४
मूकचरित २३३

च

चापल बलराज २२
चित्रेष्टी ५५
चक्रवीराज बीर कनका युग ६३
चिखवातक ८७
चक्रधरप्रवर्ग भाषाद ११८
चक्रवी छतर्वा १३३, २३४

च

चक्रकुमार चरित २८
चुर्चो छतर्वा २३३

छ

छान्दावली २२, ४१, ४२, २३१

ज

जैयमचरित ७, १८, १९, ६०
जैमि भूषणचरित २३
जीतिघातक ३०
जायवासा ३५, ३६, ३८, ३९, ४२
जन्मशिल्प ९६
जन्मचरित १६, १९६
जानायाजमकाश १६
जन्मदास ग्रन्थावली १६३, १६४

ट

टकावली २१
टवीन्द्र साहित्य ३, ४
टमावली ११, १२, २१, २४, २५, १९९
टमुर्वा १२, १३, २३
टमक-वध १५
टिखरि ३४
टखर्याधर ४७, ९४
टमचरित मानव ५१, ५२, ५३, ५७, १३१
टमचरिका ५२, ५८, ५९, ६०, ७७
टमावलीमेघ ६०, ६१
टीलिकावली की युमिका ७३, ७४, ७५
टखराज ७६, १०१, १०२, १०३, ११०,
११५, ११९, १२४, १२७, १२८,
१२९, १३०, १३१, १३२, १३३,
१३४, १३५, १४४, १४७, १४९,
१५५, १५७, १६५, १६६, १६७,
१६८, १८५, १८६, १८७, १८९,
१९५, १९६, १९७, १९८, २०२,
२०३, २३३
टलिकावली ७८, ७९, ९५, १३१, १६५,
१८८, १८९, १९१

रामसतसई ८९

रामभूषण ९४

रत्नमंजरी (कृपायाम्) ९५, १५३

रत्नमंजरी (मानुसक कृत) ९५, १५३, १८९

॥ (नन्ददास) १५४, १८७

रसरहस्य ९६

रसरतन ९६

रसरत्नमाळ ९६

रत्नदीप्यनिधि ९६, १९४

रत्निकमोहन ९६

रत्नविम्वाल ९७

रत्नचन्द्रिका १०५, ११५

रत्नचन्द्रिका (टीका) १११, ११४

रत्नराज (टीका) १११

रत्नान्तिक साहित्य शास्त्र १११

रत्नराजसिद्धि ११४

रत्नरंगिणी ११३

रत्नप्रबोध ११३

क

कामीसहस्र ११३

कालिदाससम १०२, १०३, ११०, ११५,

११९, १२१, १२४, १३०,

१३१, १३२, १३३, १३४,

१३५, १३६, १३७, १३८,

१४१, १४२, १४३, १४४,

१४७, १४८, १४९, १५४,

१५७, १५९, २००, २०१,

२०२, २०३, २०४, २०५,

२०६, २०७, २०८, २०९,

२१०, २११, २१२, २१३,

२१४, २१५, २१६, २१७,

२१८, २१९, २२०, २२१,

२२२, २२३, २२४, २२५

कामधर्मगार १०३ १२४, १५५

ख

खिन्नीरंजय २०

खेदीनहा २०

विद्वत्साधर्मिका २३

वासवन्ता २४, २५, २०

वायुपुराण २७

वैराम्यघटक ३०

वे- ३०

वैष्णवोत्तय ३३

वैष्णवोत्तय ४०, ४३

वास्मीकि रामायण ५१ ७७

वीरदेय विह्वल ५८

विद्वत्समुदायनी ६०

वैताळपचोरी ६७

विनयपत्रिका ६९

विद्यापति पदावली ६९

विद्यानग ता ७८

विरुद्ध सतसई ७९, १ १, ११

वीर सतसई ९६

वैष्णवोत्तय ११, ११७, ११८ ११९ १२२

वैष्णवोत्तय ११

वृत्तकानुगी १०६, १०७ ११० ११२, ११५

११६, ११७, ११८, ११९, १२०

१२०, १२८

वीरदेयरी विद्यानी ११९

वैष्णवोत्तय कौमुदी १ ६

—

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

विद्यानग वप १६ १७, १८

११५, ११७, ११८, ११९,
१२४, १३०, १३३, १५०,
१५१, १५२, १५३

भगवद्गीता २८

भृंगार्यकाव्य १८९

संस्कृत साहित्य का इतिहास ३, १२, १३,
२४, २५, २७,
२८, ४१, ४२,
४३

चान्दरनन्दन १३

सूर्यसूक्त ३३

चौन्दर्यकाव्य ३३

सोत्ररत्न ३३

साहित्य दर्पण ३७, ९५, १८८, २०५, २०७,
२१७

साहित्य का मर्म ४३

सुसमा ५१, ६३, ६९, ६५, ६९, १६३,
१६४, १८३

सुमान चरित्र ६०

संस्कृत के चार व्यास ६२

सूर और उनकी साहित्य ६२, ६५

साहित्य काव्य ६३, १६३, १८७

सुमानिधि ९३, १९३

सुमान किनोद ९६

संक्षिप्त हिन्दी नवराज १०३, १०७

साहित्यसार ११४, १५५

सप्तसर्ग छन्द २२७, २२८, २३२, २३३,
२३५

सरस्वती कण्ठमरम्ब २३१

सुसमायत-सर्ग ९३, १९१

साहित्य सुधाकर ९७

साहित्यसार १०३

ह

हनुमानटक २३, २४, ५१, ५२

हरिवंश २४

हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास ३४, ३५, ३६,
३७, ४०, २९२

हिन्दी साहित्य का इतिहास ४९, ५०, ६,
६८, १०३,
१०७, १११,
११३, ११५,
११९, २२७

हिन्दी महाकाव्य का स्वल्प विकास ५५, ५६

हम्मीर-राज ६०, ६१

हम्मीर-रत्न ६०

हिन्दी साहित्य ६५, १०३, १०७, १०८,
११३, ११९, २२९, २३४

हिवहरिवंश चौपटी ६९

हिम्मत बहादुर विस्वाकर्षी ८४

हित-चरित्र ९४, १६३, १८५, १८६, १९७

हिन्दी व्यंग्यकार साहित्य ९४, २, १, २०४,
२१३, २१७, २१८,
२१९, २२३, २२५

हिन्दी नवराज १०९, १०८, १२२, १२४,
१३०, १३६, १३७

हिन्दी सा० का प्रथम इ० १०७, १५२

इतिहास हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त
विवरण १ ८

हिन्दवी का इतिहास १२४

हिन्दी इतिहास पुस्तकों की
सूची-विषय १३६, १४४

हिन्दी रीति साहित्य १३७

हिन्दी साहित्य का व्याकरण २२८

हिन्दी साहित्य की भूमिका २३०, २३१

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत ग्रन्थ

- अमरक शतक—अमरक—सं० श्रीहरीचर नाथ मह, संवत् १९७१ वि
 अनर्घराघव, सुरारि
 आर्यावतघोषी,—गोवर्धनाचार्य, काव्यमाळा विरीत, सन् १८९५ ई
 अम्बमीमाता, राजसेखर—विहार राय माया, पटना, प्र० अ
 काव्यप्रकाश, मम्मट—सं० डा० सत्यभक्त सिंह, सन् १९५५ ई०
 काव्यादर्श, भामह
 कविकण्ठामरक, शेमेन्द्र
 गीतगोविन्द, जयदेव
 काव्यालंकार सूत्र, वामन—सं० डा० नगेन्द्र, प्र० सं०
 कामरुप, वात्स्यायन—प्र० भा०, प्र० कल्याण कर्कर, सम्पत् १९९१
 काम्यवरी, वायमह
 किरतापुनीवन्, मारुति—श्रीकल्या-संस्कृत विरीत, सन् १९५२ ई
 चन्द्रावली, जयदेव
 चन्द्रालोक, आनन्दचर्दन—सं० डा० नगेन्द्र, प्र० सं०
 नाट्यशास्त्र, भरतमुनि—काव्यमाळा विरीत सन् १९४१ ई०
 नैषध चरित, भीमर्ष—श्रीकल्या संस्कृत विरीत, सन् १९५४ ई०
 शास्त्र समायन, राजगोपाल
 महावीरचरित, मयभूति
 रत्नाम्बो, हर्षचर्दन
 रघुदश, वाल्मीकि—वाल्मीकि काव्यालंकार, विरचित, काशी, प्र० स
 रामायन, वाल्मीकि
 रसगीतप्रवर, वैदित्यराय जगन्नाथ—काव्यमाळा विरीत, सन् १९१८ ई
 वैराग्य शतक, मर्तुहरि
 विक्रमार्णवा वाल्मीकि—वाल्मीकि काव्यालंकार, विरचित, काशी, प्र० स
 प्रमन्न गणपति,
 काव्यप्रकाश, विरचनाय—विमलादवा, द्वि० ग
 विष्णुसहस्रनाम—श्रीकल्या विरीत मयन, सन् १९५२ ई
 रामायण, वाल्मीकि—वाल्मीकि काव्यालंकार, विरचित, काशी, प्र० स
 हनुमान्नाटक हनुमान
 दिग्विजय चरित—सं० डा० नगेन्द्र, प्र० स

हिन्दी भण्ड

- अस्फुर रत्न, ब्रह्मरक्षास—प्र० सं०
 आधुनिक हिन्दी
 साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्ण काठ—पु० सं०
 आचार्य केदारदास, डा० हीराधर दीक्षित—प्र० सं०
 कविधर्मि कव्यनिधि, नरकेश्वर तिवारी—प्र० सं०
 कविवर विहारी, जगन्नाथदास रत्नाकर—प्र० सं०
 कुमारूँ का इतिहास, बन्नीदत्त पत्रिक—प्र० सं०
 कविप्रिया, केदारदास—सं० साक्ष्य भगवानदीन, लखन १९८२ वि
 कविकल्पतरु, चिन्तामणि
 काव्यनिर्णय, मिश्रादीदास
 कविच रत्नाकर, सेनापति
 केदार प्रत्यावली, काव्य १, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्र० सं०
 गोस्वामी दुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—प्र० सं०
 गीतावली, दुलसीदास
 विष्णुमणि (भाग १, २) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—प्र० सं०
 बहोदर का व्याख्यानचरित, अतु० ब्रह्मरक्षास—प्र० सं०
 दुलसीदास और कनक युग, डा० राजपति दीक्षित—प्र० सं०
 प्राचीन भारत का कला विकास, डा० इबारी प्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०
 प्राचीन भारत की जनता और संस्कृति, मेनीप्रसाद वाजपेयी
 पद्ममरण, पद्माकर
 पद्माकर पंचामृत, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
 पूष्पीराज रासो चन्द्रकराजी,
 ब्रह्मपासा साहित्य का
 नाविक भेद, प्रभुबहास मिश्र
 विहारी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्र० सं०
 विहारी की वाणिम्युति, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्र० सं०
 बरने नाविकभेद, रबीम खानखाना
 बीर कलकरी, सूर्यमल्ल
 बैलिङ्गल कविमनी री पूष्पीराज सिंह
 मयानी विष्णु, देव
 माधु विष्णु, देव
 भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डा० नरोन्—प्र० सं०
 भारतीय साहित्यशास्त्र, ९० कव्येव उपाध्याय—प्र० सं०, पु० सं०
 भारत का इतिहास (भाग २) कल्पनेशु विद्याधर—प्र० सं०
 माया भूषण, बचनत सिंह

भारत की विजयवा, रायकृष्ण दास—प्र० सं०

भूपक, सं० विरचनाय प्रसाद मिश्र—प्र० सं०

भूपक ग्रन्थावली, सं० रामनरेश त्रिपाठी—प्र० सं०

मठियाम ग्रन्थावली, सं० कृष्णविहारी मिश्र—प्र० सं०

महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० रामभूनाथ सिंह—प्र० सं०

ग्रन्थालयीन भारत, डा० अरविबिहारी पांडेय—प्र० सं०

✓ मिश्रकन्धु विनोद (भाग २) मिश्रकन्धु—हि० सं०

रत्न मंत्राली, नंददास

रतिचमिवा, केदावदास

रहीम रसावली, सं० मायाचंकर माहिक—प्र० सं०

रामचन्द्रिका, केदावदास

रीतिग्रन्थ की भूमिका, डा० मंगन्द्र—प्र० सं०

रामाष्टिक साहित्य शारंग, डा० देवराज ठापापाय—प्र० सं०

विद्यन गीता, केदावदास

विद्यापति पदावली, सं० रामचंद्र बनौपुरी—प्र० सं०

✓ रामदासचरण, देव

शिव्य कथा, नंददास धनु—प्र० सं०

✓ चित्तविह 'संज्ञा' विषयविह संज्ञा—प्र० सं०

सतसई सतस, सं० रामचन्द्रदास

संस्कृति या चार अभ्यास, रामचारी सिंह शिन्कर—प्र० सं०

सांस्कृतिक भारत, मंगलदास ठापापाय

संस्कृत साहित्य का इतिहास, दत्तचंद्र ठापापाय—प्र० सं०

साहित्य का मर्म, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०

एर सागर, सं० नंदकुमारे बाबूदेवी, ना० प्र० समा, काशी

एर भीर ठापा साहित्य, डा० हरिचंद्रदास—प्र० सं०

शृंगार निर्देश, मिनाचरीदास

हमारा नाम साहित्य, प्र० रामनरेश त्रिपाठी—प्र० सं०

दिव्य तरंगिणी, कृपाचरण

✓ हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र दास—ना० प्र० सं० सं० २००१

हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०

हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०

हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा० मंगलदास मिश्र—प्र० सं०

हिन्दी रीति साहित्य, डा० मंगलदास मिश्र—प्र० सं०

हिन्दी नवग्रह (संक्षिप्त) मिश्रकन्धु—प्र० सं० , प्र० सं०

हिन्दी साहित्य का आदिमकाल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—प्र० सं०

हिन्दी का प्रथम इतिहास, डा० शारदाचरण, धनु का विद्यापीठ प्रकाशन प्र० सं०

हिन्दुई साहित्य का इतिहास, भाग १ तारी, अठ्ठ० अ० अमरी सागर बाबू—
प्र० सं०

हिन्दी अक्षरकार साहित्य, श्रीमद्वारा—प्र० सं०

हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, अयोध्या सिंह ठपाप्याय 'हरिऔध'—हि० सं०

अंग्रेजी ग्रन्थ

सम कन्सेप्स ऑफ द अक्षरकार शास्त्र, डी० राबन्सन, प्र० सं०

नामक नामिन्स मेन्, डा० राबेरा ह्युस, (अग्रकाशित)

हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, एस० जे० जे०, प्र० सं०

इन्ट्रोडक्शन टु साहित्य इपेक, पी० बी० कावे—प्र० सं०

स्पार्स ऑफ ई०डवा, संतोष कुमार पटवर्दी—प्र० सं०

पत्र-पत्रिकाएँ

मासुरी, सं० कमनारायण पंडित, कुमाई, १९२४ ई०

सरस्वती, सं० प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, कुमाई

भाग २१, खंड २।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० १९८०

हिन्दी खोज रिपोर्ट, नागरीप्रचारिणी समा, काशी,

सन् १९००, १९०१, १९०३, १९०५-१९०६, १९०९-१९११,

१९१२, १९१३, १९१४, १९२३, १९२४, १९२५।



